ब्रजजीवन आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला-7

पदार्थ-विज्ञान

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्,
नई दिल्ली द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत

रविदत्त त्रिपाठी

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन आयुर्विज्ञान ग्रन्थमाला

७

पदार्थ-विज्ञान

(भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली
द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत)

लेखक

डॉ० रविदत्त त्रिपाठी

बी० ए० एम० एम० एस०, डी० एवाई० एम०, पी-एच्० डी०

प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक

राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय

डीन : आयुर्वेद संकाय,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

दिल्ली ११०००७

प्रकाशक

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

३८ यू. ए., बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : ३९५६३९१

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

पुनर्मुद्रित संस्करण 2003 ई.

मूल्य 125.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

समर्पण

पूज्य पितृदेव स्वर्गीय पं० चन्द्रदत्त त्रिपाठी, आयुर्वेदशास्त्राचार्य
भूतपूर्व क्षेत्रीय आयुर्वेद अधिकारी, उत्तर प्रदेश
जिनकी कृपा से मुझे आयुर्वेद का ज्ञान
प्राप्त हुआ और जो मुझे जागरूक
रहने की निरन्तर प्रेरणा देते
रहे, को सादर
समर्पित।

*

रविदत्त त्रिपाठी

सम्मति

आयुर्वेद संसार का न केवल प्राचीनतम चिकित्सा विज्ञान है, अपितु वह विज्ञान के साथ-साथ जीवन का दर्शन भी है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य एवं योग आदि दर्शन यद्यपि आयुर्वेद के प्रमुख आधार माने जाते हैं, किन्तु प्रतिपाद्य विषयों में आयुर्वेद का स्वतन्त्र दृष्टिकोण भी है। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि को भलीभाँति समझे बिना आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन कठिन है। अतएव आयुर्वेद महाविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में मौलिक सिद्धान्त के रूप में पदार्थ-विज्ञान विषय का भी समावेश किया गया है।

पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन के लिए भारतीय वाङ्मय विशेषकर आस्तिक-नास्तिक दर्शनों की विचारधाराओं एवं परम्पराओं का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इस विषय पर यद्यपि संस्कृत, हिन्दी तथा कुछ क्षेत्रीय भाषाओं में कतिपय पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर लिखी गई है और अन्त में कुछ प्रश्न भी दिये गये हैं। अतः यह पुस्तक इस विषय के अध्यापकों एवं छात्रों के लिए अधिक उपयोगी है।

पुस्तक के लेखक डॉ० रविदत्त त्रिपाठी एक सुयोग्य और अपने विषय के बहुश्रुत अधिकारी विद्वान् हैं। ऐसी उपयोगी पुस्तक लिखने के लिए डॉ० त्रिपाठी प्रशंसा के पात्र हैं। मेरा विश्वास है कि पाठ्यग्रन्थ के रूप में डॉ० रविदत्त त्रिपाठी द्वारा लिखित इस 'पदार्थ-विज्ञान' का आयुर्वेद जगत् में पर्याप्त समादर होगा।

डा० मुकुन्दीलाल द्विवेदी

भूतपूर्व { निदेशक, आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएँ, उ० प्र०
कुलपति, गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर

प्रस्तावना

आयुर्वेद चिकित्सा-विज्ञान जो कि मानव के स्वास्थ्य-संरक्षण के साथ-साथ व्यापक रूप से उसके जीवन के आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक एवं सामाजिक पक्षों से सम्बन्धित है, का भारतीय दर्शनों से मूल रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जीवन-दर्शन को मौलिक रूप से प्रतिपादित करने की चेष्टा प्रारम्भ से ही आयुर्वेद के मनीषियों की रही है। फलतः भारतीय दर्शनों की विभिन्न धाराओं के व्यावहारिक पक्षों को आत्मसात् करते हुए आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों ने दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वयात्मक रूप से प्रतिपादन किया है, जिसे आयुर्वेद-दर्शन कहा जा सकता है। आयुर्वेद शारीर एवं दोष, धातु, मल विज्ञान के सिद्धान्त मूलतः त्रिगुण, पञ्चमहाभूत तथा लोक और पुरुष की साम्यता पर आधारित हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आयुर्वेद ने अपने आधारभूत सिद्धान्त सांख्य एवं योग तथा व्यावहारिक सिद्धान्त न्याय एवं वैशेषिक दर्शन पर आधारित किये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य दार्शनिक विचारधाराओं को भी आवश्यकतानुसार ग्रहण किया गया है।

आयुर्वेद ने इन दर्शनों के सिद्धान्तों को जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र एवं चिकित्सा में उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए ही संशोधित एवं परिमार्जित कर ग्रहण किये हैं। सुश्रुतसंहिता में प्रकृति (आदि कारण) के सन्दर्भ में जिन विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उनसे यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद के महर्षियों ने व्यावहारिकता को दृष्टि में रखते हुए सभी दर्शनों के सिद्धान्तों को समन्वयात्मक रूप से प्रतिपादित किया है।

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः।

अतएव आयुर्वेद-विज्ञान की कार्य-पद्धति को दृष्टि में रखते हुए छात्रों को भारतीय दर्शनों के व्यावहारिक पक्ष का अध्ययन कराया जाना अत्यावश्यक है, जिससे कि आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों को समझने में छात्रों को कठिनाई न हो।

डॉ० रविदत्त त्रिपाठी, जो कि इस विषय के अनुभवी, सफल एवं सुयोग्य अध्यापक हैं, प्रस्तुत ग्रंथ में पदार्थ-विज्ञान (मौलिक सिद्धान्त) के क्लिष्ट एवं गूढ़ विषयों को सरल भाषा में आयुर्वेद के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए छात्रोपयोगी शैली में प्रतिपादित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया

है। श्री त्रिपाठी ने अपनी इस पुस्तक में केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् द्वारा निर्धारित सभी विषयों को यथास्थान समाविष्ट किया है। ऐसे अनेक अध्याय, जो कि पदार्थ-विज्ञान की अन्य-प्रचलित पुस्तकों में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में समाविष्ट हैं, का भी विस्तृत रूप से विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। पुस्तक के अन्त में इस विषय से सम्बन्धित प्रश्नों का भी उल्लेख किया है, जिससे पुस्तक छात्रों के लिए अधिक उपयोगी होगी। मुझे विश्वास है कि ऐसा उत्तम ग्रन्थ देश में आयुर्वेद महाविद्यालयों के अध्यापकों एवं छात्रों दोनों के लिए लाभप्रद सिद्ध होगा।

डा० सत्यपाल गुप्त

भूतपूर्व { निदेशक, आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएँ, उ० प्र०
अध्यक्ष, आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी, उ० प्र०,
लखनऊ

दो शब्द

डॉ० रविदत्त त्रिपाठी कृत 'पदार्थ-विज्ञान' (तृतीय संस्करण) ग्रन्थ का आद्योपान्त अवलोकन किया। यह ग्रन्थ कुल उन्नीस अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में आयुर्वेदीय दर्शन के व्यावहारिक पक्ष की प्रतिस्थापना को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है, जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। इतने अल्प समय में तीन-तीन संस्करणों का होना, भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् नई दिल्ली द्वारा पाठ्यक्रम में स्वीकृत होना तथा आयुर्वेदीय एवं तिब्बी अकादमी उत्तर प्रदेश, लखनऊ द्वारा प्रथम पुरस्कार से सम्मानित होना इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता का द्योतक है।

मुझे आशा है इस पुस्तक के अध्ययन से छात्र, अध्यापक, चिकित्सक एवं अनुसन्धानकर्त्ता लाभान्वित होंगें। इस ग्रन्थ के लेखक को ईश्वर इस प्रकार की शक्ति प्रदान करें, जो अपनी कृतियों से आयुर्वेद-जगत् की श्रीवृद्धि करता रहे।

२६ मार्च १९९१

डॉ० शिवराज सिंह
निदेशक, आयुर्वेद एवं यूनानी सेवाएँ, उ० प्र०
अध्यक्ष, आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

भूमिका

प्रत्येक मनुष्य अपने को चेतन एवं ज्ञानवान् मानता है, परन्तु अपने को देह से भिन्न नहीं समझता। चेतना और शरीर की परस्पर ग्रन्थि को सुलझाने में ही सब प्रयास किये गये हैं। अपने को शरीर मानकर ही मनुष्य मृत्यु, भय, दुःख आदि से पीड़ित समझता है। चेतना को शरीर से पृथक् करके अनुभव करना शुद्ध अनुभव माना जाता है। विश्व की सबसे पुरानी कृतियाँ वेद, यद्यपि कुछ दूर तक सामाजिक और आर्थिक विषयों पर भी प्रकाश डालती हैं, परन्तु उनकी अन्तिम परिणति अनुभूति की पराकाष्ठा का वेदान्त में ही पर्यवसान होता है। वैदिक विचारधाराओं के समानान्तर ही अन्य विचारधाराएँ भी संसार में चलती रही हैं। आधुनिक सभ्यता और विज्ञान की पृष्ठभूमि में, जिन्होने ज्ञानार्जन किया है, वे लोग ग्रीक विचारधारा से प्रभावित होकर वेदान्त की प्रामाणिकता को भो आधुनिक विज्ञान और विदेशी विद्वानों के माध्यम से जानना चाहते हैं, जो एक अवांछनीय प्रयास है। वेदों में उल्लिखित दार्शनिक तत्त्व और वेदान्त की अनुभूतियाँ अपने शरीर को प्रयोगशाला बनाकर तप-योग आदि के माध्यम से प्राप्त होती है[1]। बिना इन उपायों के वेदान्त का सही ज्ञान नहीं प्राप्त होता। ईश्वर, गुरु, देवता, आदि तत्त्व इस ज्ञान में कितने सहायक होते हैं, यह बात व्यक्ति की निजी श्रद्धा पर अवलम्बित होती है। विदेशी विद्वान् वेदों को एक पुस्तक मानकर उस पर ऊहापोह करके जिन निर्णयों पर पहुँचते है, वह वेदान्त की अनुभूति से कहीं दूर है। वेदान्त की अन्तिम अनुभूति मनुष्य को सर्वदा के लिए मौन एवं शान्त कर देती है। वेदों से निकले हुए तत्त्वों को पहले आध्यात्मिक रूप से देखना चाहिए, फिर बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष करना चाहिए, तत्पश्चात् अन्दर-बाहर एक रस होकर स्थित होना चाहिए—

तत्त्वम् आध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः।
तत्त्वीभूतः तदारामः तत्त्वाद् अप्रच्युतो भवेत्॥
(माण्डूक्यकारिका)

---

१. स्वदेहम् अरणीं कृत्वा प्रणवं च उत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येत् निगूढवत्॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् १।१४)

यदि बाह्यजगत् में प्रत्यक्ष किये हुए तत्त्वों को मनुष्य अपने अन्दर प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, उस अवस्था में उस वैज्ञानिक का व्यक्तित्व उदात्त नहीं हो सकता। तत्त्वों को केवल अन्तर्जगत् में अनुभूत करके मुक्त एवं मौन तो हुआ जा सकता है, परन्तु आचार्य बनने के लिए बहिर्जगत् में रहने वाले माध्यम का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह माध्यम जितना ही शुद्ध एवं असंदिग्ध होगा, शिक्षण उतना ही संशय रहित होगा।

ग्रीक विचारधारा, जो कि प्रधान रूप से बाह्य जगत् के अनुशीलन को प्रमुखता देती है, अपने शुद्धतम रूप में गणित पर आश्रित है। अंकगणित, बीजगणित एवं ज्यामिति के शुद्ध और व्यावहारिक विज्ञान को लेकर भौतिक शास्त्र आगे बढ़ा और प्रयोगशालाओं में उन निष्कर्षों की पुनरावृत्ति की गयी। गणित अपने शुद्धतम रूप में एक मानसिक ऊहापोह की प्रक्रिया है। भारतीयों ने इस ऊहापोह की प्रक्रिया को शब्दों के माध्यम से आगे बढ़ाया और इसको आधार मानकर सांख्य-न्याय-वैशेषिक एवं वैयाकरण दर्शन आदि विचारधाराएँ निकली। चूँकि भाषा शब्द या पद के समूह से ही बनती है, इसलिए किसी शब्द या पद का निस्संदिग्ध अर्थ क्या होगा और किस प्रकार उसे व्यवहार में लाया जा सकता है, यह एक प्रणाली व्यावहारिक आवश्यकता के कारण पृथक् रूप से स्वीकार कर ली गयी। आयुर्वेद एक दृष्टिशास्त्र है, औषध सेवन से आरोग्य-लाभ होता ही है, इस दृष्टि से आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के लिए 'पदार्थ-विज्ञान' जैसा विषय पृथक् रूप से एकत्रित किया गया। उन्नीसवी शताब्दी तक आयुर्वेद कुछ पुस्तकों के माध्यम से ही जाना जाता था, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते आयुर्वेद की शिक्षा का स्वरूप बदला, उसमें उन विषयों का भी समावेश होने लगा, जो ग्रीक परम्परा से प्राप्त होकर बीसवीं शताब्दी के दरवाजे पर खड़ा था। डार्विन का 'विकासवाद का सिद्धान्त', फ्रॉयड का 'मनोविश्लेषण' एवं पाश्चात्य दार्शनिकों का 'चेतन-अचेतन का विवाद' बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते-होते तर्क प्रणाली को छोड़कर प्रयोगशाला (Experimental Methedology) की विधियों पर परीक्षित किया जाने लगा। १९०५ में आइन्स्टीन ने अपना पहला पत्र 'सापेक्षवाद' (Theory of Relativelity) प्रस्तुत किया और सापेक्षवाद के सिद्धान्त के आधार पर कुछ वर्षों में ही प्रयोगविधियों के आधार पर उस सिद्धान्त की पुष्टि हो गयी। 'सापेक्षवाद' के सिद्धान्त ने ग्रीक परम्परा में दीक्षित वैज्ञानिकों को भी मूर्त्त एवं अमूर्त्त तथा जड़ एवं चेतन के भेद को एकांगी रूप से स्वीकार करने के लिए उद्वेलित किया। आज का विज्ञान भी उस बिन्दु पर पहुँच गया है, जहाँ मानव की व्यक्तिगत चेतना को लगभग नष्ट जैसा कर दिया है। विश्वव्यापी शस्त्रों का प्रयोग

नशे की गोलियों का प्रयोग तथा उच्छृंखल रूप से मद्य एवं मैथुन का सेवन मानव की चेतना को नष्ट होने की स्थिति में पहुँचा दिया है। आइन्स्टीन ने अपने जीवन के अन्तिम समय में कहा था—I am not interested in spectrum of any element. I want to know how got things. और उसके मन में वेदना निम्नलिखित शब्दों से प्रकट होती है—The destiny of humanity is not written on stars. It is here on this earth planet. अर्थात् मानव का भविष्य इस भूमि पर है। ये आइन्स्टीन की उद्‌बुद्ध चेतना का परिणाम है कि वह अपने जीवन में मानवमात्र के कल्याण के बारे में चिन्तित था। वैदिक संस्कृति और उसके अन्तर्गत आने वाली उसकी चिकित्सा-प्रणाली आयुर्वेद मनुष्य की चेतना को उद्‌बुद्ध करने का एक सुनिश्चित उपाय है।

आयुर्वेद में दिये गये तथ्य मूल रूप से शरीर के अन्दर होने वाली अनुभूतियों पर आश्रित हैं। बाह्य जगत् में वे गौण रूप से माने गये हैं, अतएव वे उतने सुनिश्चित भी नहीं है। यही कारण है कि शल्य, एक्स-रे, रेडियम चिकित्सा इत्यादि आधुनिक चिकित्सा के दृष्ट उपाय बाह्य शरीर के लिए अधिक व्यवस्थित और सुनिश्चित हैं। मनुष्य की मूल चेतना को परिष्कृत करने में असमर्थ हैं। आयुर्वेद में भोजन, औषध या इन दृष्ट उपायों को स्वीकार करते हुए भी अपूर्ण माना है। पूर्ण स्वास्थ्य के लिए उसने जहाँ आहार को मुख्य माना है, वहाँ निद्रा एवं ब्रह्मचर्य को भी तुल्य-बल स्वीकार किया है। निद्रा के बारे में आधुनिक चिकित्सा और उसके उपाय दोष रहित नहीं है। सभी आधुनिक निद्राकर औषधियाँ मनुष्य की जीने की इच्छा को निर्बल करते चले जाते हैं। अमेरिका जैसे समृद्ध देश में इस प्रकार की औषधियों का सेवन ही आत्महत्या का मूल कारण है। ब्रह्मचर्य के बारे में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान फ्रॉयड के दोष पूर्ण चिन्तन से प्रभावित है। अर्थात् कामतृप्ति मानसिक तनाव को दूर करती है। आधुनिक मनोविज्ञान की इस शिक्षा ने मानव की चेतना को अत्यन्त दुर्बल कर दिया है। विश्व का कोई भी व्यक्ति बिना ब्रह्मचर्य के महान् नहीं बना है—'उर्ध्वरेता भवेत् यस्तु सहदेवो न तु मानुषः'। आयुर्वेद की यह मान्यता इस बारे में शुद्धतम सिद्धान्त है, परन्तु काम से पूर्ण रूप से विरत न रहने पर वाजीकरण अवश्य ही सेवन करना चाहिए, यह उसका एक दृष्ट उपाय है। इसलिए आयुर्वेद की वाजीकरण विधि सामान्य मानव को वाजीकरण सेवन करते हुए ही इन्द्रिय-निग्रह को प्रेरित करती है—'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्'। (च० चि० २।१।३)

भोजन का वर्णन करते हुए भी आयुर्वेद में उसके तीन मुख्य गुण कहे गये हैं—तृप्ति, क्षुधानिवृत्ति और पुष्टि। इनमें तृप्ति को ही सर्वोत्तम गुण माना है—'तृप्ति आहारगुणानाम्'। (चरक) इस दृष्टि से जहाँ निद्रा और काम दो

मुख्य अनुभूति है, वहाँ शरीर के तीसरे स्तम्भ भोजन को भी मुख्यरूप से अनुभूति-मूलक माना गया है।

आज विश्व में सबसे बड़ा विवाद अनुभव 'Experience Versus Experiment' का छिड़ा हुआ है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान Experiment पर आश्रित है, जब कि आयुर्वेद अनुभूति-मूलक होते हुए स्वास्थ्य की परिभाषा में मन और आत्मा की प्रसन्नता को अन्तिम स्थिति मानता है। मन और आत्मा का प्रसाद (स्वच्छता) उसको शरीर धर्मों से ऊपर उठा देती है और मृत्यु के समय मनुष्य उस चैतन्य तत्त्व में विलीन हो जाता है, जहाँ इस शरीर के साथ-साथ सारा जगत् एक बूंद की भाँति प्रतीत होता है—'सर्व आवरणमलोपेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्यात् ज्ञेयं अल्पम्'। (योगदर्शन, ४)

जो मनुष्य अपने को शरीर समझकर और इस बाह्य जगत् को अपने से बड़ा समझ कर भय और दुःख से पीड़ित था, वह चेतना के अनन्तत्व को अनुभव करके इस शरीर और जगत् को सर्वदा के लिए केचुली की तरह उतार कर फेंक देता है।

चेतना की यह स्थिति निर्विचार अवस्था में पहुँचने से ही प्राप्त होती है—'निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः'। (योगदर्शन)

निर्विचार स्थिति में एक विशेष अनुभूति होती है, जो शब्दशास्त्र के ज्ञान, अनुमान और गणितीय प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त नहीं होता है—

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'।

शब्द अनुमानप्रज्ञाभ्यां अन्यविषया। विशेषार्थत्वात्'। (योगदर्शन)

इस विशेष स्थिति के आने के बाद अपने बारे में और जगत् के बारे जो भिन्न संस्कार बने हुए थे, वह क्षीण होते हुए चले जाते है और प्रज्ञा अभेद संस्कार बढ़ते चले जाते हैं।

'तज्जः संस्कारो अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी'। (योगदर्शन)

यही कारण है कि विश्व के सभी लोकोत्तर मानव आचार्य शंकर, बुद्ध, ईसा आदि अपने जीवन काल में ही संतुष्ट और मुक्त थे और मृत्यु-भय से रहित थे। योग की इस प्रणाली को स्वीकार करके वैदिक संस्कृति अभी जीवित है। आयुर्वेद इस बात का दावा करता है कि यदि योग-क्रियाओं को गौण रूप से स्वीकार करते हुए भी स्वास्थ्य-नियमों और रसायन का सेवन करके मनुष्य चेतना के इस चरम बिन्दु पर पहुँच सकता है। आयुर्वेद स्वयं में रहस्यवाद जैसा प्रतीत होते हुए भी व्यवहार में अत्यन्त स्पष्ट है। आयुर्वेद की व्याख्या को रहस्यवाद से निकाल कर आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी उसको युक्तिसंगत बनाने के लिए पदार्थ-विज्ञान का अध्ययन अनिवार्य है। व्याख्या करते समय यह सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि शब्द या गणित के

ऊहापोह से जब तक एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति उत्पन्न न हो, तब तक ऊहापोह केवल एक वैचारिक जोड़-तोड़ है।

आयुर्वेद के नित्यत्व के पक्ष को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि विश्व में जो धर्म-तत्त्व विद्यमान है, वही धर्म मनुष्यों में भी विद्यमान है। जिस प्रकार विश्व के निर्माण की कोई अवधि निश्चित नहीं की जा सकती और निश्चित करने से कोई लाभ भी नहीं है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति के बारे में समझना चाहिए। अश्विनीकुमार प्रमुख वैद्य है, नासा में रहने वाले दो छिद्र अलग-अलग होते हुए भी एक ही कार्य करते हैं—प्राण का आदान एवं विसर्जन। नाक में गयी हुई वायु यद्यपि नीचे की ओर फेफड़ों में जाती है, परन्तु उसका तत्काल प्रभाव मूर्धा में प्रतीत होता है। इसीलिए अश्विनी-कुमार मानव की तरह से अधोगामी प्रवृत्ति के होते हुए भी अपने मूल स्वरूप में ऊर्ध्वगामी चेतना को पुष्ट करते हैं। यदि मस्तिष्क में चेतना के उदात्त भाव माने जायें, जिन्हें सामान्य रूप से देवता कह दिया जाता है, उसकी पुष्टि के लिए वक्ष में गया हुआ प्राणवायु रासायनिक तत्त्वों से संसृष्ट होकर मस्तिष्क को स्वस्थ बनाता है। प्राणायाम के आधार पर सभी रोगों की चिकित्सा की जा सकती है और प्राणवह स्रोतस, जो कि मूलरूप से प्राण और अपान की दो विरुद्ध धाराएँ हैं, को नियन्त्रित करके सभी रोग ठीक किये जा सकते हैं। आयुर्वेद में औषधियों द्वारा और योग में श्वास-प्रश्वास के नियमितिकरण से इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

अश्विनीकुमारों को यह विद्या दधीचि या दध्यन अथर्वण ऋषि ने दी थी, ऐसा कथानक बतलाया गया है। अथर्वा का अर्थ होता है—अथ अर्वाक् भवति अथर्वा' जो नीचे की ओर जाकर स्थित हो, उसे अथर्वा कहते हैं। इस दृष्टि से शरीर का वक्ष और उदरगुहा, उसमें भी विशेषकर अग्नाशय और अपान वायु का स्थान वस्ति आयुर्वेद में मूलतत्त्व माने गये हैं। अर्थात् यह मधु-विद्या (आयुर्वेद) दध्यन अथर्व ब्राह्मण से ही अश्विनीकुमारों के माध्यम से, जो आधे मनुष्य और आधे देवता माने जाते हैं, इन्द्र आदि देवताओं के पास पहुँची।

शरीर के सभी ऊतक (Tissue) वानस्पतिक वृद्धि (Vegetative Growth) के सिद्धान्त के आधार पर नष्ट होकर पुनः जीवित (Regeneration) हो सकते हैं। केवल नाड़ी-कोष (Nerve Cell) ही नष्ट होने पर नया नहीं बन सकता। यही कारण है कि मस्तिष्क में रहने वाले सभी रोगों की चिकित्सा वक्ष और उदरगुहा, विशेष कर कोष्ठशोधन के आधार पर करनी चाहिए। यही आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त है। मस्तिष्क में शरीर के प्रतिरूप केन्द्रों की खोज कर[१] उनके आधार पर चिकित्सा

१. इन्द्रो मायाभि बभूव। द्वि० अ० (मधुविद्या)

करने का आधुनिक विज्ञान का प्रयास शुद्ध चिकित्सा नहीं है। यही कारण है कि प्रायः हर गोली पर विष (Poison) लिखा रहता है। वह कालान्तर में विष का कार्य करता है। इस दृष्टि से आयुर्वेद के नित्यत्व को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसलिए वैद्य के लिए अपान वायु ही मुख्य वायु है और इसी आधार पर कहा गया है—'तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा-चिकित्सामपि वस्तिमेके'। (च० सि० १।४०)

गाँधी जी नित्य-प्रति एनिमा लेते थे। उनका यह जीवन दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

त्रिगुण, त्रिदोष, पञ्चमहाभूत आदि अनेक सिद्धान्त आयुर्वेद में उपस्थापित किये गये हैं। यह सिद्धान्त Electromagnetic Wave की द्वैत व्यवहार (Duality Principle) से उत्पन्न होने वाली शक्ति (Force) के तीन पक्ष समझ लेने चाहिए, क्योंकि शक्ति मूल रूप में एक होते हुए भी Electro-magnetic Wave के आधार पर द्वैत व्यवहार करती है। इसी प्रकार आयुर्वेद में अग्निसोमीय जगत् (अग्नि+सोम) 'आग्नेया स्त्री सौम्य; पुरुषः' आदि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। मूलरूप से अग्नि अथवा उसका परिणा-मान्तर पित्त ही मूल दोष समझना चाहिए। पित्त की निरुक्ति 'तपति पतति च इति पित्तम्' समझना चाहिए। जिसमें तपन धर्म अर्थात् अमूर्त भाव में जाने की शक्ति और पतन धर्म—मूर्त भाव में जाने की शक्ति दोनों ही स्थित रहती है। इसलिए पित्त में सरत्व, उष्णत्व एवं तीक्ष्णत्व आदि धर्म विद्यमान् रहते हैं। वात और कफ जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में रहने वाले पित्त के ही काल और देश के परिणाम हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ यद्यपि पाठ्यक्रमानुसार है, परन्तु फिर भी प्रत्येक विषय को स्पर्श करता हुआ आगे बढ़ रहा है। समय के साथ-साथ नये संस्करणों में विचारधारा को परिष्कृत भी किया गया है। लेखक जैसे-जैसे आयु, अध्यापन अनुभव और सांसारिक अनुभवों की पूँजी को प्राप्त करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी कृति भी उत्कृष्ट होती चली जाती है। यह संस्करण अपने सभी पुराने संस्करणों से अतिशायी है। भविष्य में विद्वान् लेखक और भी उत्कृष्ट कोटि का साहित्य देंगे, ऐसी मुझे उनसे आशा है। प्रभु उनको इसके लिए सब सहायता करें, यही मेरी प्रार्थना है।

वैद्य वीरेन्द्रकुमार शर्मा

भूतपूर्व प्रधानाचार्य एवं अधीक्षक
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय एवं चिकित्सालय
लखनऊ।

प्राक्कथन

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद एवं विश्व का आदि चिकित्सा-विज्ञान है। यह सृष्टि के प्रवाह के साथ प्रवाहित है और तब तक प्रवाहित होता रहेगा, जब तक संसार में मानवीय सृष्टि का प्रवाह होता रहेगा। यह शाश्वत, सत्य एवं पूर्ण विज्ञान है। त्रिकालदर्शी भारतीय महर्षियों ने अपने तपोबल से इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर प्राणियों की सेवा की सद्भावना से इसका प्रकाशन किया है। यह निर्विवाद है कि इसकी समता रखने वाला अन्य कोई भी चिकित्सा-विज्ञान नहीं है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इसके सिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण हैं। सृष्टि के आदि में इसके जो सिद्धान्त थे, वे ही आज भी हैं और वे ही सृष्टि-पर्यन्त रहेंगे। वे सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं। जिस विज्ञान के सिद्धान्त समय-समय पर परिवर्तित होते रहते हैं, वह विज्ञान शाश्वत एवं सफल नहीं होता है। आयुर्वेद ने अपने अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों के आधार पर ही अपने को नित्य एवं सत्य विज्ञान सिद्ध किया है। यद्यपि यह विश्व का आदि चिकित्सा-विज्ञान है, परन्तु भारतीय महर्षियों द्वारा प्रकाशित होने के कारण यह भारतीय चिकित्सा-विज्ञान कहा जाता है। आज से हजारों वर्ष पूर्व विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले व्यक्तियों ने इस आयुर्वेद को ग्रहण किया और इसके सिद्धान्तों को विश्वजनीन प्रमाणित किया। इसके सिद्धान्त शाश्वत सत्य हैं, सत्य से लाभ उठाने का अधिकार मानव मात्र को है—

'नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते'॥

(च० चि० १।४।५८)

जो अर्थ तथा कामना के लिए नहीं, प्रत्युत् भूतदया अर्थात् प्राणिमात्र पर दया की दृष्टि से चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, वह सब पर विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि आयुर्वेद प्राणिमात्र के लिए प्रकाशित है। ध्यान रहे आज आयुर्वेद में जो अर्थपरता आ रही है, वह आचार्यों द्वारा अभिव्यक्त कामना के सर्वथा विपरीत है।

'आयुषो वेदः आयुर्वेदः'।

वेद का अर्थ ज्ञान है, आयु का ज्ञान जिससे हो, वह आयुर्वेद है। इसका तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद आयु से सम्बन्धित समस्त विषयों के ज्ञान का भण्डार है।

'सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः' ॥

(च० सू० १।४६-४७)

सत्त्व (मन), आत्मा (चेतनाधातु) और शरीर (पञ्चमहाभूत विकार-समुदायात्मक) इन तीनों का तीन दण्डों की भाँति जो संयोग है, वही संयोग स्वरूप यह लोक (जन) स्थित है। वही पुरुष है, वही चैतन्य-स्वरूप है, वही इस आयुर्वेद का अधिकरण है और उसी के लिए यह आयुर्वेद प्रकाशित हुआ है।

'महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा ।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च ॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः ।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनित्वरम्' ॥[1]

(च० सू० १।२८-२९)

महर्षियों ने अपनी ज्ञान-दृष्टि से आयुर्वेद में ठीक-ठीक सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय इस प्रकार षट् पदार्थों को देखा और उनकी यथेष्ट जानकारी प्राप्त कर आयुर्वेदानुसार अपना जीवन व्यतीत कर दीर्घजीवी हुए।

आजकल आयुर्वेद महाविद्यालयों में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त, आधार-भूत सिद्धान्त तथा आयुर्वेद-दर्शन आदि नामों से जिस विषय का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, वह 'पदार्थ-विज्ञान' है। प्रारम्भ में यह विषय सांख्य एवं न्याय आदि दर्शन के ग्रन्थों द्वारा पढ़ाया जाता था। वह उचित नहीं था, क्योंकि आयुर्वेद का अपना स्वतंत्र पदार्थ विज्ञान है, जो मात्र दार्शनिक पदार्थ-विज्ञान से अधिक सक्षम, व्यावहारिक तथा जनोपयोगी है।

आयुर्वेदीय 'पदार्थ-विज्ञान' का विशिष्ट रूप से विवेचन चरकसंहिता के विभिन्न स्थलों में तथा कतिपय सुश्रुतसंहिता में भी पाया जाता है। संहिताओं के टीकाकारों में चक्रपाणि, डल्हण, अरुणदत्त, हेमाद्रि तथा आधुनिक युग में कविराज गंगाधर राय ने विशेष रूप से आयुर्वेद के सैद्धान्तिक पक्ष की विद्वत्तापूर्ण विवेचना प्रस्तुत की है। आयुर्वेदेतर साहित्य वेद, उपनिषद्, भारतीय दर्शन, गीता तथा श्रीमद्भागवत में भी यह विषय प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अतएव उन सभी सिद्धान्तों को इस ग्रन्थ में समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है।

---

१. 'चाप्यनश्वरम्' इति पाठान्तरः ।

पदार्थ-विज्ञान की बहुत-सी पुस्तकें होते हुए भी प्रस्तुत 'पदार्थ-विज्ञान' पुस्तक लिखने का मेरे द्वारा प्रयास किया जाना एक विशेष लक्ष्य को लेकर है। वह लक्ष्य संस्कृत भाषा का अल्प ज्ञान रखने वाले नवागत छात्रों के अन्तःकरण में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की आधारशिला स्थापित करना है। पिछले तीन-चार वर्षों से केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, नई दिल्ली द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम सम्पूर्ण देश में स्नातक स्तर पर प्रारम्भ हो गया है। 'पदार्थ-विज्ञान' के इस पाठ्यक्रम में कतिपय ऐसे विषय समाविष्ट कर दिये गये हैं, जिनके अध्ययन के लिए अद्यावधि ऐसा कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था, जिसमें सभी विषय सरल भाषा में एक ही स्थान पर उपलब्ध हों। इस विषय का अध्यापक होने के नाते इस अभाव की पूर्ति का निरन्तर अनुभव कर रहा था। अतः यह लघु प्रयास किया गया है कि केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद् के अनुसार सभी नवीन तथा प्राचीन विषय यथास्थान प्रकरणानुसार समाविष्ट हो जायें। ग्रन्थ के अन्त में विषयानुसार परीक्षोपयोगी प्रश्न भी दे दिये गये हैं, जिसके आधार पर विद्यार्थी परीक्षा के लिए अपने को तैयार कर सकेंगे। 'पदार्थ-विज्ञान' का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम भी अन्त में दिया गया है, जिससे छात्र पाठ्यक्रम के ऊहापोह में न पड़े।

श्रद्धेय गुरुवर श्री श्रीनारायण विद्यार्थी जी, भूतपूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता-विभाग तथा श्री उमाशंकर त्रिपाठी जी, भूतपूर्व लेक्चरर संस्कृत, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, लखनऊ ने अनेक बहुमूल्य सुझाव तथा प्रोत्साहन देकर मेरे कार्य को सरल बनाया। इसके लिए मैं इन विद्वानों का हृदय से आभारी हूँ। अन्त में 'ज्ञान भारती' के संचालक पं० हरिकृष्ण जी गौतम एवं स्व० शिवशंकर गिगरस का कृतज्ञ हूँ, जिनके सत्प्रयास से पुस्तक के प्रकाशन का कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका।

लखनऊ
विजयादशमी
संवत् २०३७

—रविदत्त त्रिपाठी

द्वितीय संस्करण

'पदार्थ-विज्ञान' इधर कुछ दिनों से नहीं मिल रहा था। इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन की निरन्तर माँग हो रही थी। इसलिए संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ द्वितीय संस्करण आयुर्वेद जगत् के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है।

सचित्र आयुर्वेद पटना, मई सन् १९८१ एवं आयुर्वेद विकास, नई दिल्ली जून सन् १९८१ ने समालोचना प्रकाशित कर तथा आयुर्वेद तिब्बी अकादमी उत्तर प्रदेश, लखनऊ ने प्रथम पुरस्कार से पुरस्कृत कर इस ग्रन्थ का जो सम्मान किया है, इसके लिए मैं विद्वज्जनों का हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में अध्यापकों, छात्रों तथा अनुसंधान-कर्त्ताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ को अपना कर लेखक एवं प्रकाशक का उत्साह-वर्धन किया।

काशी
सन् १९८५

—रविदत्त त्रिपाठी

तृतीय संस्करण

'पदार्थ-विज्ञान' इधर वर्षों से अप्राप्य हो गया था। आयुर्वेद के छात्रों एवं अध्यापकों द्वारा इसकी माँग लगातार हो रही थी, परन्तु इधर नये ग्रन्थों के लेखन में व्यस्त होने के कारण इस ग्रन्थ का प्रकाशन नहीं हो पा रहा था। सम्प्रति यह तृतीय संस्करण संशोधन एवं परिवर्धन के साथ विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे आनन्दानुभूति हो रही है।

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली ने इस ग्रन्थ को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर इसका जो सारस्वत सम्मान किया है, उसके लिए मैं परिषद् के सदस्यों का आभारी हूँ।

काशी
१९९१

—रविदत्त त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद-परिचय

१. आयुर्वेद अवतरण १
२. आयुर्वेद के पर्यायवाचक शब्द ४
३. आयुर्वेद की निरुक्ति ४
४. आयुर्वेद-लक्षण ५
५. आयु का स्वरूप एवं आयु के पर्यायवाचक शब्द ५
६. आयुर्वेद का नित्यत्व ६
७. आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त ७

द्वितीय अध्याय

पदार्थ

१. पदार्थ-विज्ञान का प्रयोजन १४
२. पदार्थ-विज्ञान का आयुर्वेद में उपयोग १५
३. पदार्थ-विवरण १७
४. पदार्थ शब्द की निरुक्ति १८
५. पद १८
६. पद का लक्षण १९
७. पद के भेद २०
८. अर्थार्थ २०
९. पदार्थ-लक्षण २१
१०. पदार्थ के भेद एवं उनकी संख्या के सम्बन्ध में मतमतान्तर २१
११. अभाव २३
१२. पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य २५
१३. प्रमेय के स्वरूप २६
१४. प्रमेय के भेद २६
१५. प्रमाण-प्रमेय रूप पदार्थ वैशिष्ट्य २७
१६. लक्षण विचार २७
१७. दर्शन शब्द का अर्थ एवं उसकी व्यापकता २८
१८. दर्शन का उद्भव २९
१९. दर्शन की संख्या एवं श्रेणी-विभाजन २९

२०. षड्दर्शन ३१
२१. अन्य भारतीय दर्शन ३२
२२. आयुर्वेद के ऊपर अन्य दर्शनों का प्रभाव ३३
२३. आयुर्वेदीय स्वतंत्र मौलिक दर्शन ३५

तृतीय अध्याय

द्रव्य

१. द्रव्य-निरुक्ति ३६
२. द्रव्य-लक्षण ३६
३. द्रव्य की संख्या ३८
४. चेतनाचेतन द्रव्य विवेचन एवं भेद ३८
५. द्रव्य के अन्य भेद एवं आयुर्वेद की दृष्टि से उनका व्यावहारिक अध्ययन ४२
६. तम (अन्धकार) का दशम द्रव्यत्व रूप में खण्डन ४३
७. तम (अन्धकार) का गुण ४४

चतुर्थ अध्याय

महाभूत

१. भूत शब्द की निरुक्ति ४५
२. पञ्चमहाभूतों के सत्त्वादि गुण ४५
३. पञ्चमहाभूत तथा उनके गुण ४६
४. महाभूतों के असाधारण लक्षण ४७
५. महाभूतों का परस्परानुप्रवेश ४७
६. पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति ४८
७. पञ्चमहाभूतों का आयुर्वेद में महत्त्व ४८
८. आकाश-निरूपण ४९
९. वायु-निरूपण ५१
१०. तेजो-निरूपण ५४
११. विद्युत्-निरूपण ५७
१२. जल-निरूपण ५८
१३. पृथ्वी-निरूपण ६०

पञ्चम अध्याय

आत्मा

१. आत्मा का लक्षण तथा प्रकार ६३
२. आयुर्वेद-सम्मत आत्मा के भेद ६३
३. परमात्मा ६३

४. अतिवाहिक शरीर (सूक्ष्म शरीर) या लिङ्ग शरीर ६५
५. चिकित्स्य पुरुष, कर्मपुरुष एवं संयोगपुरुष आदि ६६
पुरुष शब्द की निरुक्ति ६६
चिकित्स्य पुरुष ६७
षड्धातुज पुरुष ६८
एकधातु पुरुष ६८
चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष ६८
संयोग पुरुष ६९
६. आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति ६९
७. आत्मा की उत्पत्ति ७०
८. शरीर से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व ७०
९. सगुण पुरुष-निरूपण ७१
१०. आत्मा के लक्षण और उसके गुण ७१
११. आत्मा का देहान्तरगमन ७३
१२. ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा, परमात्मा तथा जीवात्मा का गीता एवं उपनिषद् के अनुसार निरूपण ७३
१३. परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप ७५

षष्ठ अध्याय

मन

१. मन की निरुक्ति ७८
२. मन के पर्यायवाचक शब्द ७८
३. मन का लक्षण ८१
४. मन के गुण ८२
५. मन का विषय ८२
६. मन के कर्म ८२
७. शरीर में मन का अधिष्ठान ८२
८. व्याधि अधिष्ठान एवं मन ८३

सप्तम अध्याय

काल एवं दिशा

१. काल-निरूपण ८५
२. काल के भेद ८७
३. काल का संवत्सरात्मक प्रभेद ८८
४. आयुर्वेद में काल का महत्त्व ८९
५. दिग्-निरूपण ९०
६. दिक् ज्ञान का महत्त्व ९२

अष्टम अध्याय

गुण

१. गुण-लक्षण ९४
२. द्रव्य एवं गुण साधर्म्य ९५
३. गुण ज्ञान प्रकार ९६
४. गुणों का वर्गीकरण एवं संख्या ९६
५. वैशेषिक दर्शन में गुण ९७
६. न्यायदर्शन में गुण ९८
७. चरकोक्त इकतालिस एवं न्यायशास्त्रोक्त चौबीस गुणों का समन्वय ९८
८. महागुण ९८
९. शब्दादि गुणों का साधर्म्य एवं वैधर्म्य ९८
१०. द्रव्यानुसार वाय्वादि द्रव्यों के गुणों का परिगणन ९९
११. शब्दादि गुणों का यथाक्रम निरूपण १००
१२. शब्दादि गुणों की उपयोगिता १०३
१३. गुर्वादि बीस गुण १०३
१४. गुरु आदि शारीर गुणों की उपयोगिता १०६
१५. बुद्धि-निरूपण १०६
१६. इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख एवं प्रयत्न १०६
१७. बुद्धि आदि गुणों का उपयोग १०८
१८. परत्वादि दश गुणों का निरूपण १०८
१९. गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं अदृष्ट (धर्माधर्म) निरूपण ११२
२०. आयुर्वेद में परादि गुणों की उपयोगिता ११४
२१. द्वन्द्वगुण ११५

नवम अध्याय

कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय

१. कर्म-निरूपण ११७
२. सामान्य-निरूपण ११८
३ विशेष-निरूपण १२१
४. विशेष के लक्षण १२२
५. सामान्य एवं विशेष की उपयोगिता १२३
६. समवाय-निरूपण १२४
७. समवाय की उपयोगिता १२५

दशम अध्याय

प्रणाम

१. बुद्धि-निरूपण १२६
२. अनुभव के लक्षण तथा भेद १२७

३. स्मृति-स्वरूप १२८
४. भ्रान्ति १२९
५. प्रमेय एवं प्रमाता लक्षण १३०
६. प्रमाण-निरूपण १३०
७. प्रमाण-पर्याय १३०
८. प्रमाण-प्रकार १३०
९. त्रिविध प्रमाणों में अष्टविध प्रमाणों का समावेश १३३
१०. आयुर्वेद में प्रमाण के सन्दर्भ में परीक्षा शब्द का व्यवहार १३३
११. प्रमाण ज्ञान का महत्त्व १३३

एकादश अध्याय

आप्तोपदेश अथवा शब्द प्रमाण

१. आप्तस्वरूप तथा आप्तोपदेश लक्षण १३५
२. दृष्टादृष्ट एवं लौकिक अलौकिक भेद १३७
३. ऐतिह्य प्रमाण १३७
४. शास्त्र-लक्षण १३८
५. निघण्टु १३९
६. शब्द-विवेचन एवं शब्द-प्रकार १४०
७. चरकोक्त शब्द लक्षण एवं प्रकार १४१
८. वाक्यार्थबोधक वृत्तियाँ १४१
९. वाक्य-स्वरूप १४२
१०. वाक्यार्थ ज्ञान हेतु १४२
११. शक्तिग्रह १४३
१२. तर्कसंग्रह के अनुसार शाब्द ज्ञान १४५
१३. आप्तोपदेश प्रमाण के सम्बन्ध में विपक्ष मतावलम्बियों के मत १४६
१४. आयुर्वेद में शब्द प्रमाण की उपयोगिता १४६

द्वादश अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण

१. प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण १४७
२. प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद : निर्विकल्पक एवं सविकल्पक १४९
३. सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेद : लौकिक एवं अलौकिक १४९
४. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-स्वरूप १५०
५. इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-प्रकार १५०
६. अलौकिक प्रत्यक्ष भेद १५१
७. चाक्षुष प्रत्यक्षोत्पत्ति-प्रकार १५२

८. विविध यन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण का विस्तार १५३
९. अतिसन्निकर्षादि प्रत्यक्ष बाधक भाव १५३
१०. प्रत्यक्ष प्रमाण के सहायक प्रमाण अथवा उसके होते हुए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता १५३
११. प्रत्यक्ष प्रमाण का आयुर्वेद में उपयोग १५४

त्रयोदश अध्याय

अनुमान प्रमाण

१. अनुमान प्रमाण का लक्षण १५६
२. अनुमिति १५८
३. परामर्श १५८
४. पक्ष-सपक्ष-विपक्ष १५९
५. ज्ञातव्य पारिभाषिक शब्द : व्याप्ति, व्याप्य, व्यापक, अविनाभाव सम्बन्ध एवं अयुतसिद्धि १५९
६. अनुमान के प्रकार १६०
७. पञ्चावयव-निरूपण १६१
८. लिङ्ग परामर्श विवेचन तथा प्रकार १६४
९. सद्हेतु विवेचन १६५
१०. हेत्वाभास १६६
११. तद्विद्यसम्भाषा विचार १६९
१२. वाद, जल्प एवं वितण्डा विचार १७०
१३. निग्रहस्थान १७०
१४. आयुर्वेद में अनुमान का सर्वाधिक प्रयोग १७१

चतुर्दश अध्याय

उपमान तथा अन्य प्रमाण

१. उपमान प्रमाण लक्षण १७३
२. उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने वाले दर्शन १७४
३. उपमान प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता १७५
४. युक्तिप्रमाण १७५
५. युक्तिप्रमाण के समर्थकों की युक्ति १७७
६. युक्तिप्रमाण का वैशिष्ट्य १७७
७. अर्थप्राप्ति या अर्थापत्ति १७७
८. अनुपलब्धि या अभाव १७७
९. सम्भव प्रमाण १७८

१०. चेष्टा प्रमाण १७८
११. परिशेष प्रमाण १७८
१२. इतिहास प्रमाण १७९
१३. स्वतः प्रामाण्य परतः प्रामाण्य १७९

पञ्चदश अध्याय

पुरुष

१. सृष्टि का क्रमिक विकास-क्रम १८०
२. चरकमतानुसार सर्ग-क्रम १८२
३. इन्द्रिय लक्षण एवं इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति १८२
४. बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) निरूपण १८३
५. इन्द्रिय पञ्चक १८३
६. पञ्चकर्मेन्द्रिय निरूपण १८५
७. इन्द्रियों की वृत्तियाँ १८६
८. इन्द्रियों का विषय १८६
९. इन्द्रियों का भौतिकत्व १८६
१०. अव्यक्त एवं व्यक्त निरूपण १८६
११. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-निरूपण १८७
१२. राशिपुरुष १८७
१३. विभु (व्यापक) आत्मा होने पर पर्वतादि से छिपी वस्तुओं के अज्ञान का कारण १८८
१४. वेदनाधिष्ठान १८८
१५. वेदनानाशहेतु १८८
१६. सुख-दुःख के कारण १८८
१७. सुश्रुतानुमत पुरुष-निरूपण १८९
१८. पुरुष ही सबका कारण क्यों कहा गया है ? १९२
१९. सुश्रुत एवं सांख्य-सम्मत सृष्टि विक्रास-क्रम १९३
२०. पञ्चतन्मात्र १९४
२१. सांख्यदर्शनानुसार प्रकृत्यादि तत्त्व एवं पुरुष-निरूपण १९५
२२. अचेतन प्रकृति होते हुए भी प्रकृति के साथ पुरुष के संयोग का हेतु १९७
२३. प्रकृति पुरुष का साधर्म्य एवं वैधर्म्य १९८
२४. जीवात्मा और परमात्मा भेद से पुरुष पञ्चक १९९
२५. महाप्रलय तथा उदय प्रलय २००
२६. मोक्ष का कारण २०१
२७. पुनर्जन्म २०१

षोडश अध्याय

कार्य-कारण भाव एवं विविध वाद

१. करण-लक्षण	२०३
२. कारण-निरूपण	२०४
३. कारण के प्रकार तथा उसके लक्षण	२०४
४. कार्य-लक्षण	२०५
५. सत्कार्यवाद	२०५
६. आयुर्वेद में सत्कार्यवाद का महत्त्व	२०८
७. परिणामवाद	२०८
८. विवर्त्तवाद	२०८
९. असत्कार्यवाद	२०९
१०. अणभंगुरवाद	२१०
११. अद्वैतवाद	२१०
१२. आयुर्वेद में अनेकान्तवाद	२११
१३. साम्य-वैषम्य-सिद्धान्त	२११
१४. स्वभावोपरमवाद	२१३
१५. पीलुपाक तथा पिठरपाक	२१४
१६. परमाणु-लक्षण	२१५
१७. भागवतीय परमाणु लक्षण एवं नित्यता विचार	२१६
१८. अवयव तथा अवयवी (अवयव समुदाय प्रभाव) विचार	२१७

सप्तदश अध्याय

तन्त्रयुक्तियाँ

१. तन्त्रयुक्ति विवेचन	२१८

अष्टादश अध्याय

चतुर्दश तन्त्रदोष, सप्तविध कल्पना, सप्तदश ताच्छील्य तथा एकविंशति अर्थाश्रय

१. चतुर्दश तन्त्रदोष	२२७
२. सप्तविध कल्पना	२२९
३. सप्तदश ताच्छील्य	२३१
४. एकविंशति अर्थाश्रय	२३३
५. तन्त्रयुक्ति, ताच्छील्य आदि के अध्ययन का व्यावहारिक उपयोग	२३५

एकोनविंश अध्याय
विविध विषय

१. आयुर्वेद में परमेश्वर-स्मरण विधान	२३६
२. सत्त्व, रज एवं तम का निरूपण	२३९
३. त्रिगुणों का अन्योयाश्रयित्व	२३९
४. आयुर्वेद में कारणान्तर सुश्रुतोक्त कारण षट्क	२४१
५. आस्तिकता एवं नास्तिकता विचार	२४३
६. स्वप्नविवेक	२४३
७. निद्रा-निरूपण	२४४
८. तन्द्रा-विचार	२४५
९. मोह-मूर्च्छा-विचार	२४५
१०. संज्ञानाश सम्मोहक संकेत	२४६
११. उद्‌बोधन	२४७
१२. जाग्रत् स्वरूप	२४७
१३. ज्ञानवर्द्धक प्रकरण	२४८
१४. त्रयोदश करण	२५०
१५. अन्तःकरणचतुष्टय	२५०
१६. अन्तःकरण की वृत्तियाँ	२५१
१७. करणों में अन्तःकरण की प्रधानता	२५१
१८. अहंकार	२५२
१९. तुलायन्त्रादि की सहायता से अनुमान विचार	२५३
२०. मन का अन्नमयत्व	२५४
२१. तर्क	२५४
आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस०) पाठ्य विषय	२६४
सहायक ग्रन्थ-सूची	२६७

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद-परिचय

मंगलाचरण

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥
विश्वेश्वरं नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः॥
नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय च॥ (उपनिषद्)

आयुर्वेदावतरण

आयुर्वेद आयु के ज्ञान का भंडार है। ज्ञान का निर्माण नहीं होता है, प्रत्युत् ज्ञान का सात्त्विक एवं विमल बुद्धि में प्रादुर्भाव होता है। इसके ज्ञान का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव ब्रह्मा की बुद्धि में हुआ। महर्षि चरक के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा ने इसे प्रकाशित किया और उन्होंने जैसा आयुर्वेद का प्रकाशन किया, दक्ष प्रजापति ने सर्वात्मना उसे वैसा ही ग्रहण कर देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों (नासत्य एवं दस्र) को अवगत कराया। पुनः भगवान् इन्द्र ने अश्विनीकुमारों से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् सकल मानव जाति के कल्याण हेतु तत्कालीन समस्त महर्षियों की सम्मति से महर्षि भरद्वाज ने इन्द्र के पास जाकर भगवान् इन्द्र से आयुर्वेद का यथाविधि अध्ययन किया और वहाँ से आकर अन्य महर्षियों को उसका अशेषतया उपदेश किया। इस प्रकार अन्य सभी महर्षियों ने भी आयुर्वेद का पूरा ज्ञान प्राप्त किया और अपनी ज्ञानदृष्टि से आयुर्वेदशास्त्र में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थ को देखा और उनकी जानकारी प्राप्त कर शास्त्रनियमानुसार अपना जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घजीवी हुए। इसी क्रम से पुनः भरद्वाज से पुनर्वसु आत्रेय और उनसे अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत तथा क्षारपाणि ने अध्ययन कर अपने-अपने नाम की संहिताओं का विरचन किया।

सुश्रुत के अनुसार काशीराज दिवोदास के रूप में अवतरित भगवान् धन्वन्तरि के पास अन्य महर्षियों के साथ सुश्रुत जब आयुर्वेद अध्ययन करने हेतु गये और उनसे आवेदन किया, उस समय भगवान् धन्वन्तरि ने उन लोगों को उपदेश करते हुए कहा कि सर्वप्रथम स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पादन पूर्व ही अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद को

एक सहस्र अध्याय और शत सहस्र श्लोकों में प्रकाशित किया और पुनः मनुष्य को अल्पमेधावी समझकर इसे आठ अंगों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार धन्वन्तरि ने भी आयुर्वेद का प्रकाशन ब्रह्मदेव द्वारा ही प्रतिपादित किया हुआ माना है। पुनः भगवान् धन्वन्तरि ने कहा कि ब्रह्मा से दक्षप्रजापति, उनसे अश्विनीकुमारी-द्वय तथा उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का अध्ययन किया।

महर्षि काश्यप ने भी अपनी संहिता में आयुर्वेदावतरण लिखा है, जिसके अनुसार ब्रह्मा से इन्द्र तक पूर्ववत् आयुर्वेद का ज्ञान प्रवाहित माना गया है। इन्द्र से काश्यप, वसिष्ठ, अत्रि एवं भृगु आदि ऋषियों को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ। कहा भी है—

'अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः, स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थ-मायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित्, ततो विश्वानि भूतानि। ततस्तं पुण्यमायुर्वेदमनन्त-मायुषो वर्धनमाधारमाप्यायनममृतमश्विभ्यां कः प्रददौ, ताविन्द्राय, इन्द्र ऋषिभ्य-श्चतुर्भ्यः कश्यपवशिष्ठात्रिभृगुभ्यः, ते पुत्रेभ्यः शिष्येभ्यश्च·····।'

(काश्यप वि०—१)

यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि इन्द्र द्वारा जिन-जिन ऋषियों को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ, उन-उन ऋषियों ने अष्टांग आयुर्वेद का समग्र रूप से अध्ययन किया था। परन्तु जब उनकी शिष्यमण्डली अध्ययनार्थ उपस्थित हुई, तो उन्होंने पूछा कि आप लोग आयुर्वेद के किस अंग का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं? शिष्यों की इच्छानुसार महर्षि भरद्वाज द्वारा आत्रेय तथा उनसे अग्निवेश आदि को कायचिकित्सा में विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ। राजर्षि धन्वन्तरि से सुश्रुत आदि को शल्य-तन्त्र में तथा काश्यप द्वारा उनके पुत्रों एवं शिष्यों को कौमारभृत्य में विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ।

'ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः।
विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदं चकार सः॥
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।
स्वतन्त्रं संहिता तस्मात् भास्करश्च चकार सः॥' (ब्रह्मवैवर्तपुराण)

पुराणों तथा जैन आयुर्वेद ग्रन्थों में भी आयुर्वेद अवतरण मिलता है। तदनुसार प्रजापति (ब्रह्मा) से भास्कर (सूर्य) को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ और भास्कर ने धन्वन्तरि आदि ऋषियों को ज्ञान दिया। जैनाचार्यों के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ ऋषभदेव ने आयुर्वेद का ज्ञान गणधर परमेष्ठी को दिया तथा उन्होंने अन्य योगियों को दिया।[1]

---

१. उग्रादित्याचार्य कृत कल्याणकारकम्।

आयुर्वेदावतरण (प्रागैतिहासिक काल)

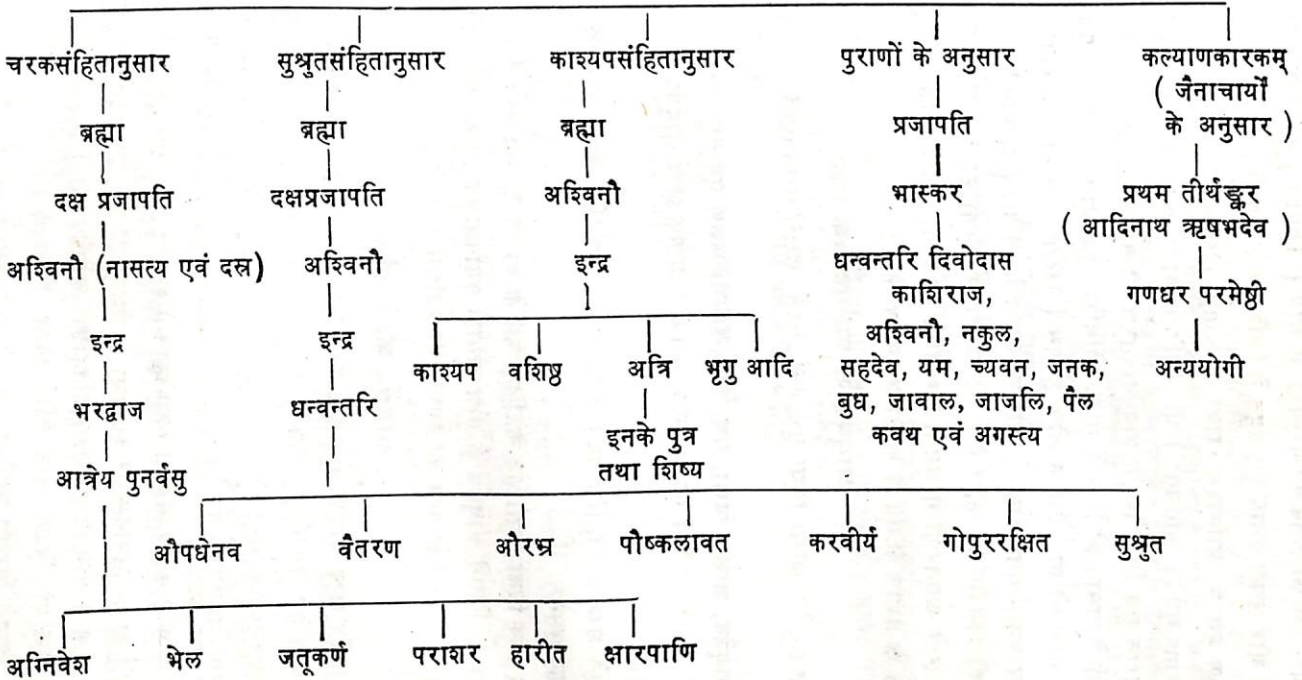

मिस्र देश की चिकित्सा-परम्परा में थाथ (Thoth) को प्रथम आचार्य माना गया है और उसके बनाये हुए बहुत से चिकित्सा के ग्रंथ मिलते थे। मिस्र देशवासियों के पुराण मत में ओसिरिस राजा (King Osiris) और उसका पुत्र हार्मस (Horms सूर्यदेव इतिमतः) भी चिकित्साशास्त्र के आविष्कारक माने गये हैं। यदि भारत एवं मिस्र देश के आयुर्वेदावतरण की तुलना की जाय, तो भारत में ब्रह्म-दक्ष सूर्य के समान ही मिस्र में थाथ, ओसिरिस तथा हार्मस दिखलायी पड़ते हैं। मिस्र देश के थाथ को ग्रीस देश के लोग हेरमेस (Hermes) नाम से पुकारते हैं। ग्रीसी इतिहास-अनुसन्धाता लोग हेरमेस को भारत में उत्पन्न हुआ मानते हैं। अन्य लोग उन्हीं को 'देवद्वय' भी कहते हैं। इस प्रकार अवतरणों की आलोचना करने से भारत एवं मिस्र के अवतरणों में समता दिखलायी पड़ती है, सम्भवतः जिसका मूल भारतीय संस्कृति के प्रभाव के रूप में खोजा जा सकता है।[1]

आयुर्वेद के पर्यायवाचक शब्द

'तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्रमित्यनर्थान्तरम्।'

(च० सू० ३०।३१)

आयुर्वेद, शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान, शास्त्र, लक्षण एवं तन्त्र यह प्रत्येक शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं न कि अर्थान्तर के। अतः प्रत्येक शब्द आयुर्वेद का पर्यायवाचक शब्द है।

'एते शब्दा यस्यार्थस्याभेदेन वाचकाः तत्तन्त्रमिति तन्त्रस्वरूपं दर्शितं भवति। इति शिवदाससेनः।'

ये शब्द बिना किसी भेद के जिस अर्थ के वाचक हैं, वह तन्त्र है। अतः आयुर्वेद भी तन्त्र है, जिससे आयुर्वेद के तन्त्र इत्यादि पर्यायवाचक शब्द कहे गये हैं। इन पर्यायवाचक शब्दों से तन्त्र का स्वरूप भी प्रदर्शित होता है।

आयुर्वेद की निरुक्ति

आयुर्वेद शब्द आयुष् और वेद, इन दो शब्दों के योग से बना है। आयु का अर्थ जीवन और वेद जो 'विद्' धातु से बना है, इसका अर्थ होता है—होना, जानना, विचार करना एवं पाना।[2]

'आयुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः'। (च० सू० ३०।२२)

---

१. (क) काश्यपसंहिता (उपोद्घात)।
(ख) रसयोगसागर।
(ग) आयुर्वेद का बृहत् इतिहास (अत्रिदेव गुप्त)।

२. सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ रूपार्था हि विदः स्मृताः॥

'वेदयति बोधयतीत्यर्थः' (चक्रपाणि)। अर्थात् जिसके द्वारा आयुर्वेद का ज्ञान हो, वह आयुर्वेद है।

'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।' (सु० सू० १।१३)

'तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः, अथवा आयुर्विद्यते ज्ञायते अनेनेत्यायुर्वेदः। आयुर्विद्यते विचार्यते अनेन वा इत्यायुर्वेदः। आयुरनेन विन्दति प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः।' (डल्हणाचार्य)। अर्थात् वह आयु इसमें है, अथवा आयु इसके द्वारा जानी जाती है, अथवा आयु का इसके द्वारा विचार किया जाता है, अथवा आयु इसके द्वारा प्राप्त की जाती है, इसलिए यह आयुर्वेद है।

'तत्रायुर्जीवितमित्युच्यते। विद ज्ञाने धातुः, विद्ऌ लाभे च। आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते ज्ञायते, विन्दते लभ्यते न रिष्यतीत्यायुर्वेदः।

(शिष्योपक्रमणीयविमाने कश्यपः)

आयु (ष्) शब्द का अर्थ है—जीवन। विद् धातु जानने और प्राप्त करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस ज्ञान से जीवन को जाना जाता है, प्राप्त किया जाता है, उसकी हिंसा नहीं करता, इसलिए यह आयुर्वेद है।

आयुर्वेद-लक्षण[1]

'हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥' (च० सू० १।४१)

हितायु, अहितायु, सुखायु (सुखयुक्त) एवं दुःखायु (दुःखयुक्त) इस प्रकार चतुर्विध जो आयु है, उस आयु के हित तथा अहित अर्थात् पथ्य तथा अपथ्य और आयु का प्रमाण एवं उस आयु का स्वरूप जिसमें कहा गया हो, वह आयुर्वेद (Science of Life) कहा जाता है।

आयु का स्वरूप एवं आयु के पर्यायवाचक शब्द

'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरुच्यते॥' (च० सू० १।४२)

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग, धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध—इन पाँच पर्यायवाचक शब्दों से आयु कही जाती है। ये शब्द आयु के स्वरूप का भी प्रतिपादन करते हैं।

पाञ्चभौतिक शरीर, चक्षुरादि इन्द्रियाँ, मन और आत्मा, इनका संयोग जिस किसी पुरुष में जितने समय तक रहता है, उतने समय तक की उस पुरुष की आयु होती है। अतः शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग ही आयु है।

---

१. च० सू० ३०।२३ भी देखें।

सत्त्व, आत्मा, शरीर तथा इन्द्रियों के परस्पर संयोग को धारण करने से धारि, प्राणों को जीवित रखने से जीवित, नित्य प्रतिक्षण गमनशील होने से नित्यग और अपरापर (उत्तरोत्तर) शरीरसंयोग रूप अनुबन्ध से आयु को अनुबन्ध कहा गया है ।

इसके अतिरिक्त 'तत्रायुश्चेतनानुवृत्तिः' (च० सू० ३०।२२) अर्थात् गर्भ से मरणपर्यन्त चेतना के रहने को आयु कहा गया है ।

आयुर्वेद का नित्यत्व

आयुर्वेद एक नित्य विज्ञान है और सृष्टि के प्रवाह के साथ अनादि काल से प्रवाहित है। यह 'प्राक्कथन' में दिग्दर्शित है। परन्तु वह नित्य क्यों है ? इसकी नित्यता में क्या कारण है ? इस पर यहाँ विचार करना है। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक ने कहा है—

'सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च ।' (च० सू० ३०।२७)

१. अनादित्वात्—अनादि होने से । अनादि का अभिप्राय निम्न है—

(क) आयुर्वेद की न कभी उत्पत्ति हुई और न होती है । अतः यह अनादि है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति न हो, उसे अनादि कहते हैं ।

(ख) शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा, इनका संयोग ही आयु है । इस संयोग स्वरूप आयु का प्रवाह कब से चला आ रहा है और कब तक रहेगा । यह किसी को विदित नहीं है । कहा गया है—'संयोगोऽयमनन्तवान्' यह संयोग अनन्त है और आदि काल से चला आ रहा है । जब आयु नित्य है, तब उसका वेद आयुर्वेद भी नित्य है ।

(ग) जिस प्रकार आयु के सन्तान (प्रवाह) का परापर योग से क्रम बना हुआ है, कभी अवरोध नहीं हुआ, उसी प्रकार बुद्धि के प्रवाह का भी कभी अभाव नहीं हुआ । आत्मा और बुद्धि (ज्ञान) का सम्बन्ध है । ज्ञान आत्मा को ही होता है, आत्मा ही चैतन्य स्वरूप तथा ज्ञाता है, आयु के चलते हुए प्रवाह का उसे निरन्तर ज्ञान है । अतः आत्मा आयु का ज्ञाता और नित्य है, फलस्वरूप बुद्धि का भी प्रवाह सतत् बना हुआ है, कभी इसका भी अभाव नहीं हुआ ।

(घ) 'एतेन वेद्यवेदनवेदितृणामनादित्वादायुर्वेदस्य नित्यत्वम् ।' (चक्रपाणि)

इस ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता के अनादित्व से अर्थात् अनादि काल से चले आते रहने से आयुर्वेद का नित्यत्व माना जाता है ।

(ङ) सुख अर्थात् आरोग्य-स्वरूप सुख और दुःख व्याधि-स्वरूप दुःख, ये दोनों अनादि काल से चले आ रहे हैं । कारण यह है कि प्रशस्त द्रव्यों के सेवन से सुख स्वरूप आरोग्य और अप्रशस्त द्रव्यों के सेवन से दुःख-स्वरूप रोग, इनका क्रम तथा

शरीर आरोग्य रहने पर आरोग्य के लक्षण तथा शरीर व्याधिग्रस्त होने पर व्याधि के लक्षण और इन सभी का ज्ञान सदा अनादि काल से चला आ रहा है। संसार में ऐसा कोई भी नहीं है, जो द्रव्यों का सेवन न करता हो। उनमें कुछ द्रव्य आरोग्य के कारण और कुछ द्रव्य रोग के कारण हैं, जो जैसा सेवन करता है तद्वत् उसे उसका वैसा ही फल प्राप्त होता है और तद्वत् लक्षण होते है। इस प्रकार सुख एवं दुःख के कारण द्रव्य तथा तत्कारणजनित कार्य के लक्षण, उनका ज्ञान, उनके उपाय और उन सबों के प्रतिपादक आयुर्वेद की उपादेयता अनादिकाल से ही है। अतः इन सब कारणों से आयुर्वेद नित्य है।

२. स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्—यह द्रव्यों के स्वभाव से ही सिद्ध लक्षण है कि जो द्रव्य जिस गुण वाले होते हैं, उनसे उन्हीं शारीरिक गुणों की वृद्धि और तद्भिन्न गुणों का ह्रास होता है। इस प्रकार द्रव्यों का यह स्वभावसिद्ध लक्षण आयुर्वेद की नित्यता का द्योतक है, क्योंकि इन सभी का सम्बन्ध आयुर्वेद से है।

३. भाव-स्वभावनित्यत्वात्—भाव पदार्थ का जो अपना स्वभाव है, वह नित्य है। वह किसी का बनाया हुआ नहीं है और न उसका नाश होता है। जैसे अग्नि में उष्णता एवं जल में द्रवता आदि। इसी प्रकार गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत एवं उष्ण द्रव्यों के सेवन से सामान्य, विशेष इस सिद्धान्त के अनुसार गुरु द्रव्य से गुरुत्व गुण की वृद्धि, लघुत्व का ह्रास, लघु द्रव्य से लघुत्व की वृद्धि, गुरुत्व का ह्रास होता है, जो पदार्थों की नित्यता का द्योतक है। इन सभी विषयों का सम्बन्ध आयुर्वेद से है। इसका ज्ञान आयुर्वेद से प्राप्त होता है, साथ ही आयुर्वेद में इसकी उपादेयता है। आयु के लिए क्या हित, क्या अहित है, किसका सेवन, किसका असेवन करना चाहिए, यही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद नित्य है।

आयुर्वेद की नित्यता के उक्त साधक कारणों के अतिरिक्त मुख्य बात यह है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। वेद नित्य हैं, अतः उसका अङ्ग आयुर्वेद भी नित्य है। वेद ज्ञान है, ज्ञान को कोई बनाता नहीं है, यह ईश्वरीय प्रेरणा से अन्तरात्मा में उत्पन्न होता है। आयुर्वेद आयु के ज्ञान का विषय है, ज्ञान स्वरूप है, अनादि काल से प्रवाहित है एवं अनादि काल से प्रवाहित सृष्टि-परम्परा के साथ यह भी प्रवाहित होता हुआ सृष्टि के प्राणियों का कल्याण करता हुआ चला आ रहा है। इस प्रकार आयुर्वेद सर्वथा निर्विवाद रूप से नित्य है।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त

मूल किसी अवयवी पदार्थ के उस अवयव को कहते हैं, जो उत्पत्ति के समय सर्वप्रथम अस्तित्व में आये तथा अपने अवयवी के साथ जीवन भर अपृथक् रहता हुआ अवयवी का पोषण एवं धारण करता हो, जिसके अभाव में अवयवी का अस्तित्व

भी समाप्त हो जाय। सिद्धान्त उसे कहते हैं, जो परीक्षकों द्वारा अनेक बार परीक्षा कर और हेतुओं द्वारा सिद्ध कर निर्णय स्थापित किया जाता है।[1] अतः मूल को लक्ष्य करके जो सिद्धान्त बनाये जाते हैं, उन्हें मौलिक सिद्धान्त कहते हैं।

भारतीय विद्वानों का सर्वसम्मत विचार यह है कि आयुर्वेद की जो कुछ विशेषताएँ हैं, वे उसके मौलिक एवं आधारभूत सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं, वही आयुर्वेद की मूलभित्ति या रीढ़ कही जाती हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इसके सिद्धान्त सर्वथा अक्षुण्ण एवं अपरिवर्तनीय हैं, वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. त्रिगुण।
२. पञ्चमहाभूत।
३. त्रिदोष।
४. सप्तधातु एवं ओज।
५. द्रव्यादि षट् पदार्थ।
६. द्रव्यगत रसादि पञ्च पदार्थ।
७. आत्मा-परमात्मा।
८. चरकानुमत चतुर्विंशति एवं सुश्रुतानुमत पञ्चविंशति तत्त्व।
९. पुनर्जन्म एवं मोक्ष।

१. त्रिगुण—सत्त्व, रज एवं तम, ये तीन गुण प्रकृति में रहते हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। यहाँ गुण का अर्थ धर्म नहीं है। विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि सत्त्वादि द्रव्य हैं, क्योंकि ये संयोग-विभाग युक्त हैं। अतः सत्त्व, रज और तम, ये मूल द्रव्य प्रकृति के उपादान तत्त्व हैं। ये 'गुण' इसलिए कहलाते हैं कि ये रस्सी के तीनों गुणों (रेशों) की तरह आपस में मिलकर पुरुष के लिए उपकरण (बन्धन) का कार्य करते हैं।[2]

गुणों में दो प्रकार के परिणाम होते हैं। प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण एक दूसरे से पृथक् होकर स्वतः अपने में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में गुणों से कोई कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वे पृथक् होकर कुछ भी नहीं कर सकते। सृष्टि के पूर्व तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। यही साम्यावस्था सांख्य की प्रकृति है। दूसरे प्रकार

---

१. 'सिद्धान्तो नाम सः यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।' (च० वि० ८।३७)

२. (क) सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि। न तु गुणाः। संयोगविभागलघुत्वचलत्वगुरुत्वादिधर्मकत्वात्। गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जुसाम्यात् पुरुषबन्धनहेतुतयौपचारिकः।
(ख) गुण शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—धर्म, डोरी, अगौण एवं सहकारी।

का परिणाम तब उत्पन्न होता है, जब गुणों में से एक प्रबल हो जाता है। जब ऐसा होता है, तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

२. पञ्चमहाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश, ये पञ्चमहाभूत हैं। इन्हीं से चेतनाधिष्ठान भूत मानव शरीर, आहार द्रव्य तथा औषध द्रव्य बने हैं। आहार द्रव्यों के द्वारा शरीर में इन तत्त्वों की पूर्ति होती रहती है। इन तत्त्वों की वृद्धि या ह्रास से जब कोई विकार पैदा होता है, तब उसे दूर करने के लिए उसी के अनुसार उन-उन तत्त्वों को घटाने या बढ़ाने वाले द्रव्य प्रयोग किये जाते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद का सम्पूर्ण विचार चाहे स्वास्थ्य सम्बन्धी हो अथवा विकार सम्बन्धी हो, पञ्चमहाभूत के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है।

३. त्रिदोष—सृष्टि यद्यपि पाञ्चभौतिक है, किन्तु इन पाँच महाभूतों में पृथ्वी अत्यन्त गुरु एवं स्थूल होने तथा आकाश अत्यन्त लघु एवं सूक्ष्म होने से कार्यकर नहीं होते हैं। अतः शेष तीन जल, अग्नि एवं वायु ही कार्यकर होते हैं। प्रकृति में ये तीनों सूर्य, चन्द्र और वायु रूप में प्राकृतिक क्रियाओं का संचालन-नियमन करते हैं। इसी प्रकार शरीर के अन्दर इनके प्रतिनिधि वात (वायु), पित्त (सूर्य) और कफ (जल) समस्त शारीरिक क्रियाओं का संचालन करते हैं। कफ का कार्य विसर्ग अर्थात् जलीय गुणों के कारण शरीर में रस का संचार (पोषण), पित्त का कार्य आदान अर्थात् आग्नेय गुणों के कारण पाचन, रूपान्तरण तथा शोषण और वायु का कार्य विक्षेप अर्थात् गतिकर्म से शारीरिक घटकों का संचालन और नियमन करना है।

वातादि दोषों का वैषम्य (विषमता-वृद्धि या क्षय) रोग तथा साम्य (समता-साम्यावस्था) अरोगता (आरोग्य-स्वास्थ्य) है। 'दूषयन्ति मनः शरीरं च इति दोषाः'। (सिद्धान्तनिदान-तत्त्वदर्शिनी) अर्थात् देह एवं मन को दूषित कर देने की विशेषता रखने के कारण दोष कहा जाता है। विजयरक्षित ने कहा है—'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति स्वातन्त्र्येण दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्'। अर्थात् दोष में प्रकृति निर्माण करने की क्षमता और स्वतन्त्रतापूर्वक शरीर को दूषित करने की प्रवृत्ति होती है।

३. सप्त धातु एवं ओज—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सप्तधातु हैं। इनमें रस का कार्य प्रीणन (तृप्तिकरण अथवा धातु-पुष्टिकरण), रक्त का कार्य जीवन (प्राणधारण), मांस कार्य लेप (अस्थि, मांस आदि का लेप), मेद का कार्य स्नेह (शरीर एवं नेत्रादि की स्निग्धता), अस्थि का कार्य शरीर-धारण, मज्जा का कार्य अस्थिपूरण एवं शुक्र का कार्य गर्भोत्पादन है।[1] आयुर्वेद का यह सिद्धांत है कि वातादि दोष दूषित होकर इन्हीं सप्तधातुओं को प्रथम दूषित करते हैं

१. प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणम्।
गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूनां क्रमशो विदुः॥ (अ० सं सू० १।३३)

तभी रोगोत्पत्ति होती है। इसी कारण सप्तधातुओं की दूसरी संज्ञा 'दूष्य' है। इसके अतिरिक्त ओज को आयुर्वेद में सबसे सारभूत धातु मानकर 'तत् नाशात् ना विनश्यति' यह कहकर सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है।

५. द्रव्यादि षट् पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय षट् पदार्थ हैं। कुछ लोग अभाव को भी एक सातवाँ पदार्थ मानते हैं। परन्तु आयुर्वेद ने उसे स्वीकार नहीं किया है। इसी कारण यहाँ षट् पदार्थों का ही उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं षट् पदार्थों पर ही आश्रित है।

६. द्रव्यगत रसादि पञ्च पदार्थ—

'द्रव्ये रसो गुणो वीर्यं विपाकः शक्तिरेव च।
पदार्थाः पञ्च तिष्ठन्ति स्वं स्वं कुर्वन्ति कर्म च॥' (भावमिश्र)

षट् पदार्थों में जो द्रव्य एक पदार्थ है, उसमें षट् रस, गुण, वीर्य, विपाक और शक्ति, जिसे प्रभाव कहते हैं, पदार्थ में होते हैं, जिन पर चिकित्सा आश्रित है। इनमें प्रभाव अचिन्त्य है, जिसकी कोई परिभाषा नहीं है।

७. आत्मा-परमात्मा

'निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥' (च० सू० १।५६)

आत्मा निर्विकार विकृति रहित है तथा परः अर्थात् सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ है। वह आत्मा मन, भूतगुण शब्दादि और इन्द्रिय चक्षुरादि कारणभूत के साथ योग युक्त होने पर चैतन्य में कारण होता है। चैतन्य आत्मा में होता है। वह नित्य है, देह नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है। 'द्रष्टा' देखने वाला है। अर्थात् साक्षी-स्वरूप है। साक्षी होने के कारण सत्त्व एवं शरीर की सारी क्रियाओं को देखता है।

पञ्चधातुओं से निर्मित शरीर पंजर के अध्यक्ष आत्मा को ही जीवन युक्त होने से जीव, विविध कर्मों का कर्ता होने से कर्मात्मा, कर्मों के फलों का भोक्ता होने से भोगात्मा, चिकित्सा का अधिष्ठान होने से चिकित्स्य पुरुष, चतुर्विंशति या पञ्चविंशति तत्त्वों का समुदाय होने से राशिपुरुष, चतुर्विंशतत्त्वात्मक अथवा पञ्चविंशतत्त्वात्मक पुरुष, शरीर रूपी पुर में शयन करने से पुरुष आदि नामों से जाना जाता है। इस समुदायात्मक आत्मा से भिन्न जो अबद्ध आत्मा है, उसे जगत् का संचालक होने से ईश्वर "ईशनशीलः ईश्वरः", सर्वोत्कृष्ट होने से परमात्मा, शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ, प्राणियों के कर्मों का कूटस्थ द्रष्टा होने से साक्षी, अनादि अनन्त होने से अव्यय, अक्षर, व्यक्त न होने से अव्यक्त आदि नामों से कहा जाता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा के उक्त सभी नाम औपाधिक हैं। वस्तुतः आत्मा तो सदा एक और अपरिणामी है, उसके विभिन्न रूप होते ही नहीं। अतः इन नामों की वास्तविकता मात्र व्यावहारिक है।

८. चरकानुमत चतुर्विंशति एवं सुश्रुतानुमत पञ्चविंशति तत्त्व—अव्यक्त, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, उभयात्मक मन, इस प्रकार ये चतुर्विंशति तत्त्व हैं। अव्यक्त जो मूल प्रकृति है, उसी में पुरुष का समावेश चरक ने कर चतुर्विंशति तत्त्व युक्त ही पुरुष माना है और सुश्रुत ने इन चौबीसों तत्त्वों को अचेतन तथा चैतन्य स्वरूप पुरुष को पच्चीसवाँ तत्त्व माना है।

९. पुनर्जन्म एवं मोक्ष—आयुर्वेद पुनर्जन्म एवं मोक्ष के सिद्धान्त को मानता है और इसी के अनुसार इसकी सारी क्रियाएँ, समस्त उपदेश एवं समस्त क्रम वर्णित हैं।

'येषां द्वन्द्वे पराऽऽसक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां, न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥
मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसङ्क्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥'

(च० शा० १।६९, १४२)

जिनकी द्वन्द्व रजस्तमोरूप मिथुन में आसक्ति है, जो अहंकारपरक हैं, उन्हीं का उदय-प्रलय अर्थात् जन्म-मरण अथवा लय-सर्ग होता है, जो इससे भिन्न हैं, वे जन्म-मरण से मुक्त हैं। रज और तम के अभाव, बलवत्कर्म के संक्षय तथा सर्व-संयोग अर्थात् शरीर, बुद्धि, अहंकारादि के असंयोग से मोक्ष होता है।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद का प्रयोजन अथवा मूलभूत सिद्धांत स्वस्थ के स्वास्थ्य का संरक्षण एवं रोगी के रोग का हेतु, लक्षण एवं औषध जानकर रोग का प्रशमन भी है। महर्षियों ने संसार में आयुर्वेद का प्रकाश इसी त्रिसूत्र को ध्यान में रखते हुए किया है—

'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥' (च० सू० १।२४)

संसार में विभिन्न प्रकार की भयंकर व्याधियों के उत्पन्न होने पर महर्षि भरद्वाज ने जब इन्द्र के पास जाकर उनसे उन व्याधियों की शान्ति के लिए उपाय पूछा, उस समय इन्द्र ने आदिदेव ब्रह्मदेव द्वारा जाने हुए आयुर्वेद का अल्प शब्दों में उपदेश किया। ब्रह्मदेव ने जिस आयुर्वेद का ज्ञान दिया था, वह स्वस्थ एवं आतुर का उत्कृष्ट मार्गदर्शक था। अर्थात् स्वस्थ के लिए तो स्वास्थ्य-संरक्षण किस प्रकार होगा, इस मार्ग का दर्शक था तथा आतुर के लिए आतुर की आतुरता किस प्रकार नष्ट होगी, इस मार्ग का दर्शक था, जो हेतु (कारण), लिंग (लक्षण) और औषध (रोग भेषज) इनका ज्ञान-स्वरूप अर्थात् इनके ज्ञान से परिपूर्ण था। इस प्रकार हेतु, लिंग और औषध, इन तीनों विषयों से परिपूर्ण होने से त्रिसूत्रात्मक, नित्य एवं पुण्यात्मक आयुर्वेद का ज्ञान ब्रह्मा को हुआ और ब्रह्मा से ऐसा ही औरों ने अध्ययन

किया। फलतः स्वस्थ एवं हेतु, लिंग और औषध के आधार पर आतुर का उत्कृष्ट मार्ग-दर्शन आयुर्वेद का सिद्धांत है, जिसके आधार पर आयुर्वेद पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है।

इसके अतिरिक्त महर्षि चरक ने स्वस्थ एवं आतुर के हित के लिए कुछ और भी मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिनका स्वास्थ्य रक्षा एवं चिकित्सा में अनुसरण करना परमावश्यक है। वे निम्नांकित हैं—

'अथ खलु त्रय उपस्तम्भाः, त्रिविधं बलं, त्रीण्यायतनानि, त्रयो रोगाः, त्रयो रोगमार्गाः, त्रिविधा भिषजः, त्रिविधमौषधमिति।' (च० सू० ११।३४)

(१) तीन उपस्तम्भ—आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य। इन तीनों के सम्बन्ध में बतलाए गये नियमों के अनुसार चलने से मनुष्य का शरीर जीवन पर्यन्त बल-वर्णयुक्त रहता है।

(२) त्रिविध बल—सहज, कालज एवं युक्तिकृत।

१. सहज—यह शरीर एवं मन का प्राकृतिक बल है, जो जन्म से प्राप्त रहता है।

२. कालज—ऋतुजनित एवं अवस्थाजनित।

३. युक्तिकृत—आहारजन्य, उचित विश्राम, व्यायामजन्य तथा रसायनादि औषधजन्य।

(३) तीन आयतन—अर्थ, कर्म तथा काल का अतियोग, अयोग तथा मिथ्या योग।

१. अर्थ—इन्द्रियों के शब्दादि पञ्च विषय।

२. कर्म—काय, वाक् एवं मन। अर्थात् शरीरकृत, वाणीकृत एवं मनःकृत।

३. काल—शीत, उष्ण एवं वर्षा।

इन तीनों के अतियोग, अयोग तथा मिथ्यायोग ही रोग के कारण हैं।

(४) तीन रोग—निज, आगन्तुक एवं मानस।

१. निज रोग—शारीरिक वातादि दोषजनित।

२. आगन्तुक रोग—भूत, विष, वायु, अग्नि एवं संप्रहारादिजनित।

३. मानस रोग—काम, हर्ष एवं शोकादि।

(५) तीन रोगमार्ग—शाखा, मर्मास्थि एवं कोष्ठ।

१. शाखा—रक्तादि धातु, त्वक्, यह बाह्य रोगमार्ग हैं।

२. मर्मास्थि संधि—मर्म (वस्ति, हृदय, मूर्धादि), अस्थि, संधि, अस्थिसंयोग यह मध्यम रोगमार्ग है।

३. कोष्ठ—महास्रोत। कोष्ठ शब्द से आमाशय, अग्नाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताशय, हृदय, उण्डूक तथा फुप्फुस का ग्रहण होता है। यह आभ्यान्तरिक रोगमार्ग है।

(६) त्रिविध भिषक्—छद्मचर, सिद्धसाधित तथा वैद्य गुणों से युक्त, ये तीन प्रकार के वैद्य होते हैं।

१. छद्मचर—जो लोग शीशी, बोतल, कुछ यन्त्रादि, कुछ पुस्तकें रख लेने तथा कुछ यहाँ-वहाँ पुस्तकों के अवलोकन से वैद्य कहे जाते हैं, वे मूर्ख तथा प्रतिरूपक वैद्य हैं।

२. सिद्धसाधित—जो वैद्य नहीं हैं, किन्तु यश, ज्ञान, सिद्धि के बहाने वैद्य शब्द को प्राप्त कर लेते हैं, वे ज्ञानहीन सिद्धसाधित वैद्य हैं।

३. वैद्य गुणों से युक्त—जो प्रयोग, ज्ञान, विज्ञान, सिद्धि से सिद्ध सुख देने वाले हैं, वे ही प्राणदाता हैं और उन्हीं में वैद्यत्व अवस्थित है।

(७) त्रिविध औषध—दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय एवं सत्त्वावजय।

१. दैवव्यपाश्रय—मंत्र, औषधि, मणि, मङ्गल, बलि, उपहार, होम (हवन), नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन (वेदोक्तकर्म), प्रणिपात (देवताओं को शरीर से नमस्कार) तथा गमन (देवस्थानों में जाना) है।

२. युक्तिव्यपाश्रय—आहार तथा औषध द्रव्य की योजना है।

३. सत्त्वावजय—अहित विषयों से मन को हटाना या दूर रखना।

(८) त्रिविध औषध—शारीरिक दोष जनित रोग में।

१. अन्तःपरिमार्जन—औषध का आन्तरिक प्रयोग। इस प्रयोग से शरीर में औषध प्रविष्ट होकर रोग दूर करता है।

२. बहिःपरिमार्जन—अभ्यंग, स्वेद, प्रदेह, परिषेक एवं उन्मर्दनादि।

३. शस्त्र-प्रणिधान—छेदन तथा भेदनादि शस्त्रकर्म हैं।

द्वितीय अध्याय

पदार्थ

पदार्थ-विज्ञान का प्रयोजन

आयुर्वेदीय पाठचक्रम के अन्तर्गत पदार्थविज्ञान, आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त एवं आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त आदि, विभिन्न नामों से सम्प्रति जिस विषय का अध्ययन-अध्यापन किया जा रहा है, वह 'आयुर्वेदीय दर्शन' है।

आचार्य मनु का कथन है कि सम्यक् दर्शन सम्पन्न (प्राप्त) होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में बाँध नहीं सकते, जिनको यह सम्यक् दृष्टि प्राप्त नहीं हैं, वे ही संसार-बन्धन में फँस जाते हैं।

'सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपाद्यते ॥'

(मनुसंहिता ६।७४)

प्राणिमात्र को आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक दुःखों का अनुभव समय-समय पर होता रहता है। इसलिए प्राणिमात्र दुःखों से निवृत्ति हेतु उपाय किया करते हैं, क्योंकि दुःखों को दूर करने के लिए प्रवृत्त होना जीवमात्र का स्वाभाविक धर्म है। यद्यपि आध्यात्मिक शारीरिक दुःख रसायनादि औषधि के सेवन से, मानसिक दुःख इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार से, आधिभौतिक दुःख सावधानीपूर्वक रहने एवं नीति से चलने से तथा आधिदैविक दुःख मणि-मन्त्र धारण आदि लौकिक उपायों से शान्त हो सकते हैं, किन्तु निश्चित नहीं है कि लौकिक उपायों से दुःख दूर हो जाय, क्योंकि उपर्युक्त उपायों से अनेक लोगों के दुःख नष्ट नहीं होते और कभी नष्ट होने पर पुनः पैदा हो जाते हैं। अतः ऐकान्तिक (अवश्यम्भावी) एवं आत्यन्तिक (अपुनरावृत) दुःख-निवृत्ति लौकिक उपायों से नहीं हो सकती, किन्तु तत्त्वज्ञान से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति निश्चित हो सकती है।

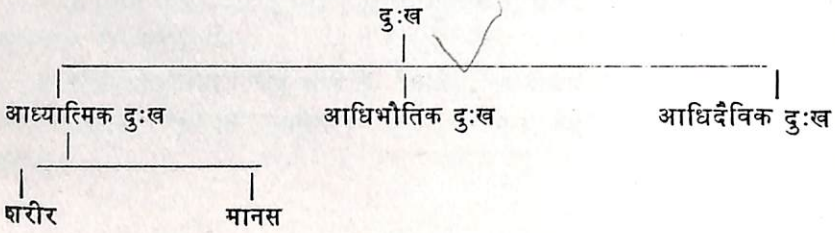

'दुःखत्रयाभिघाताज जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।' (सांख्यकारिका–१)

महर्षि चरक ने कहा है कि मनुष्य को संसार में जन्म लेकर तीन एषणाएँ (कामनाएँ) करनी चाहिए—(क) प्राणैषणा, (ख) धनैषणा और (ग) परलोक एषणा । इसमें तृतीय तथा अन्तिम एषणा परलोक प्राप्ति है, जो कि मनुष्य को जीवन्मुक्त करती है ।

आत्मा, परमात्मा, चरकानुसार त्रिविध पुरुष, सुश्रुतानुसार पुरुष, मूल प्रकृति, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, एकादश इन्द्रियाँ, लोक और पुरुष का साम्य, न्याय-वैशेषिक-सांख्य आदि दर्शन तथा चरक, सुश्रुत द्वारा प्रतिपादित पदार्थ एवं प्रमाण ज्ञान—ये सभी विषय मानव जीवन व्यतीत करने एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति ही पदार्थविज्ञान का प्रयोजन है ।

पदार्थविज्ञान का आयुर्वेद में उपयोग

आयुर्वेद एक चिकित्साविज्ञान है । स्वस्थ के स्वास्थ्य का संरक्षण एवं रोगी के रोग का उन्मूलन इसका प्रयोजन है । इसमें पदार्थविज्ञान का उपयोग निम्न प्रकार है—

महर्षि चरक एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय, इस भेद से कुल भिन्न-भिन्न षट् हैं । इनमें प्रथम पदार्थ द्रव्य कहा गया है, परन्तु अन्य सभी पदार्थ भिन्न होते हुए भी द्रव्य आश्रित अथवा सम्बन्धित हैं । वह द्रव्य तीन प्रकार का है—

'किञ्चिद्दोषप्रशमनं किञ्चिद्धातुप्रदूषणम् ।
स्वस्थवृत्तौ हितं किञ्चित् त्रिविधं द्रव्यमुच्यते ।।' (च० सू० १।६८)

कुछ द्रव्य दोषों को शान्त करते हैं, कुछ द्रव्य धातुओं को दूषित करते हैं एवं कुछ द्रव्य स्वस्थवृत्त के लिए कहे गये हैं, अर्थात् कुछ द्रव्य स्वस्थ के स्वास्थ्य का संरक्षण करते हैं । दोष शारीरिक तथा मानसिक भेद से दो हैं । शारीरिक दोष—वात, पित्त और कफ तथा मानसिक दोष—रज और तम हैं । ये दोष ही शारीरिक तथा मानसिक रोगोत्पत्ति के कारण हैं, जिनका प्रशामक द्रव्य ही है । इसी प्रकार धातु भी रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र, इस प्रकार कुल सात हैं । इनका भी दूषण द्रव्य करता है । इस प्रकार द्रव्य ही रोगशामक, द्रव्य ही धातु-प्रदूषक तथा द्रव्य ही स्वास्थ्यरक्षक अर्थात् सब कुछ द्रव्य ही है । कारण यह है कि कर्म और गुण सब कुछ द्रव्य में ही आश्रित है । इस प्रकार आयुर्वेद के दोनों प्रयोजनों के सिद्धि साधक द्रव्य गुण और कर्मरूप पदार्थ का उपयोग आयुर्वेद में पग-पग पर है ।

सामान्य और विशेष का प्रतिपादन करते हुए महर्षि चरक ने कहा है कि सब पदार्थों की समानता वृद्धि और विशेषता ह्रास का कारण है। जहाँ तक चिकित्सा का सम्बन्ध है, चिकित्सा इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर की जाती है। चिकित्सा के अवसर पर यदि इनका ध्यान न दिया जाय तो चिकित्सा ही सम्भव नहीं है। जैसे किसी को शीतकारक द्रव्य अथवा आहार-विहार के उपयोग से शीतजनित रोगों की उत्पत्ति हुई, उस समय यदि सामान्य और विशेष इन सिद्धान्तों का अनुसरण न कर शीतकारक ही आहार-विहार का उसे सेवन कराया जाय, तो यह निश्चय है कि समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से शीत की और वृद्धि हो जायेगी। यदि हम सामान्य विशेष सिद्धान्त का अनुसरण कर शीतजनित रोगों में तद्विपरीत उष्णकारक द्रव्य एवं आहार-विहार का उपयोग उसे आरम्भ करा देंगे, उस दशा में निश्चय ही वह शीत-जनित व्याधि दूर हो जायेगी। इसी प्रकार शारीरिक धातु समान द्रव्य, गुण तथा कर्म के सेवन से वृद्धि और तद्विपरीत से ह्रास को प्राप्त होते हैं। जैसे—मांस का मांस, रक्त का रक्त आदि समान द्रव्य-सेवन से वृद्धि; दूध, घृत, मधुर, स्निग्ध, शीत आदि जो द्रव्य हैं, उनके सेवन से शुक्र की वृद्धि; स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्र तथा पिच्छिल गुण वाले पदार्थों के सेवन से कफ की वृद्धि एवं दौड़ने, तैरने तथा लंघन आदि कर्म से वायु की वृद्धि और एक स्थान पर बैठे रहने से, सोने आदि कर्म से कफ की वृद्धि होती है तथा तद्विपरीत द्रव्य, गुण और कर्म के सेवन से ह्रास होता है। सारांश यह है कि समान द्रव्य, गुण, कर्म से समान द्रव्य, गुण, कर्म की वृद्धि होती है तथा तद्विपरीत से ह्रास होता है।

द्रव्य की भाँति वात, पित्त, कफ के जो गुण हैं, तद्गुणयुक्त पदार्थ के सेवन से उनकी वृद्धि और इसी प्रकार वात, पित्त तथा कफ वर्द्धक जो कर्म हैं, उनके सेवन करने से उनकी वृद्धि और तद्विपरीत आचरण से उनका ह्रास होता है। फलतः यह जान लेना परमावश्यक है कि जिस प्रकार द्रव्य के बिना चिकित्सा अथवा स्वास्थ्य रक्षा असम्भव है, ठीक उसी प्रकार समझना चाहिए कि सामान्य और विशेष पर ही चिकित्सा का अस्तित्व बना हुआ है।

इसी प्रकार समवाय की भी चिकित्सा में उपयोगिता है। जहाँ द्रव्य है, वहाँ द्रव्य गुण को छोड़कर नहीं रहता और उसी प्रकार गुण द्रव्य को छोड़कर नहीं रहता। द्रव्य और गुण का एक सम्बन्ध है, जो समवाय-सम्बन्ध नाम से कहा जाता है और वह नित्य सम्बन्ध है। चिकित्सा के अवसर पर जब रोगों को नष्ट करने के लिए द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, उस समय यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि जिस द्रव्य का हम उपयोग करते हैं, उसमें समवायसम्बन्ध से उस द्रव्य का गुण वर्तमान है और इसी गुण के अनुसार वह द्रव्य रोग पर अपना कार्य करता है। अतः पदार्थविज्ञान का आयुर्वेद में सर्वात्मना सतत् उपयोग है, जो आप्तोपदेश प्रत्यक्षानुमानोपमान चारों प्रमाणों से सिद्ध है।

इनके अतिरिक्त इस दृष्टि से भी विचार आवश्यक है कि आयुर्वेद का अधिकरण अथवा आयुर्वेद का अधिष्ठान कौन है ? इस सम्बन्ध में महर्षि ने कहा है—

'सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत् ।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् ।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः ॥' (च० सू० १।४६-४७)

सत्त्व (मन), आत्मा और पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मक शरीर ये तीनों तीन दण्डों की भाँति संयुक्त रूप में होने पर लोक इस शब्द से कहे जाते हैं। वही सत्त्वादित्रय 'पुरुष' यह कहा जाता है, वह चैतन्यस्वरूप है और वही इस आयुर्वेद का अधिकरण है। उसी के लिए अर्थात् उसी के उपकार के लिए यह आयुर्वेद प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार महर्षि सुश्रुत के भी वचन हैं—

'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्।' (सु० सू० १।१८) इस शास्त्र अर्थात् आयुर्वेद में पञ्चमहाभूत और शरीरी आत्मा इनका संयोग 'पुरुष' कहा जाता है। उसी पुरुष में सभी प्रकार की क्रियाएँ अर्थात् औषधि, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि आदि स्वस्थवृत्तकर सभी कर्म होते हैं, क्योंकि वही अधिष्ठान है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि वह पुरुष कौन है, वह किन-किन तत्त्वों का समुदाय है, उसके क्या कर्म है, वह किस प्रकार रोगाक्रान्त तथा किस प्रकार स्वस्थ रहता है, उसकी समग्र वेदनाएँ किस प्रकार शान्त होती है एवं उसका सांसारिक जीवन से किस प्रकार मोक्ष होता है ? इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न उस पुरुष के सम्बन्ध में उत्पन्न हो जाते हैं। महर्षि चरक के अनुसार पुरुष के सम्बन्ध में कुल तेईस प्रश्न किये गये हैं—

'प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः।
कतिधा पुरुषीयेऽस्मिन्निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥' (च० शा० १।१५६)

यह सब विषय पदार्थविज्ञान के ही हैं। पदार्थविज्ञान के बिना अन्य विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है। फलतः पदार्थविज्ञान का आयुर्वेद में उपयोग आयुर्वेद अवतरण के साथ ही साथ चला आ रहा है।

पदार्थ-विवरण

महर्षि चरक ने चरकसंहिता के सिद्धिस्थान के बारहवें अध्याय में कुल छत्तीस एवं महर्षि सुश्रुत ने सुश्रुतसंहिता के उत्तरतन्त्र के पैंसठवें अध्याय में कुल बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र ज्ञान के लिए कहीं हैं। उन तन्त्रयुक्तियों में 'पदार्थ' नाम से भी एक 'तन्त्रयुक्ति' दोनों महर्षियों ने कही है, जिससे 'पदार्थ' भी एक 'तन्त्रयुक्ति' है। तन्त्र शब्द का अर्थ शास्त्र है। शास्त्र का पर्यायवाची शब्द तन्त्र है, जैसा कि प्रारम्भ में

कहा गया है। युक्ति शब्द का अर्थ योजना है। इसका विशद विवेचन 'गुण-प्रकरण' में किया गया है। इस प्रकार 'तन्त्रयुक्ति' शब्द का अर्थ 'शास्त्र-योजना' है, जिसके द्वारा शास्त्र के अव्यक्त, लेशमात्र कथित, संदिग्ध, गूढ़ एवं दुर्विज्ञेय विषयों का सम्यक्तया परिज्ञान होता है और वही ज्ञान हमें मोक्षप्राप्ति तक पहुँचाता है।

पदार्थ शब्द की निरुक्ति

'पद्यते गम्यते येनार्थः स पदार्थः।' जिसके द्वारा किसी वस्तु-विशेष अथवा विषय का अवबोध हो, उसे पदार्थ कहते हैं।

'पद्यते गम्यते येनार्थ इति सूत्रस्यापि पदत्वात् सूत्रे योऽर्थः प्रतिपादितः स पदार्थः'।

(डल्हणाचार्य)

जिससे अर्थ जाना जाता है तथा सूत्र का भी पदत्व होने से सूत्र में जो अर्थ प्रतिपादित है, वह पदार्थ है। तात्पर्य यह है कि पूरे सूत्र का पदत्व हो जाता है और पूरे सूत्र रूपी पदत्व से जो अर्थ प्रतिपादित होता है, वह पदार्थ है।

पद

पद शब्द भाषा में एक सार्थक शब्द या अक्षर को कहते हैं। यह शब्द भाव, करण और अधिकरण, तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। जिसके द्वारा चलते हैं, वह पैर भी पद है, जहाँ पहुँचते हैं, अधिकरण में वह भी पद है। अधिकरण या लक्ष्य के अर्थ में आत्मा ही अन्तिम प्राप्तव्य है। अतः मुख्य पद वहाँ पहुँचने के उपायों में विचार का माध्यम बनकर भाषा का अंश शब्द भी पद कहलाता है। मुख्य पद आत्मा या हृदय से जो तरंग ऊपर की ओर जाती है, वह वाणी (भाषा) का पद है और जो नीचे की ओर आती है, उसे पैर (Foot) कहने लगे।

'आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥'

(मुण्डकोपनिषद् २।१)

गर्भाशय में उत्पन्न होने वाली प्रसवकालीन तरंगों को आवि कहते हैं। अप्रकट वस्तु के प्रकट होने को आविर्भाव या आविष्कार कहा जाने लगा। इस दृष्टि से मूल पद हृदयस्थ चैतन्य ही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मस्तिष्क में वाणी का केन्द्र और अधः शरीर का प्रतिबिम्ब संश्लिष्ट जैसे ही है। संस्कृत भाषा वैज्ञानिक भाषा इसलिए है कि मन में उठने वाली तरंगों को बाह्य जगत् में उठने वाली क्रियाओं को एक रूप बनाकर शब्दोच्चारण का प्रयास किया गया है। उदाहरण के तौर पर जल शब्द के बोलने में 'ज' तालु से बोला जाता है और 'ल' दन्तीस्थान से। स्पष्ट है कि जिह्वा की गति ऊपर से नीचे की ओर दर्शायी जाती है। ठीक यही क्रिया बादल से गिरने वाले पानी में होती है। अतः उसे जल कहा जायेगा और जो

पानी पृथ्वी से ऊपर आता है, उसे उदक—उद् + अक (उर्ध्व गति) कहते हैं। संस्कृत पढ़ने वाले विद्वान् बोलने की प्रक्रिया के आधार पर मन की तरंगों को नियन्त्रित करने का प्रयास करते हैं। व्याकरण, शिक्षा, छन्द और निरुक्त, इन चारों प्रकारों से शब्द को विचार और अन्दर की प्रक्रियाओं का सशक्त माध्यम बनाया जाता है।

हृदयस्थ तरंगे ही नियमित और तालबद्ध होकर पैरों के माध्यम से चलने की विधा (Gait) में स्पष्ट होती है। मनुष्य की चलने की क्रिया में जो कि एक ऊर्ध्व-अधः रेखा है, उसमें पैर की गति पेण्डुलम (दोलक) की तरह मध्यबिन्दु को तालबद्ध गति से पार करती है। पेण्डुलम एक वृत्ताकार गति ही है, यह बात स्वयं स्पष्ट है। स्थिर पैर घूमते हुए दोलक का मध्यबिन्दु ही समझना चाहिए। चलने की गति के आधार न केवल मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक प्रकृतियों को समझा जा सकता है, अपितु उसमें विद्यमान अव्यक्त प्रवृत्तियों को भी समझा जा सकता है। गति की विधा में परिवर्तन (Center of Gravity) जो प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न स्थान पर होती है, स्थिर रखने के लिए किया जाता है। पाणिनी ने अपनी अष्टाध्यायी की रचना करते समय कुछ अधिकार-सूत्रों की रचना की है। यह अधिकार-सूत्र एक Axioim की तरह समझना चाहिए, जिनसे सन्दर्भित सूत्रों या प्रक्रियाओं को नियमित किया जाता है। भाषा के पदों को नियन्त्रित करने के लिए पाणिनी ने 'समर्थः पद-विधिः' सूत्र दिया है। अर्थात् पदविधि सशक्त सामर्थ्यवान् उद्देश्य सहित ही होती है। विज्ञान के विद्यार्थियों को भाषा के पद और चलने वाले पद में तारतम्य ढूंढ़ने का प्रयास करना चाहिए। चेतना के क्षीण होने पर सबसे पहले परिवर्तन बोलने और चलने में एक साथ प्रतीत होता है। जैसा कि मद्य पीने की प्रथम अवस्था में होता है।

पद का लक्षण

१. 'सुप्तिङन्तं पदम्'—'सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।'

व्याकरण के अनुसार सुबन्त और तिङन्त की पद संज्ञा होती है। उदाहरण-स्वरूप सुबन्त 'राम' और तिङन्त 'भवति' ये दोनों ही पद हैं। इस प्रकार सभी सुबन्त और तिङन्त पद कहे जाते हैं।

२. 'पदन्नाम सुप्तिङ्प्रत्ययान्तो यो वर्णसमुदाय एकाक्षरो वाऽर्थजुष्टस्तत्पदम्।'

(पदार्थविज्ञान : श्रीसत्यनारायण शास्त्री)

सुप्-तिङ्प्रत्ययान्त अर्थयुक्त जो अक्षर-समूह अथवा एकाक्षर हो, उसे पद कहते हैं।

३. 'शक्तम्पदम्'। (नैयायिक)

शक्तिसम्पन्न पद की पद संज्ञा होती है। अर्थात् प्रत्येक पद में शक्ति होती है और जो पद जिसके लिए प्रयुक्त होता है, पदनिष्ठ शक्ति के आधार पर उस पद से उसी

का ग्रहण होता है। पद में शक्ति ईश्वरेच्छा रूप होती है। जैसे उत्पन्न शिशु का ग्यारहवें दिन नामकरण करना चाहिए और पिता नामकरण करता है, उस नाम से उसी शिशु का ग्रहण होता है, जिसका वह नामकरण किया गया है। यह सब ईश्वरेच्छास्वरूप है। इस प्रकार पदनिष्ठ शक्ति ईश्वरेच्छारूप है। इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए, घट पद से घट अर्थ और पट पद से पट अर्थ, यह सब ईश्वरेच्छा है, किन्तु नव्य लोग ईश्वरेच्छा शक्ति है, यह नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि 'ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव' अर्थात् ईश्वरेच्छा शक्ति नहीं है, किन्तु इच्छा ही है।

पद के भेद

पद तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक एवं योगरूढ़।

१. रूढ़—इन शब्दों से जो अर्थ निकलता है, वह प्रकृति व्युत्पत्ति के अधीन नहीं रहता है अथवा धातु, प्रत्यय आदि पर आश्रित नहीं होता है। ऐसे पदों का खण्ड करने पर उनका कोई अर्थ नहीं होता है। जैसे—शुण्ठी, कान, नाक आदि।

२. यौगिक—इन शब्दों का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार स्वतः होता है, क्योंकि इस प्रकार के शब्द किसी धातु से निर्मित होते हैं। जैसे—पाचक शब्द पच् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ 'पचतीति पाचकः' अर्थात् भोजन पकाने वाला रसोइयाँ होता है।

३. योगरूढ़—इन शब्दों का अर्थ कुछ तो अवयव पर और कुछ समुदाय पर निर्भर करता है। ऐसे शब्द अपना साधारण अर्थ त्याग कर विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। जैसे—पंकज का अर्थ 'पंक' (कीचड़) में 'ज' जन्म लेने वाला होता है। किन्तु दोनों अर्थों को छोड़कर पंकज शब्द का अर्थ कमल होता है। अगर यह कहा जाय कि पंक में उत्पन्न होने के कारण यह कमल अर्थ हुआ हो, तो पंक में बहुत-सी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु उन्हें पंकज नहीं कहा जाता।

अर्थार्थ

अर्थ शब्द 'ऋच्छ गतौ' धातु से अथवा 'ऋ गतौ' धातु से सिद्ध होता है। 'ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि इति अर्थः' अर्थात् इन्द्रियाँ जिसे प्राप्त करती है, उसे अर्थ कहते हैं।

'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।' (अमरकोष)

अभिधेय, रै (धन), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति, इन अर्थों में अर्थ शब्द प्रयुक्त होता है।

'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।' (च० शा० १।२१)

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध जो गुण हैं, अर्थ हैं।

पदार्थ-लक्षण

पदार्थ का अर्थ है—वह वस्तु, जिसका किसी पद (शब्द) से बोध होता है। अतः जितनी भी वस्तुएँ हैं या जिनका नामकरण सम्भव है, वे सभी पदार्थ हैं।

१. 'अर्थः पदस्य।' (च० सि० १२।४१)

पद का अर्थ पदार्थ है।

२. 'पदार्थो नाम पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः'। (चक्रपाणि)

'पदस्य' एक पद, 'पदयोः' दो पद अथवा 'पदानाम्' बहुत पदों का अर्थ पदार्थ है।

३. 'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः'। (सू० उ० ६५।७)

किसी सूत्र अथवा पद के कहने से जिस अर्थ का अवबोध होता है, वह एक, दो अथवा बहुत पदों का अर्थ पदार्थ है।

४. 'पदप्रतिपाद्योऽर्थः'। (तात्पर्य-टीका)

पद से प्रतिपादित होने योग्य अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

५. 'अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्'। (तर्कदीपिका)

किसी नाम को धारण करने योग्य जो वस्तु है, अर्थात् जिसका कोई नाम हो, वह पदार्थ है।

६. 'प्रमितिविषयाः पदार्थाः'। (सप्तपदार्थी)

प्रमिति (ज्ञान) का विषय पदार्थ कहा जाता है।

७. 'षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि'। (प्रशस्तपाद)

षट् जो पदार्थ हैं, उनका अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व हो। ज्ञेयत्व अर्थात् जो जानने योग्य हो।

८. 'पदेनोच्चार्यमाणेन यद्वस्तु प्रतिपद्यते।
तस्य पदस्य तद्वस्तु पदार्थ इति कीर्तितः॥'

उच्चारण किये जाते हुए पद से जिस वस्तु की प्रतिपत्ति होती है, अर्थात् उच्चरित पद से जिस वस्तु का बोध होता है, उस पद का वह वस्तु पदार्थ है।

९. 'पदनिष्ठशक्तिविषयत्वमिति पदार्थत्वम्'।
(पदार्थविज्ञान : श्रीसत्यनारायण शास्त्री)

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पद शक्तिमान होते हैं, उनमें अपनी-अपनी शक्ति होती है, उस शक्ति के अनुसार उच्चरित पद से जो अर्थ गृहीत होता है, वह पदार्थ है। इस प्रकार पदार्थ पदनिष्ठ शक्ति का विषय है।

पदार्थ के भेद एवं उनकी संख्या के सम्बन्ध में मत-मतान्तर

१. 'द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च।' (च० सू० ११।१७)

का ग्रहण होता है। पद में शक्ति ईश्वरेच्छा रूप होती है। जैसे उत्पन्न शिशु का ग्यारहवें दिन नामकरण करना चाहिए और पिता नामकरण करता है, उस नाम से उसी शिशु का ग्रहण होता है, जिसका वह नामकरण किया गया है। यह सब ईश्वरेच्छास्वरूप है। इस प्रकार पदनिष्ठ शक्ति ईश्वरेच्छारूप है। इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए, घट पद से घट अर्थ और पट पद से पट अर्थ, यह सब ईश्वरेच्छा है, किन्तु नव्य लोग ईश्वरेच्छा शक्ति है, यह नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि 'ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव' अर्थात् ईश्वरेच्छा शक्ति नहीं है, किन्तु इच्छा ही है।

पद के भेद

पद तीन प्रकार के होते हैं—रूढ़, यौगिक एवं योगरूढ़।

१. रूढ़—इन शब्दों से जो अर्थ निकलता है, वह प्रकृति व्युत्पत्ति के अधीन नहीं रहता है अथवा धातु, प्रत्यय आदि पर आश्रित नहीं होता है। ऐसे पदों का खण्ड करने पर उनका कोई अर्थ नहीं होता है। जैसे—शुण्ठी, कान, नाक आदि।

२. यौगिक—इन शब्दों का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार स्वतः होता है, क्योंकि इस प्रकार के शब्द किसी धातु से निर्मित होते हैं। जैसे—पाचक शब्द पच् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ 'पचतीति पाचकः' अर्थात् भोजन पकाने वाला रसोइयाँ होता है।

३. योगरूढ़—इन शब्दों का अर्थ कुछ तो अवयव पर और कुछ समुदाय पर निर्भर करता है। ऐसे शब्द अपना साधारण अर्थ त्याग कर विशेष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। जैसे—पंकज का अर्थ 'पंक' (कीचड़) में 'ज' जन्म लेने वाला होता है। किन्तु दोनों अर्थों को छोड़कर पंकज शब्द का अर्थ कमल होता है। अगर यह कहा जाय कि पंक में उत्पन्न होने के कारण यह कमल अर्थ हुआ हो, तो पंक में बहुत-सी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु उन्हें पंकज नहीं कहा जाता।

अर्थार्थ

अर्थ शब्द 'ऋच्छ गतौ' धातु से अथवा 'ऋ गतौ' धातु से सिद्ध होता है। 'ऋच्छन्ति इन्द्रियाणि इति अर्थः' अर्थात् इन्द्रियाँ जिसे प्राप्त करती है, उसे अर्थ कहते हैं।

'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु।' (अमरकोष)

अभिधेय, रै (धन), वस्तु, प्रयोजन तथा निवृत्ति, इन अर्थों में अर्थ शब्द प्रयुक्त होता है।

'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः।' (च० शा० १।२१)

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध जो गुण है, अर्थ हैं।

पदार्थ-लक्षण

पदार्थ का अर्थ है—वह वस्तु, जिसका किसी पद (शब्द) से बोध होता है। अतः जितनी भी वस्तुएँ हैं या जिनका नामकरण सम्भव है, वे सभी पदार्थ हैं।

१. 'अर्थः पदस्य।' (च० सि० १२।४१)

पद का अर्थ पदार्थ है।

२. 'पदार्थो नाम पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः'। (चक्रपाणि)

'पदस्य' एक पद, 'पदयोः' दो पद अथवा 'पदानाम्' बहुत पदों का अर्थ पदार्थ है।

३. 'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः'। (सू० उ० ६५।७)

किसी सूत्र अथवा पद के कहने से जिस अर्थ का अवबोध होता है, वह एक, दो अथवा बहुत पदों का अर्थ पदार्थ है।

४. 'पदप्रतिपाद्योऽर्थः'। (तात्पर्य-टीका)

पद से प्रतिपादित होने योग्य अर्थ को पदार्थ कहते हैं।

५. 'अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्'। (तर्कदीपिका)

किसी नाम को धारण करने योग्य जो वस्तु है, अर्थात् जिसका कोई नाम हो, वह पदार्थ है।

६. 'प्रमितिविषयाः पदार्थाः'। (सप्तपदार्थी)

प्रमिति (ज्ञान) का विषय पदार्थ कहा जाता है।

७. 'षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि'। (प्रशस्तपाद)

षट् जो पदार्थ हैं, उनका अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व हो। ज्ञेयत्व अर्थात् जो जानने योग्य हो।

८. 'पदेनोच्चार्यमाणेन यद्वस्तु प्रतिपद्यते।
तस्य पदस्य तद्वस्तु पदार्थ इति कीर्तितः॥'

उच्चारण किये जाते हुए पद से जिस वस्तु की प्रतिपत्ति होती है, अर्थात् उच्चरित पद से जिस वस्तु का बोध होता है, उस पद का वह वस्तु पदार्थ है।

९. 'पदनिष्ठशक्तिविषयत्वमिति पदार्थत्वम्'।

(पदार्थविज्ञान : श्रीसत्यनारायण शास्त्री)

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पद शक्तिमान होते हैं, उनमें अपनी-अपनी शक्ति होती है, उस शक्ति के अनुसार उच्चरित पद से जो अर्थ गृहीत होता है, वह पदार्थ है। इस प्रकार पदार्थ पदनिष्ठ शक्ति का विषय है।

पदार्थ के भेद एवं उनकी संख्या के सम्बन्ध में मत-मतान्तर

१. 'द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च।' (च० सू० ११।१७)

'यत्किञ्चित्प्रमाणप्रतीयमानं, तद् द्विविधम्। तद् द्वैविध्यमाह—सच्चासच्च; सदिति विधिविषयप्रमाणगम्यं भावरूपम् असदिति निषेधविषयप्रमाणगम्यम् अभावरूपम्।'

(चक्रपाणि)

महर्षि चरक ने कहा है कि सत् और असत् भेद से सब दो प्रकार के हैं। इसी विषय को चक्रपाणि ने कहा है कि प्रमाणों के द्वारा जो कुछ ज्ञातव्य है, वे दो प्रकार के हैं—(क) सत्, (ख) असत्। इनमें जो विधि-विषय प्रमाणों द्वारा ज्ञातव्य है, वे सत् एवं जो निषेध-विषय प्रमाणगम्य हैं, वे अभाव रूप हैं। तात्पर्य यह है कि सत् और असत् अर्थात् भाव और अभाव सब दो रूप में विभक्त हैं।

२. 'महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च॥
समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिताः।
लेभिरे परमं शर्म जीवितं चाप्यनश्वरम्॥'

(च० सू० १।२७–२८)

उन महर्षियों ने ज्ञानदृष्टि से ठीक-ठीक सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म तथा समवाय, इस प्रकार कुल षट् पदार्थों का दर्शन किया। अर्थात् ज्ञान प्राप्त किया तथा उन्हें जानकर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्थित होकर परम सुख तथा अनश्वर अर्थात् अविनाशशील जीवन प्राप्त किया।

३. 'अपरिमिताश्च पदार्थाः।' (सु० उ० त० ६५।७)

महर्षि सुश्रुत के अनुसार पदार्थ अपरिमित अर्थात् असंख्येय हैं।

४. 'पदार्थः द्विविधाः—भावरूपा अभावरूपाश्च। भावरूपाः षड्विधाः अभावरूपाश्चतुर्विधा इति'। (कारिकावली टिप्पणी)

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—भावरूप एवं अभावरूप। भावरूप षट् प्रकार के और अभाव रूप चार प्रकार के होते हैं।

५. 'धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्'। (वै० द० १।४)

'तत्त्वज्ञान' विशेष्य का 'धर्म' प्रसूताद् विशेषण है। धर्मविशेषप्रसूताद् अर्थात् पुण्य-विशेष से उत्पन्न हुए द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन षट् पदार्थों के तात्त्विक ज्ञान से मोक्ष होता है।

६. 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'।

(न्या० द० १।१)

(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११)

जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति एवं (१६) निग्रहस्थान। इन षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। महर्षि चरक ने विमानस्थान के आठवें अध्याय में वादमार्गज्ञानार्थ इनका वर्णन किया है।

७. 'द्रव्यं गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाऽभावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः॥' (सिद्धान्तमुक्तावली)

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव, इस प्रकार कुल सात पदार्थ नव्य न्याय के अनुसार हैं। द्रव्यादि षड्विध भावरूप है और सातवाँ अभाव अभावरूप पदार्थ है।

८. 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'॥ (सां० का० ३)

पुरुष, मूलप्रकृति, महत्, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत इन पचीस तत्त्वों को सांख्यदर्शन ने पदार्थ के रूप में प्रतिपादित किया है।

९. जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ सात हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आश्रव, (४) बन्ध, (५) सम्बर, (६) निर्जरा एवं (७) मोक्ष।

१०. मीमांसकों में प्रभाकर के अनुसार पदार्थ आठ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। कुमारिल ने पाँच पदार्थ माना है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। मुरारिमिश्र ने एक ब्रह्म एवं चार भौतिक पदार्थ धर्मिविशेष, धर्मविशेष, आधारविशेष और प्रदेशविशेष या दैशिक माना है।

११. वेदान्तियों ने दो पदार्थ माना है—(क) आत्मरूप पदार्थ एवं (ख) अनात्मरूप पदार्थ।

१२. रामानुजाचार्य एवं निम्बार्काचार्य ने तीन पदार्थ माना है—(१) ईश्वर (सर्वान्तर्यामी), (२) चित् (भोक्ता-जीव) तथा (३) अचित् (भोग्य एवं भोग्य जगत्)।

अभाव

'प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वमभावत्वम्'।

जिस विषय का ज्ञान प्रतियोगी (उसके विरोधी) के ज्ञान के अधीन हो, उसे अभाव कहते हैं। अ=नहीं, भाव=सत्ता या उपस्थिति। अर्थात् किसी वस्तु का न होना या किसी स्थान पर उसकी उपस्थिति न होना—उसका अभाव कहलाता है। नव्य न्याय वालों ने छः पदार्थों के अतिरिक्त अभाव को भी पदार्थ माना है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव भेद से अभाव दो प्रकार का होता है।

१. संसर्गाभाव के भेद—(क) प्रागभाव, (ख) प्रध्वंसाभाव और (ग) अत्यन्ताभाव।

(क) प्रागभाव—कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उस कार्य का जो अभाव रहता है, वह प्रागभाव कहा जाता है। यह अभाव यद्यपि अनादि है तथापि नाशवान् है। जैसे—घट की उत्पत्ति न होने तक उसका अभाव रहता है, किन्तु उत्पत्ति होने पर उसका अभाव अर्थात् प्रागभाव नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह वहाँ नहीं रहता है। अतः प्रागभाव अनादि होने पर भी सान्त होता है।

(ख) प्रध्वंसाभाव—वह अभाव है, जो कार्य के विनष्ट हो जाने के पश्चात् हो जाता है। जैसे—घट के नष्ट हो जाने के पश्चात् जो घट का अभाव हो जाता है, वह प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि हुए कार्य के नाशजनित अभाव को प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। यह अभाव सादि होने पर भी अनन्त होता है।

(ग) अत्यन्ताभाव—त्रैकालिक अभाव अत्यन्ताभाव कहा जाता है। जैसे—वायु में रूप का अभाव। यह ससंर्गाविच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव होने से अत्यन्ताभाव है।

२. अन्योन्याभाव—एक वस्तु का अन्य वस्तु में जो अभाव होता है, उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे—घट पट न होने से और पट घट न होने से घट में पट का और पट में घट का जो अभाव रहता है, वह अन्योन्याभाव कहा जाता है। अर्थात् अभेद, ऐक्य या तादात्म्य से जो अभाव हो, उसको अन्योन्याभाव कहते हैं।

नव्य न्याय के आचार्यों ने दो पदार्थ माने हैं—१. भाव पदार्थ २. अभाव पदार्थ। वैशेषिक दर्शन ने अभाव को पृथक् नहीं माना है, क्योंकि अभाव को पृथक् मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। जिन प्रमाणों से भाव पदार्थ का ग्रहण होता है, उन्हीं प्रमाणों से अभाव का भी ग्रहण होता है।

आयुर्वेद एक व्यावहारिक शास्त्र है, जो स्थूलदर्शी है और सृष्टि को पाञ्चभौतिक मानता है। वह पञ्चमहाभूतों और उनसे उत्पन्न भाव पदार्थों की चिन्ता करता है। इस प्रकार अनुपयोगी होने से आयुर्वेद ने अभाव पदार्थ की आवश्यकता नहीं माना है, क्योंकि अभाव न तो स्वास्थ्य-संरक्षण कर सकता है, न तो विकार को शान्त करने में योगदान कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि भोजन न करने से वायु की वृद्धि होती है, जिससे वातव्याधि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार कुछ रोग ऐसे होते हैं, जो भोजनाभाव (उपवास) से निवृत्त हो जाते हैं। जैसे—नेत्ररोग, कुक्षिगत रोग, प्रतिश्याय, व्रण तथा ज्वर।

'अक्षिकुक्षिभवारोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः।
पञ्चैते विनिवर्तन्ते रोगाः केवललङ्घनात्॥'

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जैसे भाव पदार्थ रोगों की उत्पत्ति और निवृत्ति में कारण है, वैसे ही अभाव भी रोगों की उत्पत्ति तथा निवृत्ति में कारण है। अतः अभाव को सप्तम पदार्थ मानना चाहिए, किन्तु फिर भी अभाव को सप्तम पदार्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि अभाव के होने में कोई कारण नहीं होता, जब कि भाव पदार्थ सकारण होता है। जिसका कारण नहीं है उसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। अभाव है, इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं। यदि भोजन के अभाव से रोग की उत्पत्ति या निवृत्ति की बात की जाती है, तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भोजनाभाव के कारण शरीर में लघुता 'गुण' का भाव होने से ही रोग की उत्पत्ति या निवृत्ति होती है।

इसी कारण आचार्य चरक ने अभाव को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना है, क्योंकि अभाव होने में कोई कारण नहीं होता।

पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य

'समानो धर्मः साधर्म्यम्, विरुद्धो धर्मो वैधर्म्यम्।'

समानधर्म 'साधर्म्य' और असमान धर्म 'वैधर्म्य' कहा जाता है। पदार्थों के अन्तर्गत कुछ ऐसे धर्म हैं, जो समान रूप से रहते हैं, वे पदार्थों के साधर्म्य कहे जाते हैं और उनमें कुछ ऐसे धर्म हैं, जो उनमें असमान रूप से रहते हैं, वे पदार्थों के वैधर्म्य कहे जाते हैं।

पदार्थों का साधर्म्य—

१. द्रव्यादि षट् पदार्थों का प्रथम साधर्म्य यह है कि अस्तित्व (स्वरूपत्व), अभिधेय (अभिधानयोग्यता) और ज्ञेयत्व (ज्ञानविषयता) सभी में है।

२. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य एवं विशेष में समवायित्व और अनेकत्व धर्म समान रूप से हैं।

३. गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय में निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व धर्म सूक्ष्म रूप से हैं।

४. द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता सम्बन्ध, सामान्य और विशेषत्व, धर्माधर्म कर्तृत्व के धर्म समान रूप से हैं।

उक्त साधर्म्य के अतिरिक्त कुछ और भी साधर्म्य हैं—

१. द्रव्य, गुण और कर्म तीनों का एक द्रव्य ही कारण है, तीनों एक द्रव्य के आश्रय रहते हैं, यही इन तीनों का साधर्म्य अथवा समानता है।

२. जिस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म का कारण एक द्रव्य होता है, उसी प्रकार गुण भी उन तीनों का कारण होता है। यह भी द्रव्य, गुण तथा कर्मों का गुण के साथ साधर्म्य है। जैसे—कारण द्रव्यों का 'संयोग' गुण कार्य द्रव्य का कारण हुआ,

कार्य रूपादि गुणों का कारण भी कारण रूपादि हुए और गुरुत्वादि गुण उत्क्षेपणादि कर्मों के कारण हुए, इस प्रकार सब द्रव्य गुण कर्मों का कारण कोई न कोई गुण है।

३. संयोग, विभाग और वेगों का कारण कर्म है। तीनों का कारण एक कर्म होने से तीनों का साधर्म्य है।

४. जिस प्रकार द्रव्यों के कारण द्रव्य होते हैं, उसी प्रकार द्रव्यों के कार्य भी द्रव्य होते हैं। जैसे—घट दो कपालों का कार्य द्रव्य है, यह समानता है। यह द्रव्य और द्रव्य कार्य का साधर्म्य है।

५. सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव की कोई जाति नहीं है। अतः यह परस्पर सामान्यहीन होने से समानधर्मी हैं।

६. सभी द्रव्यों का साधर्म्य क्षिति आदि जो नव द्रव्य है, उनमें द्रव्यत्व जाति और गुणवत्ता सामान्य रूप में पाये जाते हैं।

७. पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश—इन पाँचों में भूतत्व ऐसा विशेष गुण है, जिसका प्रत्यक्ष बाह्येन्द्रियों से होता है।

८. पृथ्वी, जल, तेज और वायु इनमें स्पर्शत्व तथा द्रव्यारम्भकत्व समान धर्म है।

पदार्थों का वैधर्म्य—

१. द्रव्य में गुण एवं कर्म रहते हैं। गुण एवं कर्म में द्रव्य नहीं रहते।

२. द्रव्य नव, गुण इकतालिस और कर्म पाँच अथवा बहुत है। सामान्य एक, दो और तीन तक तथा विशेष कई प्रकार का होता है।

३. आरम्भ या आहरण द्रव्य का ही होता है, दूसरों का नहीं।

प्रमेय के स्वरूप

१. 'योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम्'। (वात्स्यायन)

जो ज्ञान का विषय माना जाता है, वह प्रमेय है। प्रमा यथार्थ ज्ञान है और उस यथार्थ ज्ञान का विषय प्रमेय है। इस प्रकार प्रमेय ज्ञान का विषय है।

२. 'प्रमाणेन प्रमीयते यत् तत् प्रमेयम्'। (श्रीगंगाधर कविराज)

प्रमाण से जो जाना जाता है, वह प्रमेय है।

प्रमेय के भेद

'आत्माशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।'

(न्या० द० १।९)

१. आत्मा, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख एवं १२. अपवर्ग, ये कुल बारह प्रमेय हैं।

वैशेषिक में जो षट् द्रव्यादि पदार्थ एवं सांख्यदर्शन में पुरुष-प्रकृत्यादि पंच-विंशति तत्त्व कहे गये हैं, वे सब प्रमेय हैं। इस प्रकार अपने-अपने शास्त्र में प्रतिपादित पदार्थ अथवा तत्त्व सब प्रमेय हैं।

प्रमाण-प्रमेयरूप पदार्थ-वैशिष्ट्य

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान एवं ४. शब्द, कुल चार प्रमाण हैं। इनका विशद विवेचन प्रमाण स्थल पर किया गया है।

'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'। (सांख्यकारिका ४)

'पञ्चविंशतिपदार्थसमुदायस्य सिद्धिः निष्पत्तिः निश्चयः प्रमाणाद् भवति। एवञ्च प्रमाणैरेव पदार्थानां प्रतीतिः कर्तुं शक्येति'। (टीकाकार)

प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है। अर्थात् प्रमाणों के द्वारा ही प्रमेय का ज्ञान किया जाता है।

इस प्रकार 'प्रमाण' ज्ञान का साधन है और इसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है। प्रमेय ज्ञान का विषय है, इसका ज्ञान किया जाता है, एक ज्ञान का साधन और एक ज्ञान का विषय है। यही प्रमाण और प्रमेय दोनों में विशेषता अर्थात् दोनों का वैशिष्ट्य है।

लक्षण-विचार

'त्रिविधा च अस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्य अभिधानमुद्देशः, तत्र उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मः लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वा इति प्रमाणैः अवधारणं परीक्षा'।

(न्या० सू० १।१।२ वात्स्यायन-भाष्य)

इस शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—१. उद्देश्य, २. लक्षण एवं ३. परीक्षा।

१. उद्देश्य—नाम से पदार्थ का संकीर्तन उद्देश्य है। जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय पदार्थ हैं। इस प्रकार का संकीर्तन उद्देश्य है। 'उद्देशो नाम सङ्क्षेपाभिधानम्, यथा हेतुलिङ्गौषधज्ञानम् अनेन सर्वायुर्वेदाभिधेयोद्देशः।'

किसी विषय का संक्षेप में अभिधान उद्देश्य है। जैसे—प्रारम्भ में महर्षि चरक ने हेतु, लिङ्ग, औषधि का ज्ञान यह संक्षेप में त्रिसूत्र कहकर सब आयुर्वेद का अभिधेय निर्दिष्ट कर दिया है। इससे आयुर्वेद के सम्बन्ध में उनका क्या वक्तव्य है, यह उनके उद्देश्य का ज्ञान हो गया है।

२. लक्षण—'असाधारणो धर्मो लक्षणम्'। असाधारण धर्म लक्षण है। लक्षण के तीन दोष हैं। इन तीनों दूषणों से रहित धर्म लक्षण है। वही असाधारण धर्म है और भी कहा है—'लक्ष्यते वर्णनीयं वस्तु येन तल्लक्षणम्'। जिससे वर्णनीय विषय

लक्षित हो अर्थात् जाना जाय, उसे लक्षण कहते हैं। लक्षणों के जो तीन दोष हैं, उसके निम्न प्रकार हैं—(क) अव्याप्ति, (ख) अतिव्याप्ति तथा (ग) असम्भव।

लक्षण के ये तीन दोष हैं। जिस लक्षण में इनमें से कोई एक भी दोष रहता है, वह शुद्ध एवं निर्दुष्ट लक्षण नहीं कहा जाता है।

(क) अव्याप्ति—'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः'।

जिसका लक्षण किया जाय, वह लक्ष्य है। लक्षण को लक्ष्य के सभी भागों में घटना चाहिए, परन्तु लक्षण का लक्ष्य के एक देश में घटना अव्याप्ति दोष कहा जाता है। जैसे गाय का लक्षण करते हुए यह कहा जाय कि कपिल वर्ण की गाय होती है। इससे काली, सफेद, लाल रंग की गायों का ग्रहण नहीं होता है। अतः यह लक्षण कपिल वर्ण एक ही देश (भाग) में घटने से 'अव्याप्ति' दोष युक्त हो जाता है।

(ख) अतिव्याप्ति—'लक्ष्यवृत्तित्वे सत्यलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः'।

जिस लक्ष्य का लक्षण किया जाय, वह लक्षण उस लक्ष्य में भी घटित हो और अन्यत्र भी घटित हो जाय, यह अतिव्याप्ति दोष है। जैसे यह कहा जाय कि गाय के सींग होता है। अतः सींग होना गाय का विशेष लक्षण है, तो जिन-जिन पशुओं के सींग होगी, उनमें भी गाय का बोध होने लगेगा। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है।

(ग) असम्भव—'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः'।

लक्ष्य मात्र में लक्षण का घटित न होना असम्भव दोष है। जैसे यह कहा जाय कि 'एकशफत्वं गोत्वम्' अर्थात् एक खुर वाला होना गाय का लक्षण है, तो यह असम्भव है, क्योंकि गाय के एक नहीं दो खुर होते हैं।

३. परीक्षा——जिसका लक्षण किया जाय, वह किये हुए लक्षणों के अनुसार है अथवा नहीं है, यह प्रमाणों के आधार पर विचार किया जाना परीक्षा है।

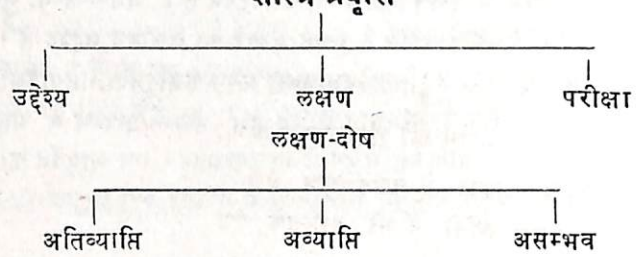

दर्शन शब्द का अर्थ एवं उसकी व्यापकता

दृश् धातु में ल्युट् प्रत्यय करने पर दर्शन शब्द बनता है। भाव, करण, अधिकरण में प्रायः ल्युट् प्रत्यय होता है। इस प्रकार देखने की क्रिया, देखने का यत्न

और दर्शन क्रिया जिसके लिए है, वह भी दर्शन कहलाता है। इसलिए यद्यपि द्रष्टा स्वयं कभी नहीं देखा जाता, फिर भी 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' (योगसूत्र)। दृष्टा होने पर बिना जल के संश्लेष के उसमें अस्तित्व की अनुभूति नहीं होती है। जैसे बिना दर्पण के अपने को नहीं देखा जा सकता है। भारतीय दर्शनों में वेदान्त और सांख्य में चैतन्य तत्त्व को केवल द्रष्टा माना जाता है—'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।' (योगदर्शन)

इस प्रकार योग की साधना-प्रणाली और सांख्य की चिन्तन-प्रणाली के आधार पर दर्शन शब्द का व्यवहार होने लगा—'अयमेव परमो धर्मः यद् योगेन आत्म-दर्शनम्।' यह अन्तिम कर्त्तव्य है कि योग के द्वारा अपने आत्मा का दर्शन करें।

आयुर्वेद ने द्वैत एवं त्रैत वाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करके प्रकृति-पुरुष एवं ईश्वर-जीव-प्रकृति के सिद्धान्तों को माना है। इसलिए चतुर्विंशति पुरुष, भूतात्मा, जीवात्मा आदि शब्दों का व्यवहार आयुर्वेद में प्रचुरता से मिलता है।

आयुर्वेद के दार्शनिक सिद्धान्तों की व्यापकता को इस दृष्टिकोण से समझना चाहिए कि बिमार व्यक्ति या रोगी सभी प्रकार के विचार रखने वाले होते हैं। वाग्भट्ट ने कहा है—

'जनस्याऽऽशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति।
तं तथैवाऽनुवर्तेत पराराधनपण्डितः' ॥ (अ० हृ० सू० २।२८)
'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः' ॥ (च० सू० २८।३५)

सभी प्राणी सुखप्राप्ति के उपाय में लगे हैं। ज्ञान-अज्ञान की विशेषता के कारण ही सुखप्राप्ति के मार्ग बदल जाते हैं।

दर्शन का उद्भव

वेदों के समय से ही एकत्ववाद (वेदान्त), द्वैतवाद (सांख्य-योग), त्रैतवाद (वैशेषिक-न्याय-मीमांसा) का चिन्तन प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार अनेक सन्दर्भ वेदमन्त्रों में यत्र-तत्र उपलब्ध है। कालान्तर में एक-एक विचार के आधार पर एक-एक प्रणाली को लेकर पृथक्-पृथक् दर्शन ग्रन्थों की रचना हुई।

दर्शन की संख्या एवं श्रेणी विभाजन

आजकल दो प्रकार के दर्शनशास्त्र प्रचलित हैं, एक भारतीय एवं दूसरा पाश्चात्य। भारतीय दर्शनों में भी आस्तिक एवं नास्तिक भेद से दो प्रकार के दर्शन हैं।

परलोक, ईश्वर एवं वेद प्रामाण्य में जिनका विश्वास है, वे आस्तिक दार्शनिक और जिनका अविश्वास है, वे नास्तिक दार्शनिक कहे गये हैं। कहा भी गया है—

१. 'अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः ।'

२. 'नास्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः ।'

अर्थात् परलोक है, ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह आस्तिक और परलोक नहीं है, ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह नास्तिक है ।

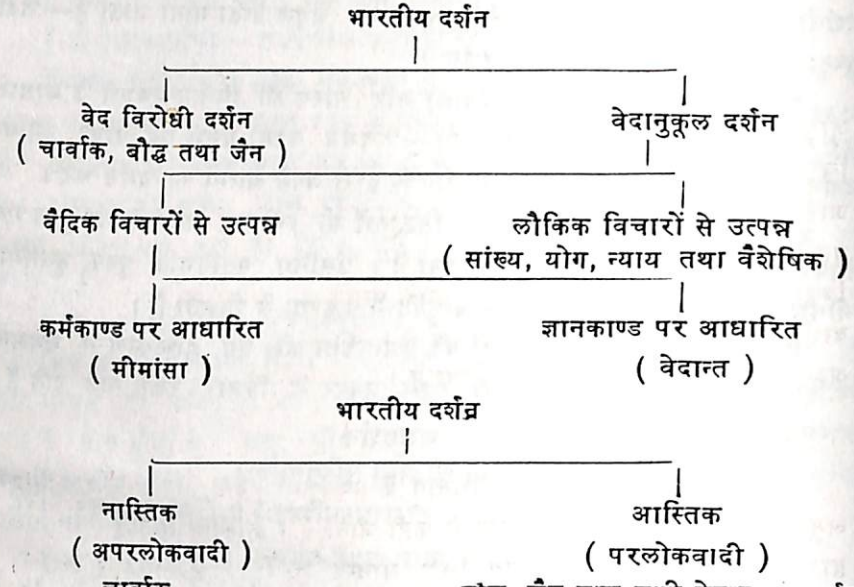

कपिल आदि षट् दार्शनिकों का परलोक आदि में विश्वास था, अतः वे आस्तिक दार्शनिक कहे गये, एकमात्र उनके बनाये हुए ही दर्शन ग्रन्थ आस्तिकों के लिए सर्वथा उपादेय हैं एवं उन्हीं दर्शन ग्रन्थों का यथास्थल इस ग्रन्थ की रचना में आश्रयण किया गया है । आस्तिक षड्दर्शनकार एवं उनके द्वारा बनाये हुए षड्दर्शन निम्नस्थ हैं—

१. गौतम	न्याय	(आन्वीक्षिकी, तर्कविद्या, वादविद्या आदि)
२. कणाद	वैशेषिक	(औलूक्यदर्शन)
३. कपिल	सांख्य	—
४. पतञ्जलि	योग	(सेश्वरसांख्य)
५. जैमिनि	मीमांसा	(पूर्वमीमांसा)
६. व्यास	वेदान्त	(उत्तरमीमांसा)

इसी प्रकार चार्वाक, बृहस्पति, बौद्ध आदि भी दार्शनिक हुए हैं, किन्तु वेद आदि में विश्वास न होने से वे नास्तिक दार्शनिक कहे गये हैं और उन्होंने जिन ग्रन्थों का निर्माण किया है, वे नास्तिक दर्शन ग्रन्थ माने गये हैं ।

पदार्थविज्ञान एक दार्शनिक विषय है, जिसके द्वारा सत् एवं असत् वस्तु विवेक-पूर्वक पदार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इससे मानव अपने अन्तिम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है तथा जीवन-मरण के बन्धन से भी मुक्त हो सकता है। महर्षि चरक ने कहा है—

'अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥' (च० शा० १।१५५)

इसके पश्चात् जीवात्मा प्रकृत्यादि रहित हो, ब्रह्मभूत हो जाता है, इसके जीवन्मुक्त हो जाने से प्राणापानादि आत्मलिङ्ग नहीं होते और उसका कोई बोधक चिह्न भी नहीं रह जाता। ब्रह्मवेत्ताओं को ही इसका ज्ञान होता है, मूर्ख इसे नहीं जान पाते, उक्त दार्शनिक विषय से वेद भरा हुआ है। वेद का अर्थ है—ज्ञान। इससे यह सिद्ध है वेद ज्ञानमूलक है और ईश्वरीय ज्ञान से भरा हुआ है, अतः दार्शनिक विषयों का आदि स्रोत वेद ही है। उनके प्रसार का क्रम ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक धाराएँ ऋग्वेद से निकली हुई हैं। वेद के अंतिम भाग से उपनिषदों के अध्यात्मवाद का विकास प्रारम्भ होता है।

षड्दर्शन

वेदान्त--सविशेष ज्ञान या चिन्तन के प्रवाह या अन्त होने पर जो निर्विशेष अनुभूति होती है, वह वेदान्त शब्द से कही जाती है। इसको नेति-नेति आदि शब्दों द्वारा तटस्थ लक्षणों से तथा सत् चित् आनन्द आदि स्वरूपावबोधक लक्षणों से बतलाया जाता है। वेदान्त-सिद्धान्त मूल रूप में श्रुति को ही अन्तिम प्रमाण मानता है। इस सम्बन्ध में व्यास के ब्रह्मसूत्रों को वेदान्त-सूत्र भी आचार्य शंकर के अनुयायी मानते हैं।

मीमांसा—मीमांसा सामान्यतः पूर्व और उत्तर दोनों भागों का बोधक है, किन्तु विशेष अर्थ में मीमांसा द्वारा पूर्वमीमांसा का बोध होता है। उत्तरमीमांसा के लिए वेदान्त शब्द प्रयुक्त होता है। मीमांसा-दर्शन यज्ञ आदि कर्मों से एक विशेष तत्त्व अदृष्ट की उत्पत्ति की कल्पना करता है। धर्म करते रहने से अदृष्ट के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त की जाती है। यह दर्शन आजीवन कर्म करने का आदेश देता है और संन्यास (कर्मत्याग) का प्रतिपक्षी माना जाता है।

सांख्य—यह दर्शनशास्त्र द्वैत का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दो मूल तत्त्व माने गये हैं। इन्हीं के पारस्परिक सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है। इनमें प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। इस शास्त्र में अव्यक्त नाम मूल प्रकृति, महान्, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ, पंचमहाभूत, एकादश इन्द्रियाँ तथा पुरुष इन कुल पच्चीस तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

योग—यह दर्शन-प्रधान न होकर साधना-प्रधान प्रणाली है। वेदान्त भी योग की क्रियाओं को स्वीकार करता है, परन्तु पतञ्जलि योगसूत्रों के द्वैतवाद को स्वीकार नहीं करता—'एतेन योगः प्रत्याख्यातः'। योगसूत्रों की चिन्तन-प्रणाली कपिल के सांख्यसूत्र के अधिक करीब है। पातञ्जल योगसूत्रों को सेश्वर सांख्य भी कहते हैं।

न्यायदर्शन—यह दर्शन मुख्य रूप से ऊहापोह की प्रणाली है। शब्दों के और विचारों के अस्त-व्यस्त रहने पर शुद्ध निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इसलिए न्यायदर्शन युक्तिसंगत तर्क को प्रधानता देता है और उपलब्धि को मुख्य प्रमाण मानता है। चरक ने प्रयोगवाद एवं ऊहापोह दोनों विधियों से शुद्ध निष्कर्ष को सिद्धान्त माना है—'सिद्धान्तो नाम सः यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।' (च० वि० ८।३७) सांख्य के सत्कार्यवाद को नहीं मानता। यदि मिट्टी ही घड़ा है तो मिट्टी के द्वारा ही पानी लाया जा सकता है, चूंकि मिट्टी में पानी लाने की क्रिया नहीं हो सकती, उसके लिए घट बनाना ही पड़ता है, इसलिए घट एक विशेष धर्म है, जो मिट्टी में पहले नहीं रहता है। यह एक व्यवहार (Pragmatism) को मुख्य मानता है।

वैशेषिक—प्रत्येक वस्तु स्वयं में एक पूर्ण ईकाई है। प्रत्येक आत्मा एक जीवात्मा है, उसके देश, काल और संस्कार आदि विशेषता के कारण इस दर्शन को वैशेषिक दर्शन कहा जाने लगा। न्याय एवं वैशेषिक दोनों दर्शन त्रैतवादी (ईश्वर-जीव-प्रकृति) है।

अन्य भारतीय दर्शन

चार्वाक दर्शन—यह जड़वाद चार्वाक या बार्हस्पत्य नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। अनुमान, आप्तोपदेश आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं, सभी संदिग्ध या भ्रममूलक हैं। यह पृथ्वी, अप्, तेज और वायु इन चार को ही भौतिक तत्त्व मानता है, आकाश को नहीं। इनका यह विचार है कि इन्हीं भूतों के समुदाय से शरीर की उत्पत्ति होती है और उसी से इन्द्रियाँ अपने विषय का ज्ञान करती है। जिस प्रकार किण्वादि द्रव्यों के मिलने से मद्य का निर्माण होता है, उसी प्रकार इनके विशिष्ट संयोग से चैतन्य उद्भूत होता है। काम को ही ये पुरुषार्थ और मृत्यु को मोक्ष मानते हैं—

(१) पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। (२) तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा। (३) तेभ्यश्चैतन्यम्। (४) किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्। (५) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। (६) काम एवैकः पुरुषार्थः। (७) मरणमेवापवर्गः। (गीता १६।११ की नीलकण्ठी व्याख्या)

जैन दर्शन—जैन मत के प्रवर्त्तकों का एक क्रम मिलता है। उसमें चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं। ये मुक्त थे तथा अपने मत का प्रचार भी किया करते थे। वर्द्धमान

इस क्रम में चौबीसवें तीर्थङ्कर माने जाते हैं। ये महावीर के नाम से सुविख्यात है। जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान एवं शब्द को प्रमाण मानते हैं। जैन-मतावलम्बी छः द्रव्य मानते हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल एवं जीव। बन्धनमुक्ति (मोक्ष) के लिए तीन उपाय बतलाये हैं—(१) सम्यक् दर्शन, (२) सम्यक् ज्ञान एवं (३) सम्यक् चरित्र। जैन ईश्वर को नहीं मानते। ईश्वर के स्थान पर ये योग तीर्थङ्कर को मानते हैं। बाह्य पदार्थों के विषय में कोई निश्चित मत इनका नहीं होता। सभी कुछ अनैकान्तिक स्वरूप है। ऐसा हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता, यही जैनियों का 'स्याद्वाद' है।

बौद्ध दर्शन—बौद्धधर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्धदर्शन अनीश्वरवादी, अनात्मवादी एवं अवेदवादी दर्शन है। इसके अनुसार चार द्रव्य है—जीव, पुद्गल, आकाश एवं काल। प्रत्यक्ष एवं अनुमान दो प्रमाण हैं। सभी संस्कार एवं वस्तुएँ क्षणिक हैं। चार प्रकार के भेद बौद्धदर्शनों के हैं— (१) माध्यमिक, (२) योगाचार, (३) सौत्रान्तिक एवं (४) वैभाषिक।

(१) माध्यमिक मत या शून्यवाद—इसके अनुसार यह संसार शून्य है। बाह्य तथा अन्तर सभी विषय असत् हैं।

(२) योगाचार या विज्ञानवाद—ये बाह्य पदार्थों की सत्ता को असत्य मानते हुए मनुष्य के आन्तरिक ज्ञान को बाह्य जगत् की सत्ता के रूप में भासित हुआ मानते हैं।

(३) सौत्रान्तिक मत—बाह्य पदार्थ एवं आभ्यन्तरिक ज्ञान दोनों प्रकार की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके मत में बाह्य पदार्थों का केवल अनुमान किया जाता है और केवल आन्तरिक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

(४) वैभाषिक मत—बाह्य पदार्थों को भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है, ऐसा मानते हैं।

आयुर्वेद के ऊपर अन्य दर्शनों का प्रभाव

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान ही नहीं, अपितु मौलिक दर्शन भी है। इसके पंच-महाभूतादि मौलिक सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धांत हैं। इसके अतिरिक्त षड्दर्शनगत दार्शनिक विषयों के समान ही इसके भी दर्शन हैं। इसके साथ ही यह अनादिकाल से सृष्टि-प्रवाह के साथ ही प्रवाहित है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार यह कहा जाता है कि आयुर्वेद पर अन्य दर्शनों का प्रभाव है, ठीक उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि आयुर्वेद दर्शन का अन्य दर्शनों पर प्रभाव है। इसका कारण स्पष्ट है, आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है और इसका ज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है। उस दशा

में यह कहा जाना कि आयुर्वेद अन्य दर्शनों से प्रभावित है। इस पर यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद अपौरुषेय है अथवा दर्शन ग्रन्थ तथा वेद प्रथम रहा अथवा दर्शन ग्रंथ ? अतः आयुर्वेद के स्थान पर यह कहा जाना चाहिए कि आयुर्वेद दर्शन से अन्य दर्शनों का कहाँ तक तथा कितना सम्बन्ध है, क्योंकि आयुर्वेद के आद्योपान्त जो दार्शनिक सिद्धांत है, वे सभी षड्दर्शन के मध्य किसी न किसी दर्शन के अनुरूप हैं अथवा उनसे सम्बन्धित हैं।

१. आयुर्वेद कुल षट् पदार्थों को ही मानता है, वैशेषिक दर्शनकार ने भी षट् पदार्थों को ही माना हैं।

२. आयुर्वेद ने आगम, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान प्रमाण प्रतिपादित किये हैं। न्यायदर्शन ने भी इन्हें ही माना है। चरक-विमानस्थान वर्णित सम्भाषा-परिषद् न्यायदर्शन सम्मत ही है।

३. आयुर्वेद में पञ्चविंशति तत्त्वात्मक पुरुष, जिसकी 'कर्मपुरुष' संज्ञा है तथा जो चिकित्सा का अधिष्ठान है, उल्लेख मिलता है। सांख्यदर्शन का भी ठीक यही सिद्धान्त है। यहाँ भी आयुर्वेद एवं सांख्य दर्शन का सिद्धान्त मिलता है।

४. 'योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः'॥ (च० शा० १।१३७)

यहाँ योग और मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग विधान, मोक्ष प्राप्ति का साधन आदि विषय ठीक योगदर्शन की ही भाँति आयुर्वेद में वर्णित है। योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि और चरकसंहिता के 'चरक' को एक ही माना गया है। अतः योगदर्शन और आयुर्वेद दोनों के विषय समान ही हैं।

५. वेदान्त दर्शन सम्मत अध्यात्मवाद से आयुर्वेद भरा हुआ है, चरकसंहिता का कथन है—

'निर्विकारः परस्त्वात्मा'। (च० सू० १।५६)
'चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः'। (च० शा० १।१६)

६. मीमांसा दर्शन में यज्ञानुष्ठानादि कर्मों का विधान है। आयुर्वेद में भी मन्त्रादि द्वारा रसायन विधान, सुखपूर्वक प्रसव होने के लिए मंत्रादि विधान, सदाचार के नियमों में संध्या, हवन, तप, दान तथा स्वस्तिवाचन आदि का विधान है।

इस प्रकार षड्दर्शन वर्णित दार्शनिक विषयों से आयुर्वेद सर्वथा ओतप्रोत एवं परिपूर्ण है। जहाँ तक कहने का प्रश्न है, इसे चाहे इस रूप में कहा जाय कि आयुर्वेद दर्शन तथा षड्दर्शन दोनों समान अथवा परस्पर सम्बन्धित हैं। चाहे दर्शन-ग्रन्थों को प्रमुखता देने वाले आयुर्वेद में षड्दर्शनों के समावेश का उद्धरण देते हुए इस रूप में कहें कि आयुर्वेद पर अन्य दर्शनों का प्रभाव है। परन्तु यह सत्य और स्पष्ट है कि

आयुर्वेद चिकित्सा का ही नहीं अपितु एक दर्शनशास्त्र भी है और इसके दार्शनिक विषय अन्य दर्शन-ग्रन्थों के समान ही अथवा उससे सम्बन्धित हैं।

आयुर्वेदीय स्वतंत्र मौलिक दर्शन

शुद्ध ज्ञान जिस किसी भी विधा से प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु अन्त में वह अव्यवहार्य ही होता है।

'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः'। (माडूक्योपनिषद् ६।७)

आयुर्वेद एक व्यावहारिक और सार्वपरिषद् शास्त्र है, चार्वाक दर्शन से लेकर वेदान्त के अजातवाद के सिद्धान्त तक सभी सिद्धान्तों को आवश्यकतानुसार स्वीकार कर लिया गया है। चार्वाक के 'अङ्गनालिङ्गनात् जन्यं सुखमेव पुमर्थता' के तुल्यबल वाजीकरण अध्याय में दिये गये यह श्लोक देखना चाहिए—

'इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन व्यवस्थिताः॥' (च० चि० २।१।५)

गौडपदाचार्य के अजातवाद सिद्धान्त के अर्थ में 'एतद् उत्तमं सत्यं यत्र किञ्चित् न जायते' (माण्डूक्यकारिका)। अर्थात् कभी कोई वस्तु पैदा ही नहीं होती, सर्वदा अपने स्वरूप में ही स्थित होती है, भारतीय दर्शन की अन्तिम परिणति हुई है। इस वेदान्त सिद्धान्त के बिना मोक्ष की अन्य सभी कल्पनाएँ दोष रहित है। चरक ने अजातवाद को स्वीकार करते हुए कहा है—

'रूपस्य सत्त्वस्य च सन्ततिर्या नोक्तस्तदादिर्नहि सोऽस्ति तयोरवृत्तिः क्रियते च पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च कश्चित्।' (च० शा० २।४२)

शरीर As a mass and as visibility की जो प्रतीति होती है, यह स्वयं में एक भ्रान्ति है। लेकिन भ्रान्ति कैसे उत्पन्न हुई, इसके कारण के बारे में अधिक ध्यान न देकर इस भ्रान्ति को कैसे नष्ट किया जाय, इस बात पर जोर दिया गया है। गढ्ढे में गिरे हुए व्यक्ति का क्या यह विचार करना कि मैं कैसे गिरा ? अधिक उचित नहीं है, बल्कि उसे यह सोचना चाहिए कि इसमें से कैसे निकला जाय ? इसीलिए चरक ने कहा है कि शरीर एवं मन की भ्रान्ति को परास्मृति, पराकाष्ठा की धृति और परा-धी के द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। व्यक्ति को आयुर्वेद के स्वास्थ्य नियमों का पालन करते हुए शुद्ध शरीर और शुद्ध मन में शनैः-शनैः सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुभव होने लगता है। समय-समय पर सभी दार्शनिक सिद्धान्तों को स्वास्थ्य नियम एवं चिकित्सा में प्रयुक्त कर लिया गया है।

तृतीय अध्याय

द्रव्य

भाव तथा अभाव, इस प्रकार पदार्थ के दो भेद द्वितीय अध्याय में कहे गये हैं, उनमें अभाव पदार्थ का निरूपण तो उसी स्थल पर सम्यक्तया किया गया है, भाव पदार्थों का निरूपण यहाँ पर किया जाता है। भाव पदार्थ, इस शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय षट् पदार्थों का ग्रहण होता है। इनमें द्रव्य ही मुख्य एवं प्रथम पदार्थ है, इसलिए सर्वप्रथम द्रव्य का निरूपण किया जाता है।

द्रव्य निरुक्ति

'द्रु' गतौ धातु से यत् प्रत्यय होकर द्रव्य शब्द बनता है। व्याकरण के अनुसार ज्ञान, गमन और प्राप्ति रूप इन अर्थों में गति शब्द प्रयुक्त होता है। 'द्रवति–गच्छति परिणाममभीक्ष्णमिति द्रव्यम्। द्रवति–गच्छति संयोगविभागादिगुणानिति वा द्रव्यम्।'

तात्पर्य यह है कि जो सदा परिणाम को प्राप्त हो अथवा जिससे परिणाम का ज्ञान हो, वह द्रव्य है। महद्परिणाम में होते हुए परस्पर संयुक्त रूप से रहते हैं और वियुक्त होने पर परमाणु परिमाण में रहते हैं। अर्थात् महाभूत रूप में द्रव्य संयोग और वियोग को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार द्रव्य परिणाम को अथवा संयोग और विभाग को प्राप्त होता है।

जैन दर्शन के अनुसार भी 'द्रु' धातु से द्रव्य शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ द्रवित होना अथवा प्रवाहित होना है। ऐसी सांसारिक गति है कि सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और पुनः समय पाकर नष्ट हो जाते हैं। पदार्थों के उत्पन्न और नाश का यह प्रवाह अपनी गति से सतत चलता रहता है।

द्रव्य लक्षण

१. 'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्'। (च० सू० १।५०)

'यत्राश्रिता यत्र समवेताः, कर्म च गुणाश्च कर्मगुणाः। कारणं समवायि यदिति समवायिकारणं यत्, द्रव्यमेव हि द्रव्यगुणकर्मणां समवायिकारणम्। समवायिकारणं च तद् यत् स्वसमवेतं कार्यं जनयति, गुणकर्मणी तु न स्वसमवेतं कार्यं जनयतः, अतो न ते समवायिकारणे।' (चक्रपाणि)

जिसमें (जिस द्रव्य में) कर्म और गुण (समवाय सम्बन्ध से) आश्रित अर्थात् मिलित (स्थित) हों, जो समवायिकारण अर्थात् जो द्रव्य (कार्य द्रव्य, गुण एवं कर्म) का समवायिकरण हो, वह द्रव्य है। अर्थात् उसे द्रव्य कहते हैं।

समवायिकारण वह कारण है, जो कार्य की सम्पन्नता में अपने को मिलाकर कार्य सम्पन्न करता है, उसमें वह कारण जिससे वह कार्य सम्पन्न होता है, मिला रहता है। उस कारण के न मिलने की दशा में उस कार्य की सम्पन्नता ही सम्भव नहीं है। गुण एवं कर्म स्वसमवेत कार्य नहीं करते हैं। अतः वे समवायिकारण नहीं हैं।

२. 'द्रव्यलक्षणं तु क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति।' (सु० सू० ४०।२)

जो क्रियायुक्त, गुणयुक्त तथा समवायिकारण हो, वह द्रव्य है। यही द्रव्य का लक्षण है। ठीक ऐसा ही लक्षण वैशेषिक दर्शनकार ने भी किया है।

३. 'क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्।' (वै० द० १।१५)

जो क्रियायुक्त (क्रियावाला), गुणयुक्त (गुणोंवाला) तथा समवायि कारण हो, वह द्रव्य कहलाता है। यह द्रव्य लक्षण है।

इस प्रकार द्रव्य के जो उक्त तीन लक्षण प्रतिपादित किये हैं, उसका कारण यह है कि केवल एक या दो ही लक्षणों के प्रतिपादन करने से द्रव्य का लक्षण दोष-युक्त रहता है। लक्षण वह होना चाहिए, जो सर्वथा दोष रहित हो। इन तीनों लक्षणों द्वारा द्रव्य का जो निरूपण किया गया है, वह सर्वथा दोष रहित लक्षण है।

यदि द्रव्य का लक्षण केवल क्रियावाला कहा जाय कि जो क्रियावाला होता है, वह द्रव्य है, तो आकाशादि क्रियावाला न होने से लक्षण में अव्याप्ति दोष आ जाता है, एतदर्थ दूसरा लक्षण भी द्रव्य का गुणों वाला भी कहा गया है। परन्तु नैयायिकों का कथन है कि 'जायमानं हि द्रव्य क्षणमगुणं तिष्ठन्ति' अर्थात् कार्य द्रव्य जब उत्पन्न होते हैं, उस क्षण में गुण रहित होते हैं। अतः आकाशादि द्रव्यों में 'शब्द-गुणमाकाशम्' अर्थात् आकाश का गुण शब्द होने से आकाशादि द्रव्यों में अव्याप्ति दोष की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु प्रथम क्षण में उत्पन्न कार्य द्रव्य गुण रहित होने के कारण कार्य द्रव्य में यह लक्षण घटित नहीं होता है। अतः द्रव्य का तीसरा लक्षण समवायिकारण भी कहा गया है। इस लक्षण से घटादि द्रव्यों में लक्षण के दोष की निवृत्ति हो जाती है। कारण यह है कि घटादि द्रव्य प्रथम क्षण में भी अपने गुणों के प्रति समवायिकारण है, क्योंकि द्रव्य में गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः उत्पद्यमान घटादि भी अपने उत्पत्स्यमान गुणों के प्रति समवायिकारण है।

४ 'द्रव्यत्वजातिमत्वं गुणवत्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्।'

(तर्कसंग्रह-व्याख्या)

जो द्रव्यत्व जाति वाला, गुणयुक्त अथवा समवायिकारण हो, वह द्रव्य है।

५. 'समवायसम्बन्धेन गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्।'

जो समवाय सम्बन्ध से गुण और क्रिया का आश्रय हो, वह द्रव्य है।

इस प्रकार विभिन्न शब्दों में द्रव्य के लक्षण कहे गये हैं, परन्तु महर्षि चरक ने जो द्रव्य का लक्षण प्रतिपादित किया है, वैशेषिक दर्शन की भाँति वह सर्वथा संशुद्ध एवं निर्दुष्ट लक्षण है।

द्रव्य की संख्या

१. 'खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः।' (च० सू० १।४८)

आकाशादि पंचमहाभूत, आत्मा, मन, काल और दिक्, इस प्रकार द्रव्य कुल नव हैं।

२. 'तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।'

(तर्कसंग्रह)

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन, ये नव ही द्रव्य हैं।

३. 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।'

(वै० द० १।५)

पृथिवी, जल, तेज (अग्नि), वायु, आकाश, काल (समय), दिग्, आत्मा, तथा मन, ये नव द्रव्य हैं।

सांख्य, योग और वेदान्त की परिभाषा में पृथिवी, जल, तेज वायु, आकाश और मन को प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति के अन्तर्गत माना है। न्याय और वैशेषिक में जिसे आत्मा कहा है, उसी जीवात्मा और परमात्मा, आत्मद्वय को सांख्य में 'पुरुष' इस शब्द से कहा है। कुछ टीकार पृथिव्यादि चार, कुछ तीन द्रव्य अनित्य तथा शेष नित्य मानते हैं। इस प्रकार आयुर्वेद तथा वैशेषिक सभी के मतों में नव द्रव्य होते हैं, जो संसार के सभी कार्य द्रव्यों के कारण हैं।

चेतनाचेतन द्रव्य विवेचन एवं भेद

चेतनाचेतन द्रव्य के लक्षण—

'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।' (च० सू० १।४८)

इन्द्रिय सहित वर्तमान द्रव्य चेतन, अन्यथा इन्द्रिय रहित वर्तमान द्रव्य अचेतन हैं। चेतन इस कथन से आत्मा का भी सम्बन्ध गृहीत है, क्योंकि चेतनता आत्मा का ही गुण है। उसी के कारण शरीर जीवित रूप में रहता है। उसके अभाव में शरीर मृत अर्थात् अचेतन रूप में हो जाता है। कहा भी है—

'शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।' (च० शा० १।७४)

जीवन दाता उस आत्मा के निकल जाने के पश्चात् शरीर शून्य गेह की भाँति हो जाता है। अतः यह समझना चाहिए 'सेन्द्रियं चेतनम्' इससे आत्मा का सम्बन्ध स्वतः प्राप्त है। साथ ही 'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यम्' इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जीवित शरीर ही चेतन है। कहा भी है—

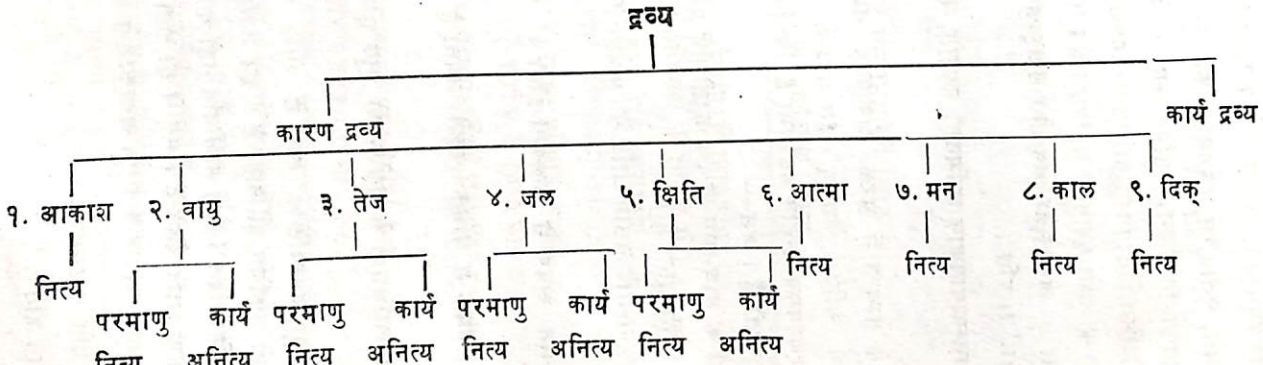
द्रव्य
कारण द्रव्य
कार्य द्रव्य
१. आकाश
२. वायु
३. तेज
४. जल
५. क्षिति
६. आत्मा
७. मन
८. काल
९. दिक्
नित्य
परमाणु
कार्य
नित्य
अनित्य
नित्य
नित्य
नित्य
नित्य
नित्य
नित्य
नित्य
नित्य
नित्य
अनित्य
नित्य
अनित्य
नित्य
अनित्य
नित्य
अनित्य

"अत्र सेन्द्रियत्वेन वृक्षादीनामपि चेतनत्वं बोद्धव्यम्, तथाहि—सूर्यभक्ताया यथा यथा सूर्यो भ्रमति तथा तथा भ्रमणाद् दृगनुमीयते, तथा लवली मेघस्तनितश्रवणात् फलवती भवति, तेन श्रोत्रमनुमीयते, बीजपूरकमपि शृगालादिवसागन्धेनातीव फलवद्भवति तेन घ्राणमनुमीयते, चूतानां च मत्स्यवसासेकात् फलाढ्यतया रसनमनुमीयते, अशोकस्य च कामिनीपादतलाहतिसुखिनः स्तविकतस्य स्पर्शनानुमानम्, स्मृतिश्चानुमानं द्रढयति। यथा—'योऽभिवादितविप्रस्तु नाशिषं सम्प्रयच्छति। श्मशाने जायते वृक्षो गृध्रकङ्कोपसेवितः ॥' इति। 'तथा वृक्षगुल्मं बहुविधं तत्रैव तृणजातयः। [1]तमसाऽधर्मरूपेण च्छादिताः कर्महेतुना ॥ अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः। एतदन्ताश्च गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः' ॥ इति। (मनुस्मृति अ० १)

'तथा तन्त्रकारश्च वानस्पत्यानुकान् प्राणिनो[2] वक्ष्यति, तेनागमसंवलितया युक्त्या चेतना वृक्षाः।' (चक्रपाणि)

वृक्षादि के चेतनत्व के सम्बन्ध में चरक टीकाकार चक्रपाणि ने स्पष्ट रूप में लिखा है। उक्त श्लोक में 'सेन्द्रियं चेतनम्' इस शब्द से वृक्षादि का भी चेतनत्व समझना चाहिए। उदाहरणस्वरूप उन्होंने बतलाया है कि विचार करने से वृक्षादिकों की भी इन्द्रियाँ सिद्ध हो जाती हैं। जैसे—

(क) सूर्यभक्ता सूर्य के साथ-साथ भ्रमण करती हुई प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती है, इससे दृष्टि की सिद्धि होती है।

(ख) बीजपूरक शृगालादि वसागन्धादि से फलता है, घ्राण की सिद्धि इससे होती है।

(ग) लवली मेघगर्जन श्रवण से फलवती होती है, इससे श्रवण की सिद्धि होती है।

(घ) आम मत्स्याभिषेक से अधिक फलने लगता है, इससे रसन की सिद्धि होती है।

(ङ) कामिनीचरणतलाभिघात से अशोक को सुख होता है, इससे स्पर्शसिद्धि का ज्ञान होता है।

लज्जावती अर्थात् छुईमुई वनस्पति के स्पर्श से स्पष्ट स्पर्शन ज्ञात होता है। यह वनस्पति स्पर्श करते ही संकुचित हो जाती है। इन उदाहरणों के अतिरिक्त और भी कहा गया है कि जो अभिवादित (वृक्ष) आशीर्वाद नहीं देता है, श्मशान में उत्पन्न होता है, उस पर गृध्र, कङ्क आदि बैठते हैं। मनु ने तो कहा है कि अनेक प्रकार के वृक्ष तथा तृण आदि कर्मानुसार अधिक बन्द एवं अन्धकार से आच्छादित हो जाते हैं।

---

१. तमसा बहुरूपेण इति पाठान्तरम्।

२. वानस्पत्यान् मूकान् इति पाठः।

सुख-दुःख समन्वित ये अन्तश्चेतन होते हैं, इनकी आभ्यन्तरिक गति होती है। इस प्रकार शास्त्रकार मूक वनस्पतियों को अन्तश्चैतन्य स्वरूप मूक प्राणी मानते हैं।

चेतन प्रकार

'तस्माच्चेतनमपि द्विविधमन्तश्चेतनं बाह्याभ्यन्तरं चेतनञ्च।'

(जल्पकल्पतरु-टीका)

चेतन भी दो प्रकार के होते हैं—१. अन्तश्चेतन एवं २. बाह्याभ्यन्तर चेतन।

१. अन्तश्चेतन—इस वर्ग में चेतना बाह्य रूप में स्पष्टे परिलक्षित नहीं होती है। इस वर्ग में चार भेद होते हैं—

(क) वनस्पति—इसमें पुष्प अपनी कर्णिकाओं द्वारा ढके रहते हैं, इस कारण से वे दिखलाई नहीं पड़ते हैं। जैसे वट एवं गूलर आदि।

(ख) वानस्पत्य—इनसे फूल और फल दोनों प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देते हैं। जैसे—आम एवं जामुन आदि।

(घ) वीरुद्—इनकी लताएँ फैलती हैं अथवा गुल्म के रूप में होती हैं। जैसे—गिलोय आदि।

(घ) औषध—फल पकने पर जो नष्ट हो जाय, वह औषध है। जैसे—गोधूम आदि।

चेतनाचेतन द्रव्य

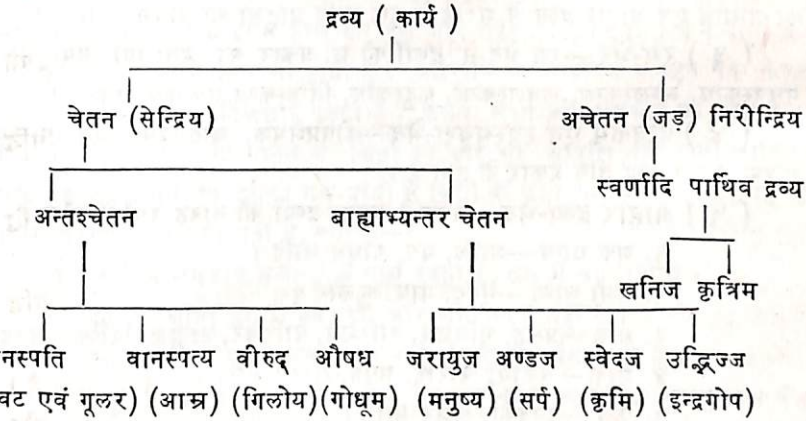

२. बाह्याभ्यन्तर चेतन—इस वर्ग में चेतना बाह्य तथा आभ्यन्तर, उभयतः परिलक्षित होती है। इसके भेद निम्नस्थ हैं—

(क) जरायुज—जरायु से जन्म लेने वाले जरायुज कहे जाते हैं। जैसे—मनुष्य आदि।

(ख) अण्डज—अण्डों से जन्म लेने वालों की संज्ञा अण्डज है। जैसे—सर्प आदि।

(ग) स्वेदज—स्वेदजन्य स्वेदज वर्ग में आते हैं। जैसे कृमि एवं कीट आदि।

(घ) उद्भिज्ज—पृथ्वी के भीतर से निकलने वालों को उद्भिज्ज कहते हैं। जैसे—इन्द्रगोप (वीरबहूटी) आदि।

द्रव्य के अन्य भेद एवं आयुर्वेद की दृष्टि से उनका व्यावहारिक अध्ययन

(१) योनि-भेद—'तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं जाङ्गमं भौममौद्भिदम्'।

(च० सू० १।६८)

'तत्र द्रव्यं त्रिविधं—भौममौद्भिदं जङ्गममिति'। (अ० सं० सू० १२।४)

महर्षि ने जाङ्गम, औद्भिद् और भौम भेद से द्रव्य का तीन प्रकार बतलाया है। जांगम या जान्तव द्रव्य जंगम प्राणियों से प्राप्त होते है। जैसे कस्तूरी, गोरोचन, दुग्ध आदि। औद्भिद[1] या वानस्पतिक द्रव्य पृथ्वी को फोड़कर बाहर निकलता है। जैसे गोधूम, यव, आंवला आदि। भौम या पार्थिव द्रव्य भूमि से निकलता है। जैसे धातुएँ, गन्धक आदि। चेतन-अचेतन द्रव्य के अन्तर्गत इनका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है।

(२) प्रयोग-भेद—चक्रपाणि दत्त औषध द्रव्य एवं आहार द्रव्य भेद से दो प्रकार का द्रव्य माना है। औषध द्रव्य प्रयोग से शरीर में शीत, उष्ण आदि गुणों का आधान एवं आहार द्रव्य से शरीर के रस आदि धातुओं का पोषण होता है।

(३) रस-भेद—रस भेद से द्रव्यों को छः प्रकार का बतलाया गया है—मधुरस्कन्ध, अम्लस्कन्ध, लवणस्कन्ध, कटुस्कन्ध, तिक्तस्कन्ध एवं कषायस्कन्ध।

(४) दोषकर्म एवं स्वस्थवृत्त-भेद—दोषप्रशमक, धातुप्रदूषक एवं स्वास्थ्य-कारक भेद से द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं।[2]

(५) आहार द्रव्य-भेद—चरक ने आहार द्रव्यों को बारह वर्गों में बाँटा है—

१. शूक धान्य—शालि, यव, गोधूम आदि।
२. शमी धान्य—मुद्ग, माष, कुलत्थ।
३. मांस—प्रसह, भूमिशय, वारिशय, वारिचर, जाङ्गल, विष्किर, प्रतुद।
४. शाक—मकोय, चौराई, त्रपुष, सरसों आदि।
५. फल—मुनक्का, खर्जूर आदि।
६. हरित—अदरख, नीबू, मूली आदि।
७. मद्य—अरिष्ट, आसव, सुरा आदि।

---

१. 'उद्भिद्य पृथिवीं जायते इति औद्भिदं वृक्षादि। (च० सू० १।६८ पर चक्रपाणि-व्याख्या)

२. च० सू० १।६७

८. जल—दिव्य, भौम आदि ।

९. गोरस—गोदुग्ध, माहिषक्षीर आदि, दधि, घृत, मक्खन आदि ।

१०. इक्षु—इक्षुरस, गुड़, मधु, चीनी आदि ।

११. कृतान्न—पेया, विलेपी, मण्ड, सत्तू आदि ।

१२. आहारोपयोगी—तैल, लवण, हींग आदि ।

सुश्रुत ने आहार द्रव्य का निम्नलिखित ढंग से वर्गीकरण किया है—

(क) द्रव्यवर्ग—१. जलवर्ग २. क्षीरवर्ग, ३. दधिवर्ग, ४. तक्रवर्ग ५. घृतवर्ग, ६. तैलवर्ग, ७. मधुवर्ग, ८. इक्षुवर्ग, ९. मद्यवर्ग एवं १०. मूलवर्ग ।

(ख) अन्नद्रव्य – १. शालिवर्ग, २. कुधान्यवर्ग, ३. मुद्गादिवर्ग, ४. मांसवर्ग, ५. फलवर्ग, ६. शाकवर्ग, ७. पुष्पवर्ग, ८. कन्दवर्ग ९. लवणवर्ग १० कृतान्नवर्ग, ११. भक्ष्यवर्ग १२. अनुपानवर्ग ।

(६) कर्मभेद—चरक ने सूत्रस्थान चतुर्थ अध्याय में पचास महाकषायों का तथा सुश्रुत ने सूत्रस्थान अड़तिसवें अध्याय में सैंतीस गणों का विस्तृत निर्देश कर्मानुसार किया है ।

तम (अन्धकार) का दशम द्रव्यत्व रूप में खण्डन

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'तम' को भी दशम द्रव्य मानना चाहिए, क्योंकि इसमें कृष्ण रूप गुण और अपसरण (हटना) कर्म दोनों है । तम का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान भी होता है । अर्धरात्रि में चन्द्रोदय न रहने पर केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखलाई पड़ता है । फलतः सभी को अन्धकार का ज्ञान होता है । अतः इसे दशम द्रव्य मानने में किसी को कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए । यदि यह कहा जाय कि इसका नव द्रव्यों में किसी के मध्य अन्तर्भाव है, तो वह भी निम्न कारणों से सम्भव नहीं है, क्योंकि—

१. पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से गन्ध रहता है, तम में वह नहीं है ।

२. जल की भाँति तम में द्रव, रस और शीत स्पर्श नहीं है ।

३. तेज उष्णस्पर्श एवं भास्कर स्वरूप है, किन्तु तम वैसा नहीं है ।

४. वायु नित्य गतिशील है तथा प्रत्यात्मनियत स्पर्श है, परन्तु तम वैसा नहीं है ।

५. आकाश रूपरहित और तम रूपवान् है । आकाश की व्यापकता तम से भिन्न है ।

६. आत्मा ज्ञानवान् चेतन है, तम वैसा नहीं है ।

७. मन एक, अणु एवं गतिमान् है और तम में ये तीनों गुण नहीं है ।

८. काल सर्वत्र व्यापक और रूपरहित द्रव्य है, किन्तु तम ऐसा नहीं है ।

९. इन सब उक्त कारणों से दिशा में भी तम का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

इस प्रकार तम का उक्त नवों द्रव्यों में समावेश न होने से दशम द्रव्य रूप में इसे स्वीकार किया जाना चाहिए, परन्तु ये उक्त तर्क होते हुए भी तम द्रव्य नहीं माना जाता है। इसका कारण यह है कि वस्तुतः तम में द्रव्यत्व का अभाव है। तम में जो कुछ दिखलाई देता है, वह प्रकाश अथवा तेज का अभाव है। अतः उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि प्रकाश ही तम का अभाव है, तो यह युक्ति और प्रमाण दोनों के विरुद्ध हैं, क्योंकि तेज की असिद्धि हो नहीं सकती। तेज प्रकाशमान, चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य, उष्ण स्पर्श होने से त्वक्-इन्द्रियग्राह्य, शरीर के अन्तर्गत पाचनादि कर्त्ता तथा बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष रूप से तेज दृश्यमान है। अतः तेज तम का अभाव न होकर स्वतंत्र द्रव्य है। यह समझना कि तम गतिमान् है और चलता है, यह भ्रान्ति है, क्योंकि प्रकाश की गति होती है तम की नहीं। जैसे प्रकाश चलता है, वैसे आगे पीछे तम का चलना दृष्टिगोचर होता है, इसे किसी अन्य उदाहरण से समझा जा सकता है। यथा छायावान चलता है न कि छाया। चन्द्र किरण में जैसे-जैसे हम तेजी से चलते हैं वैसे-वैसे छाया चलती है। अतः यह सिद्ध है कि तेज रूपवान् होता है, जिसका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से होता है। चक्षुरिन्द्रियों से विषयों का ग्रहण प्रकाश में होता है, न कि अन्धकार में। ज्ञानेन्द्रियों के मध्य चक्षु ही ऐसी इन्द्रिय है, जो प्रकाश में विषय ग्रहण करती है, न कि अंधकार में। इस प्रकार पाँचों विषयों में रूप ही ऐसा विषय है, जो प्रकाश में ही ज्ञेय अन्यथा अज्ञेय है। अतः उक्त कारणों से यह स्पष्टतया सिद्ध है कि 'तम' तेज का अभाव है, न कि तेज तम का अभाव और तेज एक स्वतन्त्र द्रव्य है। तेज के अभाव में चक्षु रहते हुए भी कोई कार्य सम्भव नहीं है। इससे भी निर्विवाद सिद्ध है कि तम तेज का अभाव है। यह स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। फलतः यह दशम द्रव्य रूप में किसी भी दशा में नहीं माना जा सकता है।

तम (अन्धकार) का गुण

वृद्ध वाग्भट्ट ने अनौषध चिकित्सा के अन्तर्गत कहा है—'तम कषाय एवं कटु होता है'।

'तमः कषायकटुकं.....।' (अ० सं० सू० १२।१००)

भावमिश्र ने कहा है कि तम भयावह, मोहजनक, दिक्भ्रामक, पित्तहर, श्लेष्महर, कामवर्द्धक एवं क्लमहर होता है।

तमोभयावहं मोह दिक्मोहजनकं भवेत्।
पित्तहृत् कफहृत् कामवर्द्धनं क्लमहृच्च तत्॥

(भा० प्र० नि० १।४।२७३)

चतुर्थ अध्याय

महाभूत

भूत शब्द की निरुक्ति—भू + क्तः = भूतः। 'भूः सत्तायाम्' इस धातु में क्त प्रत्यय लगा कर भूत शब्द बनता है। भूत अर्थात् जिसकी सत्ता हो या जो विद्यमान रहता हो, उसे भूत कहते हैं। भूत किसी के 'कार्य' नहीं होते हैं अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं होते, अपितु महाभूतों के ये उपादान कारण होते हैं। पञ्चभूतों से महाभूत उत्पन्न होते हैं, इसलिए महाभूत कार्य द्रव्य कहलाते हैं, किन्तु पञ्चभूत स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होते, अतः ये नित्य होते हैं।[1] महर्षि चरक ने भूतों को 'सुसूक्ष्म' एवं 'इन्द्रियातीत' कहा है।[2] इस प्रकार उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि पञ्चभूत कारण द्रव्य, नित्य, अतिसूक्ष्म एवं इन्द्रियातीत हैं। 'महान्ति भूतानि महाभूतानि' महान् भूतों को महाभूत कहते हैं। महत्व या स्थूलत्व आने के कारण इनकी महाभूत संज्ञा है। उक्त महाभूत संसार के सभी चल-अचल वस्तुओं में व्याप्त हैं, अतः इन्हें महाभूत कहते हैं।

'इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्।' (अ० सं० सू० १७।३)

इस पृथ्वी के समस्त जीवों का शरीर और निर्जीव पदार्थ महाभूतों द्वारा निर्मित है। यद्यपि प्रत्येक पदार्थों में पाँचों महाभूत होते हैं, किन्तु जिस महाभूत की जिसमें अधिकता होती है, उसी के अनुसार उस वस्तु का वर्गीकरण कर दिया जाता है। यथा पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायवीय एवं आकाशीय, परन्तु कोई वस्तु विशुद्ध एक ही महाभूत की नहीं होती। प्रत्येक वस्तु में जो उपादान अथवा भार होता है, वह पृथ्वीतत्त्व का, तापक्रम अग्नितत्त्व का, अणुओं को परस्पर संयुक्त रखना जलतत्त्व का, अणुओं में गति वायुतत्त्व का तथा अणुओं के बीच अवकाश आकाश तत्त्व का प्रतीक है।

पञ्चमहाभूतों के सत्त्वादि गुण

'तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमबहुला पृथ्वीति।' (सु० शा० १।२१)

---

१. (क) 'न जायतेऽन्यतो यत्तु यस्मादन्यत् प्रजायते।
सगुणानां उपादानं तद् भूतम् इति कथ्यते॥' (पञ्चभूत-विज्ञान)
(ख) 'यस्योत्पत्तिविनाशौ स्तः तन्नादिकारणं भवेत्।
आदिकारणभूतानि नित्यानीत्यनुमीयते॥' (पञ्चभूत-विज्ञान)

२. (क) चरक-शारीरस्थान २।३१।
(ख) चरक-शारीरस्थान २।३७।

अर्थात् आकाश सत्वबहुल, वायु रजोबहुल, अग्नि सत्व एवं रजोबहुल, जल सत्व और तमोबहुल तथा पृथ्वी तमोबहुल होता है। पञ्चमहाभूतों द्वारा त्रिदोष उत्पत्ति इस प्रकार होती है—'वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः। आग्नेयं पित्तम्। अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा।'

पार्थिवादि द्रव्यों के गुण एवं कर्म

द्रव्य	गुण	शरीर में कर्म
१. पार्थिव द्रव्य	गुरु, कठिन, विशद, मन्द, सान्द्र, स्थूल, स्थिर तथा गन्धगुण बहुल।	उपचय (धातुओं की वृद्धि), गौरव, संघात (काठिन्य) तथा स्थैर्य।
२. आप्य द्रव्य	द्रव, स्निग्ध, शीत, गुरु, मन्द, सान्द्र, सर, मृदु, पिच्छिल तथा रसगुण बहुल।	उपक्लेद (आर्द्रता), स्नेह, बन्ध, विष्यन्द (स्रोतों का स्राव), मार्दव एवं प्रह्लाद (तृप्ति),
३. आग्नेय द्रव्य	तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद तथा रूपगुण बहुल।	दाह, पाक, प्रकाश, प्रभा तथा वर्ण्य।
४. वायव्य द्रव्य	रुक्ष, सूक्ष्म, लघु, विशद, विकासी, व्यवायी, शीत, खर तथा स्पर्शगुण बहूल।	रुक्षता, लघुता, विशदता, ग्लानि एवं विचारक (विविध चेष्टा)।
५. नाभस द्रव्य	मृदु, सूक्ष्म, लघु, विशद, श्लक्ष्ण व्यवायी, शीत, खर तथा शब्द-गुण बहुल।	मृदुता, सौषिर्य (सुषिरता) तथा लघुता।

पञ्चमहाभूत तथा उनके गुण

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिपरे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥
(च० शा० १।२७-२८)

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, ये पाँच महाभूत हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध, ये क्रमशः उक्त पाँचों महाभूतों के स्वाभाविक अर्थात् वैशेषिक पाँच गुण हैं। इनमें प्रथम 'ख' एक शब्द गुण, उत्तरोत्तर वायु द्विगुण, अग्नि त्रिगुण, जल चतुर्गुण तथा पृथ्वी पञ्चगुण युक्त है। अर्थात् महाभूतों में अपना स्वाभाविक पूर्व गुण तथा अपने पूर्व महाभूतों के भी गुण वर्तमान हैं। कहा है—

'एकगुणः पूर्व इति पूर्वो धातुः खरूपः शब्दैकगुणः ।.....गुणिषु खादिषु धातुषु पूर्वो गुणः क्रमेण यथासङ्ख्यं वर्त्तते, न केवलं पूर्वः किन्तु पूर्वस्यापि यो गुणः स च पूर्वगुण उत्तरे भूते वर्तते । तेन खे पूर्वे पूर्वः शब्दो (ब्दो) गुणो वर्तते; वायौ तु स्पर्शः क्रमप्राप्तः पूर्वो भवति, पूर्वगुणश्च शब्द इति द्विगुणत्वम्, एवमग्न्यादौ च ज्ञेयम् ।'
(चक्रपाणि)

अर्थात् पाँचों महाभूतों में प्रथम महाभूत 'ख' आकाश है । उसका एक गुण शब्द है, जो अपना पूर्वगुण है । इसी प्रकार वायु आदि चारों में क्रमानुसार अपना-अपना स्वाभाविक पूर्वगुण तथा अपने-अपने पूर्वभूतों के गुण होते हैं । जैसे—पूर्व-भूत आकाश में अपना पूर्व शब्द गुण, वायु में क्रम प्राप्त अपना पूर्वगुण स्पर्श और अपने पूर्वभूत आकाश का पूर्वगुण शब्द है, इसी प्रकार अन्य भूतों में क्रमानुसार अपने पूर्वगुण एवं अपने पूर्वभूतों के पूर्वगुणों को समझना चाहिए ।

महाभूतों के असाधारण लक्षण

'खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतिघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्' ॥ (च० शा० १।२९)

अप्रतिघातः—अप्रतिहननमस्पर्शत्वमिति यावत् । (चक्रपाणि)

पृथ्वी, जल, वायु, तेज तथा आकाश का यथाक्रम खरत्व, द्रवत्व, चलत्व, उष्णत्व और अस्पर्शत्व लक्षण है । आकाश का स्पर्श न होने से उसका प्रतिघात नहीं हो सकता है । प्रतिघात उसी का होता है, जिसका स्पर्श होता है । अतः अप्रति-घात 'आकाश' का लक्षण कहा गया है ।

महाभूतों का परस्परानुप्रवेश

'आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, ... । परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् ।' (सु० सू० ४२।२)

महर्षि सुश्रुत ने भी भूतगुणों के सम्बन्ध में चरक की ही भाँति लिखा है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में यथाक्रम उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध गुण हैं । अर्थात् प्रथम भूत में एक, दूसरे में दो, तीसरे में तीन, चौथे में चार तथा पाँचवे में पाँच गुण वर्तमान हैं । अन्योऽन्य संयोग, अन्योन्योपकार, परस्पर अनुप्रवेश अर्थात् एकाकी भाव से सबमें सबका सान्निध्य उत्कर्षापकर्ष से है । 'उत्कर्ष' वृद्धि और 'अपकर्ष' ह्रास है । जैसे आकाशाधिक द्रव्य में शब्द अधिक, वाता-धिक द्रव्य में स्पर्श अधिक, इसी प्रकार शेष भूतों में भी शेष गुण है और जिसमें जो अधिक होता है, उसी के नाम से उसका ग्रहण किया जाता है ।

गुण-तालिका

क्र०सं०	महाभूत	पूर्वगुण	पूर्वभूत	लक्षण	सत्त्वादि
१.	आकाश	शब्द		अस्पर्शत्व	सत्त्वबहुल
२.	वायु	स्पर्श	पूर्वभूत गुण शब्द	चलत्व	रजोबहुल
३.	अग्नि	रूप	पूर्वभूत गुण शब्द, स्पर्श	उष्णत्व	सत्त्वरजोबहुल
४.	जल	रस	पूर्वभूत गुण शब्द, स्पर्श, रूप	द्रवत्व	सत्त्वतमोबहुल
५.	पृथ्वी	गन्ध	पूर्वभूत गुण शब्द, स्पर्श रूप, रस	खरत्व	तमोबहुल

पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति

प्रकृति का पुरुष से सम्पर्क होता है, तो उससे सर्वप्रथम महत् तत्व या महान् की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर महत् तत्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। चूंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है, अतः उससे उत्पन्न हुए महत् तत्व तथा अहंकार भी त्रिगुणात्मक ही होते है—१. वैकारिक २. तैजस एवं ३. भूतादि। तैजस अहंकार की सहायता से भूतादि अहंकार द्वारा पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है और इन तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है[1]। भूतादि अहंकार से ही पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है, इसलिए उनकी संज्ञा भूत हुई।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, ये क्रमशः महाभूतों के गुण हैं। इन्हें ही पञ्चतन्मात्रा भी कहा जाता है। पञ्चतन्मात्रा का दूसरा नाम अविशेष या सूक्ष्मभूत है।

पञ्चमहाभूतों का आयुर्वेद में महत्त्व

(१) गर्भविकास एवं पञ्चमहाभूत—गर्भविकास में शरीर के परमाणुओं का विभाग पाक, क्लेदन, संघात और विवर्धन आदि क्रियाएँ क्रमशः वायु, तेज, जल, पृथ्वी और आकाश पर आधारित है।[2] गर्भ में सन्तान का वर्ण भी महाभूतों के कारण ही होता है।

---

१. 'भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राणि उत्पद्यन्ते····· तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः।' (सु० शा० १)

२. सु० शा० ५।३

(२) **शरीरावयव एवं पञ्चमहाभूत**—शरीर के विभिन्न भावों एवं रचनाओं का पार्थिवादि भावों के रूप में उल्लेख (चरक शारीर ४।१२) में मिलता है, जिनका वर्णन यथास्थान आगे किया गया है।

(३) **त्रिदोष एवं पञ्चमहाभूत**—दोष निर्माण में वायु, अग्नि और जल अधिक कार्यकर होते हैं, इसीलिए कहा गया है—'वायुरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मासौम्यः' (सु० सू० ४२।५)।

(४) **देह प्रकृति एवं पञ्चमहाभूत**—सुश्रत ने मनुष्यों की भौतिक प्रकृति पृथिवी, जल, वायु, तेज एवं आकाश, इन पाँच महाभूतों के आधार पर पाँच प्रकार की कही है।[1]

(५) **षड्रस एवं पञ्चमहाभूत**—पृथ्वी एवं जल की बहुलता से मधुर रस, पृथ्वी एवं अग्नि की बहुलता से अम्ल रस, जल एवं अग्नि की बहुलता से लवण रस, वायु एवं आकाश की बहुलता से तिक्त रस, वायु तथा अग्नि की बहुलता से कटुरस तथा वायु एवं पृथ्वी महाभूतों की बहुलता से कषाय रस होता है।[2]

(६) **भूताग्नि एवं पञ्चमहाभूत**—भुक्त आहार का जाठराग्नि द्वारा संघातभेद हो जाने पर आहारगत भूतगुणों के परिपाक में वहाँ स्थित भूताग्नियों का बड़ा महत्व होता है। जैसा कि चरक ने कहा कि भौम, आप्य आग्नेय, वायव्य और नाभस ये पाँच प्रकार की अग्नियाँ आहार के अपने पार्थिव आदि पाँच प्रकार के गुणों का पाक करती है।[3]

आकाश-निरूपण

१. 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः।' (तैत्तिरीयोपनिषद्)

उस आत्मा या इस आत्मा से आकाश महाभूत की उत्पत्ति हुई। आत्मा के साथ उस और इस शब्द का प्रयोग परमात्मा और जीवात्मा के लिये आया है। वास्तव में आत्मा तो एक ही है। आकाश महाभूत की उत्पत्ति शब्द तन्मात्रा से हुई है। शब्द आदि पञ्चतन्मात्राएँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं और यह अहंकार आत्मा या परमात्मा से उत्पन्न होता है। आत्मा में अहंकार या इच्छा की उत्पत्ति से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कहा गया है—'तद् ऐच्छत बहुस्याम प्रजायेय इति।'

२. 'आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।' (कारिकावली)

आकाश का शब्द वैशेषिक गुण है।

३. 'शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च।' (तर्कसंग्रह)

---

१. सु० शा० ४।७२
२. अ० सं० सू० १८।४
३. च० चि० १५

जिसमें समवाय सम्बन्ध से शब्दगुण हो, वह आकाश है। वह एक, व्यापक और नित्य है।

४. 'त आकाशे न विद्यन्ते।' (वै० द० २।१।५)

स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; उक्त चारों गुण आकाश में नहीं हैं। आकाश न स्पर्श किया जा सकता है, न देखा जा सकता है। आकाश जो कहीं उजला, कहीं नीला दिखलाई पड़ता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि यह रूपवान् है। जिस प्रकार जहाँ जल अथाह (बहुत गहरा) रहता है, वहाँ वह नीला एवं काला दिखलाई देता है, उसी प्रकार आकाश में दूरातिदूर तक जहाँ तक दृष्टि जायेगी, रिक्त होने से नीला दिखलाई पड़ता है।

अब यदि कहा जाय कि वह अदृश्य है, तो उसका ज्ञान कैसे होता है? एतदर्थ शास्त्रकारों ने कहा है—उसका शब्द गुण है। उसी शब्द के आधार पर उसका ज्ञान होता है। उदाहरण रूप में शंख है। जैसे शंख जिससे बनता है, उसका शब्द गुण नहीं है। शंख के अन्तर्गत शब्द रहता नहीं है। यदि शंख शब्द का गुण है, तो शंख में ही उसे रहना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं हैं। बजाने पर शंख से निर्गत शब्द हमारे कान तक पहुँच जाता है। इसका अर्थ यह है कि रिक्त स्थान में फूंकने पर उसमें शब्द उत्पन्न होता है और वह आकाश व्यापक होने के कारण हमारे कानों तक पहुँच जाता है। श्रोत्र आकाश की इन्द्रिय है।

५. 'निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्।' (वै० द० २।१।२०)

निकलना और प्रवेश करना, यह आकाश का चिह्न है। इससे आकाश जाना जाता है। जहाँ से निकलना होता है और जिसमें प्रवेश हो सके, वहाँ आकाश है। आकाश के अतिरिक्त अन्य भूत अपने-अपने स्थान में दूसरों को प्रविष्ट होने नहीं देते, क्योंकि जब तक हम अपने स्थान से हटेंगे नहीं, तब तक दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता है। अतः निष्क्रमण और प्रवेश आकाश की विद्यमानता का स्पष्ट लक्षण है। यद्यपि वैशेषिक दर्शन में आकाश का शब्दगुण नहीं लिखा है, परन्तु आकाश का शब्दगुण अन्य सभी लोगों ने प्रतिपादित किया है।

६. 'शब्दश्च ते च खे।' (वैशेषिक सूत्र वैदिक वृत्ति)

१. शब्द, २. संख्या, ३. परिणाम, ४. पृथक्त्व, ५. संयोग एवं ६. विभाग, ये आकाश के गुण हैं। गीता में भी आकाश का शब्दगुण बतलाया गया है। 'शब्दः खे' अर्थात् आकाश में शब्द मैं ही हूँ।

आकाशात्मक भाव—'तस्याकाशात्मकं शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च।' (च० शा० ४।१२)

शब्द, श्रोत्रेन्द्रिय, लाघव, सौक्ष्म्य और विवेक, ये सब शरीर में आकाशात्मक भाव हैं। 'विवेकः शरीराणां भावानां सिरास्नाय्वस्थिप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः

पृथक्त्वम्'। (चरकोपस्कर) विवेक अर्थात् शारीरिक भाव सिरा, स्नायु, अस्थि आदि का परस्पर पृथक्-पृथक् रहना। इस प्रकार सब महाभूतों में आकाश ही प्रथम महाभूत है, अन्त में भी वही रहता हैं और सबका लय उसी में ही होता है। कहा गया है—

'मही संलीयते तोये तोयं संलीयते रवौ।
रविः संलीयते वायौ वायुर्नभसि लीयते॥'

पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में और अन्त में वायु का आकाश में लय हो जाता है।

वायु-निरूपण

वा गन्तिगन्धनयोः इस धातु से वायु शब्द की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ गति करना होता है।

१. 'आकाशाद् वायुः।' (तैत्तिरीयोपनिषद्)

आकाश से वायु की उत्पति हुई। यह निम्नलिखित युक्ति द्वारा समझा जा सकता है—

प्रकृति के प्रारम्भ काल में यह सब कुछ स्थिर था, ऐसा स्थिर जैसे कोई प्राणी मृत्यु से युक्त होने पर होता है। आकाश जो कि अत्यन्त सूक्ष्म है, इस समस्त सृष्टि को व्याप्त किये हुए था, वह भी स्थिर एवं निष्क्रिय था। बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है—'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्'। अर्थात् यह समस्त संसार मानो मृत्यु से ही आवृत था। इस मृत्यु मूलक अथवा निष्क्रिय अवस्था से जब सृष्टि या जीवन का प्रारम्भ हुआ, तो सर्वप्रथम उसमें क्रिया या गति पैदा हुई, क्योंकि क्रिया या गति के बिना सृष्टि उत्पत्ति का कार्य सम्भव नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि निष्क्रिय आकाश से सर्वप्रथम क्रिया का प्रतीक वायु उत्पन्न हुआ।

२. 'स्वयम्भूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः।
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगतत्वात् तथैव च॥
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः।
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम्॥
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुः खरः।
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च॥
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्।
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः॥' (सु० नि० १।३)

वायु इस शब्द से कहा गया। अर्थात् नामांकित यह भगवान् स्वयम्भू है। स्वयं भूत से वह स्वयम्भू कहा गया है। स्वातन्त्र्य रूप मे नित्य भाव से रहने तथा

सर्वगत होने से यह सबकी ही सर्वात्मना आत्मा एवं सर्वलोक नमस्कृत है। यह भूतों की स्थिति, उत्पत्ति और विनाश में कारण है। यह अव्यक्त है, इसका कोई स्वरूप नहीं है, परन्तु यह व्यक्तकर्मा है, अर्थात् इसके कर्म व्यक्त हैं। रुक्ष, शीत, लघु तथा खर इसके गुण हैं। यह तिर्यग्गामी तथा द्विगुण अर्थात् शब्द, स्पर्श गुणवान् एवं रजोगुण बहुल है। अचिन्त्यशक्ति, वातादि दोषों का नेता, रोग समूह का राजा, आशुकारी, शीघ्र कार्यकारी तथा मुहुर्मुहुः चलने वाला है। पक्वाशय तथा गुदा प्रदेश इसका स्थान है।

३. 'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, ·····प्रवर्तको वाचः प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, चतुर्युगान्तकराणां मेघसूर्यानलानिलानां विसर्गः, स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च, भूतानां भावाभावकरः, सुखासुखयोर्विधाता, मृत्युः, यमो, नियन्ता, प्रजापतिः, अदितिः, विश्वकर्मा, विश्वरूपः, सर्वगः, सर्वतन्त्राणां विधाता, भावानामणु, विभुः, विष्णुः, क्रान्ता लोकानां, वायुरेव भगवानिति।' (च० सू० १२।८)

'तन्त्रं शरीरं तदेव यन्त्रं, यदि वा, तन्त्रस्य यन्त्रं सन्धयः।' (चक्रपाणि)

वायु तन्त्र जो शरीर है, वही यन्त्र है, उसको धारण करता है प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान स्वरूप विविध चेष्टाओं का प्रवर्तक, मन का नियंत्रक एवं प्रवर्तक, वाणी का प्रवर्तक, शब्द, स्पर्श की प्रकृति, चारो युग के अन्त करने वाले मेघ, सूर्य, अनल, अनिल की सृष्टि वायु है। वह ही भगवान सबका कारण, अक्षय स्वरूप प्राणियों का भाव तथा अभाव करने वाला, सुख-दुःख का विधाता, मृत्यु-यम नियन्त्रक, प्रजापति, अदिति, विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वगामी, सर्वतन्त्र अर्थात् सब कर्मों का विधाता है। तन्त्र शब्द कर्म वाचक भी है तथा सभी भावों का विधाता है। अणु, विभु, विष्णु तथा सब लोकों पर आक्रमण कर अर्थात् सबमें व्याप्त होकर रहने वाला वायु ही भगवान् है।

४. 'सर्वार्थानर्थकरणे विश्वस्यास्यैककारणम्।
अदुष्टदुष्टः पवनः शरीरस्य विशेषतः॥
स विश्वकर्मा विश्वात्मा विश्वरूपः प्रजापतिः।
स्रष्टा धाता विभुर्विष्णुः संहर्ता मृत्युरन्तकः॥' (अ० हृ० नि० ५१।१-२)

अदुष्ट अर्थात् शुद्ध पवन प्रकृतिस्थ वायु सभी सांसारिक अर्थ उत्पत्ति, स्थिति आदि करने एवं दुष्ट अर्थात् दूषित वायु अनर्थ करने में एक अर्थात् प्रधान कारण है। जिसमें विशेषतः शरीर के अर्थ एवं अनर्थ करने का कारण है। वह वायु विश्वकर्मा, विश्वात्मा, विश्वरूप, प्रजापति, स्रष्टा (सबकी रचना करने वाला), धाता (धारक), विभु (प्रभावशाली), विष्णु, संहर्ता (संहार करने वाला), मृत्यु (प्राणनाशक) तथा यम है।

५. 'स्पर्शवान् वायुः।' (वै० द० २।१।४)

स्पर्शगुणात्मक वायु है।

६. 'रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः। स द्विविधः—नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः—शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकत्वक् सर्वशरीरवर्ति। विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः। शरीरान्तः-सञ्चारी वायुः प्राणः। स चैकोऽप्युपाधिभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभते।' (तर्कसंग्रह)

जो रूप रहित हो अर्थात् जिसका कोई स्वरूप न हो और जो स्पर्श गुण से युक्त हो, उसे वायु कहते हैं। वह नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार का है, जिसमें नित्य वायु परमाणु स्वरूप और अनित्य वायु कार्य स्वरूप है। पुनः कार्य रूप अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय और विषय इस भेद से तीन प्रकार का है—

(१) शरीर भेद से वायुलोक में अर्थात् वायवीय शरीर वायुलोक में है।

(२) वायवीय इन्द्रिय भेद से अर्थात् वायवीय इन्द्रिय त्वगिन्द्रिय है, जो समस्त शरीर में वर्तमान होने से प्रत्यक्ष रूप से उष्ण, शीतल आदि स्पर्श जन्य ज्ञान का अनुभव करती है।

(३) विषय भेद से वायु तीसरे प्रकार का है, जो वृक्षादि को हिलाने वाला वायु है। शरीर के भीतर सञ्चारित होने वाला प्राण वायु है। वह एक है, परन्तु शरीरान्तर्गत स्थान भेद से उसकी पाँच संज्ञाएँ इस प्रकार हैं—(क) प्राण, (ख) उदान, (ग) समान, (घ) अपान एवं (च) व्यान।

(क) प्राण वायु—सुश्रुतसंहिता के अनुसार प्राणवायु मुख में सञ्चारित करने वाले अन्न को भीतर प्रवेश करने वाला तथा प्राणी का अवलम्बन करता है। मूर्द्धा, उर, कण्ठ तथा नासिका ही इसका स्थान आचार्य डल्हण ने बतलाया है।

(ख) उदान वायु—भाषण, गीतादि तथा उच्छ्वासादि कार्य करता है। नाभि, उरू एवं कण्ठादि स्थान इसका भी उक्त टीकाकार ने लिखा है।

(ग) समान वायु—अमाशय एवं पक्वाशय मध्य स्थित है। पाचकाग्नि की सहायता करता है तथा गुल्म और अतिसार आदि रोग उत्पन्न करता।

(घ) व्यान वायु—समग्र शरीर में सञ्चरण करने वाला है। यह कुपित होने पर प्रायः सर्वशरीरगत रोग उत्पन्न करना है।

(च) अपान वायु—इसका स्थान महर्षि सुश्रुत ने 'पक्वाशय' बतलाया है। परन्तु प्रकुपित हो वह अधोभाग स्थित वस्ति तथा गुदा संश्रित रोगों को उत्पन्न करता है। जब शरीरगत पाँचों प्रकार के वायु का प्रकोप हो जाता है, तो शरीरान्त हो जाता है।

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ।।'

प्राण वायु हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में उदान कण्ठ में और व्यान समग्र शरीर में है ।

'स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः ।'

(वैशेषिक सूत्र वैदिक वृत्ति)

१. स्पर्श, २. संख्या, ३. परिमाण, ४. पृथक्त्व, ५. संयोग, ६. विभाग, ७. परत्व, ८. अपरत्व एवं ९. वेग नामक संस्कार, ये वायु के गुण हैं ।

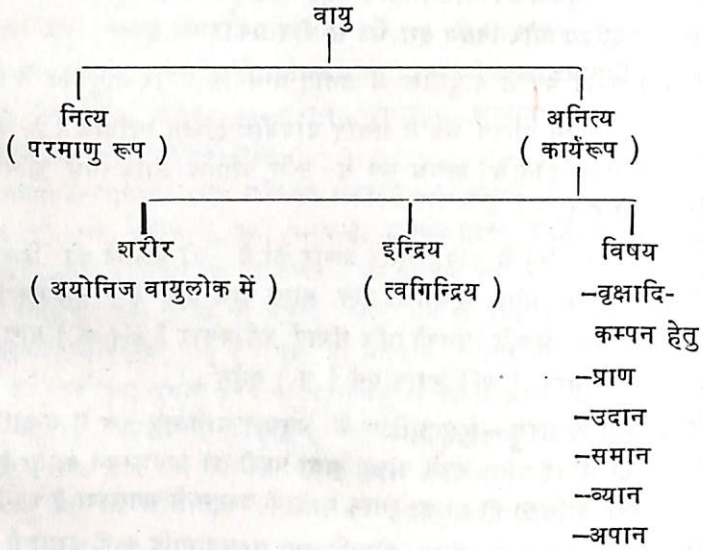

वाय्वात्मक अंग—'वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यम् ।'

(च० शा० ४।१२)

स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्), रौक्ष्य, प्रेरण, धातुव्यूहन अर्थात् धातु रचना तथा धातु वहन और शारीरिक चेष्टाएँ वाय्वात्मक हैं । महर्षि सुश्रुत ने वायव्य भाव में 'सर्वशरीर-स्पन्दन' सारे शरीर में जो स्पन्दन (चालन) होता है, उसे भी बतलाया है ।

तेजो-निरूपण

१. 'वायोरग्निः' ।

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

वायु से अग्नि की उत्पत्ति हुई । वायु गतिशील होती है । गति से अग्नि की उत्पत्ति हम नित्य प्रति देखते हैं । दो वस्तुओं को रगड़ने में गति होती है और इस

गति या रगड़ से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। जैसे दोनों हाथों की हथेलियाँ आपस में रगड़ने से गरम हो जाती हैं। इस प्रकार वायु से अग्नि उत्पन्न होती है। यह गति या रगड़ जितनी तीव्र होगी, उतनी ही तीव्र अग्नि होगी। इसके साथ ही वायु में बहुत अधिक मात्रा में आक्सीजन और हाइड्रोजन नामक गैसें होती हैं, इनमें हाइड्रोजन ज्वलनशील तथा आक्सीजन जलने में सहायक होती है। इन दो गैसों की सहायता से अग्नि उत्पन्न होती है।

२. 'तेजो रूप स्पर्शवत्'। (वै० द० २।१।३१)

रूप और स्पर्श गुण वाला तेज अर्थात् अग्नि है। तेज शब्द से 'अग्नि' महाभूत अभिहित है। 'तेजस उष्णता' (वै० द० २।२।४)। 'तेजसः' अग्नि तत्त्व का चिह्न 'उष्णता' गर्मी है। अग्नि में उष्णता स्वभावतः व्यवस्थित है। इसीलिए स्पर्श में उष्णता प्रतीत होते ही अग्नि का ज्ञान हो जाता है।

३. 'उष्णस्पर्शवत्तेजः। तच्च द्विविधं—नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्य्यरूपम्। पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके प्रसिद्धम्। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्योदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अविन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भक्तस्य परिणामहेतुरुदर्यम्। आकरजं सुर्वणादि'। (तर्कसंग्रह)

तेज अर्थात् अग्नि उसे कहते हैं, जिसका स्पर्श उष्ण हो, अर्थात् स्पर्श करने से जो उष्ण (गरम) प्रतीत हो। वह तेज दो प्रकार का है—(अ) नित्य, (ब) अनित्य। नित्य परमाणु रूप है और अनित्य कार्य रूप है। पुनः कार्य रूप अनित्य तेज तीन प्रकार का है—(१) शरीर, (२) इन्द्रिय एवं (३) विषय।

(१) आदित्यलोक (सूर्यलोक) में तेजस शरीर सर्वथा तेजोयुक्त कान्तिमान् है।

(२) रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय जो (कृष्ण तारा) काली पुतली के अग्रभाग में है, वह तेजस इन्द्रिय है।

(३) तैजस विषय अर्थात् तेज का जो विषय है, उसके भी चार भेद हैं—(क) भौम, (ख) दिव्य, (ग) उदर्य एवं (घ) आकरज।

(क) भौम तेज अग्नि आदि है, क्योंकि वह भूमि से उत्पन्न होता है।

(ख) दिव्य तेज जल से उत्पन्न होने वाली 'विद्युत्' बिजली है

(ग) उदर्य तेज वह तेज है, जो खाये हुए भक्ष्य पदार्थों का पाचन करता है। वह उदराग्नि है।

(घ) आकरज तेज खनिज—स्वर्ण, रजत आदि पदार्थ है।

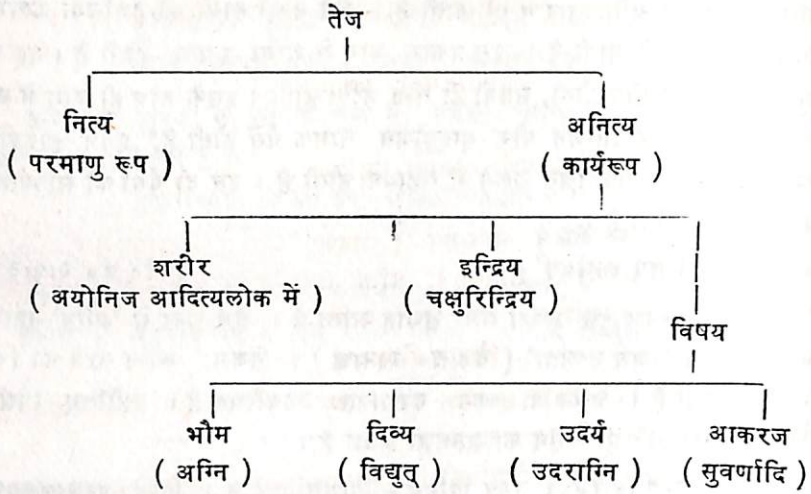

४. 'उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।
नैमित्तिकं द्रवत्वं च नित्यतादि च पूर्ववत् ॥
इन्द्रियं नयनं वह्निः स्वर्णादि विषयो मतः ॥' (मुक्तावली)

तेज का उष्ण स्पर्श है, रूप भास्वर शुक्ल है, द्रवत्व इसका नैमित्तिक गुण है। पूर्व द्रव्य की भाँति ही इसके नित्य, अनित्य भेद होते हैं। तेज का इन्द्रियसंज्ञक रूप नयन तथा विषयसंज्ञक स्वर्णादि है।

५. 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।'

अग्नि एक है, परन्तु वह संसार में सबमें प्रविष्ट है और जिस पदार्थ में प्रविष्ट है, तद्वत् उसका स्वरूप है। इससे यह सिद्ध है कि 'अग्नि' सर्वत्र वर्तमान है। 'समवाय-सम्बन्धेन उष्णस्पर्शवत्त्वं तेजस्त्वम् ।' समवाय सम्बन्ध से उष्ण स्पर्श जिसमें वर्तमान हो, वह तेज है। तात्पर्य यह है कि अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण होते हैं। शुद्ध अग्नि का स्वरूप शुक्ल भास्वर (चमकीला) होता है। तपती धारा में, उबलते जल में एवं ज्येष्ठ मास की 'लू' में जो उष्णता होती है, उसको ही यदि 'अग्नि' कहा जाय, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह उष्णता 'अग्नि' की उष्णता नहीं है, अपितु 'अग्नि' संयोग से उसमें उष्णता की अनुभूति संयोगज तथा अस्वाभाविक समझनी चाहिए।

'रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत्। पूर्ववदेषां सिद्धिः। तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपम्। उष्ण एवं स्पर्श।' (प्रशस्तपाद)

रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्वापरत्व, द्रवत्व और संस्कार—ये कुल ग्यारह गुण तेज में हैं। पूर्ववत् इसकी सिद्धि है। इसका रूप शुक्ल भास्वर तथा स्पर्श उष्ण है।

अग्न्यात्मक अङ्गम्—'अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं, प्रकाशः पंक्तिरौष्ण्यं च ।'
(च० शा० ४।१२)

अग्न्यात्मक रूप दर्शन (चक्षुरिन्द्रिय), प्रकाश (दीप्ति), पंक्ति (परिपाक) तथा औष्ण्य (परिताप) है ।

'तैजसास्तु रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पंक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यञ्च ।'
(सु० शा० १।२०)

सुश्रुत ने शरीर में तैजस भाव-रूप (लावण्य), चक्षु, गौरादि वर्ण, सन्ताप (औष्णय), भ्राजिष्णुता (दीप्तिता), पक्ति (अग्निकृत आहार पाक), अमर्ष (क्रोध), तैक्ष्ण्य (आशुक्रिया) तथा शूरता बतलाया है ।

विद्युत्-निरूपण

विद्युत् शब्द की व्युत्पत्ति—वि + द्युत् + क्विप् । वि उपसर्ग पूर्वक 'द्युत्' धातु में क्विप् प्रत्यय लगाकर विद्युत् शब्द वनता है ।

विद्युत्-पर्याय—'तडित् सौदामिनी विद्युच्चञ्चला चपला अपि ।' (अमरकोष)

मेदिनीकोशकार ने विद्युत् शब्द का विग्रह करते हुए कहा है—'विगता द्युत् कान्तिः यस्याः सा' अर्थात् जिसकी कान्ति चली गयी हो । इसका निष्प्रभ अर्थ किया है ।

'विशिष्टा द्युत् दीप्तिः' अर्थात् जिसकी विशेष दीप्ति हो, इस प्रकार विशिष्ट दीप्तिशाली के लिए ऋग्वेद में विद्युत् शब्द का प्रयोग किया गया है । 'हस्काराद् विद्युतस्पर्शतो जाता अवन्तुनः' । (ऋग्वेद १।२३-१२)

सायण ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'हस्काराद् दीप्तिकाराद् विद्युतो विशेषेण दीप्यमानात्' इससे विद्युत् शब्द का अर्थ विशेषेण दीप्यमान इन्होंने किया है ।

यास्काचार्य रचित निरुक्त प्रथम भाग में ऋग्वेद २।२३।९ के मन्त्र की संस्कृत व्याख्या में तलितो शब्द प्रयुक्त हुआ है । टिप्पणी में 'तडितो' अथवा 'तलितो' लिखा गया है । इसकी तालयतीति 'तालितो' ताडयतीति 'तडितो' व्याख्या की गई है । शाकपूणि ने तडित् को विद्युत् का पर्यायवाचक शब्द बतलाया है । उन्होंने कहा है—'विद्युत् तडित् भवतीति शाकपूणिः' । अर्थात् विद्युत् तडित् होता है । निरुक्त में आचार्य ने कहा है—''याश्च दूरे दूरे तालितो याश्चान्तिके ।.....'स्तहि अवताड़यति' दूराच्च दृश्यते.....दूरेऽपि सन् अन्तिके इव सन् दृश्यते इति' । जो दूर-दूर है और जो समीप में है, वही अवताड़ित करती है और दूर से दिखलाई पड़ती है । अर्थात् दूर में होती हुई समीप में होने की भाँति दिखलाई पड़ती है ।

तडित् और विद्युत् की सीधी तथा स्पष्ट परिभाषा निरुक्त के व्याख्याकार वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने कही है—'ताडयतीति सतः = यदा विद्युत्, वृक्षादीन् ताडयति तदा सा तडित् इति उच्यते, यदा सा विद्योतते तदा सा विद्युत् इति उच्यते ।' जब विद्युत् वृक्षादि को ताडित करती है अर्थात् उन पर आघात करती है, तब 'तडित्' कही जाती है और जब चमकती है, तब विद्युत् कही जाती है ।

ज्योतिषशास्त्र में चार प्रकार के विद्युत् का उल्लेख मिलता है—

'वाताय कपिला विद्युत् आतपाय हि लोहिता।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षायासिता भवेत् ॥'

विद्युत् कपिश वर्ण की तेज वायु बहने की, अधिक रक्त वर्ण की तेज धूप की, पीले वर्ण की वर्षा की तथा सफेद वर्ण की हो, तो दुर्भिक्ष की सूचना समझनी चाहिए।

जल-निरूपण

१. 'अग्नेरापः।' (तैत्तिरीयोपनिषद्)

अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि ठोस वस्तु को यदि अग्नि द्वारा गरम किया जाय, वह द्रव रूप हो जाता है। जैसे ताम्र, लोहा तथा सोना आदि सभी अग्नि के सम्पर्क से द्रव हो जाते हैं। साथ ही यदि किसी द्रव पदार्थ से अग्नि या उष्णता हटा दी जाये, तो वह ठोस हो जाता है। जैसे जल से उष्णता हटाने पर वह बर्फ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जल हाइड्रोजन और आक्सीजन दो गैसों से बनता है। इनमें हाइड्रोजन ज्वलनशील तथा आक्सीजन जलने में सहायक है। आश्चर्य है कि इन दोनों के सम्पर्क से जल जैसी वस्तु का निर्माण होता है। इस प्रकार जल तत्त्व की उत्पत्ति अग्नि से होती है।

२. 'रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवा स्निग्धाः।' (वै० द० २।१।२१)

जल रूप, रस, स्पर्शयुक्त, द्रव (पतला) अर्थात् बहने वाला तथा स्निग्ध (चिकना) है।

३. 'वर्णः शुक्लो रसस्पर्शो जले मधुरशीतलौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ॥
नित्यतादि पूर्ववत्तु किन्तु देहमयोनिजम्।
इन्द्रियं रसनं सिन्धुर्हिमादिर्विषयो मतः ॥' (मुक्तावली)

जल का वर्ण शुक्ल है। उसमें मधुर रस और शीतल स्पर्श, ये दो गुण हैं। स्नेह और द्रवत्व उसके सांसिद्धिक गुण हैं। नित्य और अनित्य भेद पृथिवी के समान हैं, किन्तु जलीय शरीर अयोनिज ही होता है, जो वरुण लोक में है। इन्द्रियसंज्ञक रसना है और सिन्धु आदि विषयसंज्ञक हैं।

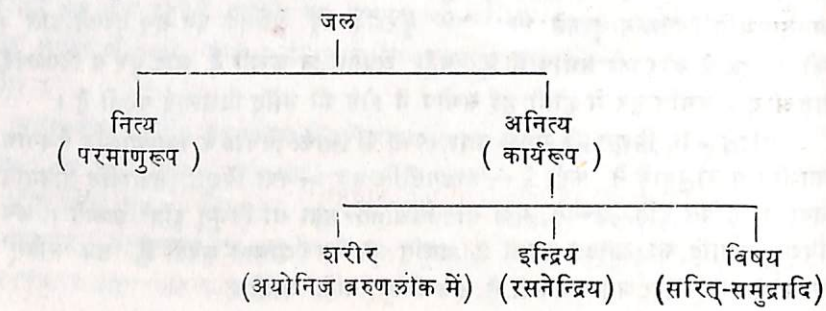

४. 'शीतः स्पर्शवत्य आपः। सा द्विविधाः—नित्याः अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः। अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः।' (तर्कसंग्रह)

जिसका स्पर्श शीतल हो, उसे जल कहते हैं। जल दो प्रकार का है—(१) नित्य, (२) अनित्य। नित्य परमाणु रूप है और अनित्य कार्यरूप। पुनः वह कार्य रूप जल शरीर, इन्द्रिय एवं विषय भेद से तीन प्रकार का है। वरुण लोक में निवास करने वाले का शरीर जल का है, जिह्वा के अग्रभाग पर रहकर मधुर आदि रस को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय 'रसना' है और वही जलीय इन्द्रिय है। नदी, तालाब, समुद्र, कूप आदि जलीय विषय हैं। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से शीतल स्पर्श जिसमें वर्तमान हो, उसे जल कहते हैं। जल में स्पर्श, रूप, रस ये तीनों गुण होते हैं, जिससे जल स्पर्श किया जा सकता है। जल का स्वाभाविक रूप शुक्ल है। जल का स्वाभाविक रस अव्यक्त मधुर है। रस की योनि जल ही है। रस में अम्ल, कटु और तिक्तता आदि विभिन्न द्रव्यों के संयोग से होता है। यद्यपि जल का शीत स्पर्श है, परन्तु सूर्य, अग्नि आदि के संयोग से उष्ण भी हो जाता है, किन्तु यह अल्पकालिक होता है। उष्णता का कारण दूर होने पर जल अपनी स्वाभाविक स्थिति शीतल स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है। सुश्रुत के अनुसार सत्त्व तथा तमोगुण प्रधान जल है। जल की चार अवस्थाएँ मानी गयी है—(क) अम्भ, (ख) मरीची, (ग) मर एवं (घ) अप्।

(क) अम्भ—सूर्यमण्डल से ऊपर आकाश के ऊपरी भाग में उपस्थित जो जल है, उसे 'अम्भ' कहते हैं। पूर्वाचार्यों का ऐसा कथन है कि यही अमृतस्वरूप है और इसमें परमात्मा का निवासस्थान है।

(ख) मरीची—सूर्यमण्डल और पृथ्वी के मध्य स्थित जल को 'मरीची' कहते हैं। यह मरीची (माली) सूर्य के चतुर्दिक् माला की भाँति रहता है। एतदर्थ भगवान् सूर्य का नाम 'मरीची' (माली) कहा गया है। यह अग्नि को धारण करता है, फलतः यह आग्नेय सोम तत्त्व है। इसी से प्रकाश प्रसार होता है।

(ग) मर—पृथिवी पर स्थित जल को मर कहते हैं। इसकी उत्पत्ति अम्भ और मरीची के संयोग से कही गयी है।

(घ) अप्—पृथिवी के नीचे भाग में अवस्थित जल को अप् कहते हैं।

'पानीयमान्तरीक्षमनिर्देश्यरसममृतं जीवनम्·····।' (सु० सू० ४५।२)

'अन्तरीक्षादागतम् आन्तरिक्षं न तु तत्र भवं कुतः, मेघजत्वात्, तत्र जातमित्येके। अनिर्देश्यरसमव्यक्तरसम् अप्रकटरसमित्यर्थः; अत्यल्परसत्वात्, न पुनस्तस्य

रसो नास्ति । अमृतमिति अमृतमिवेत्यर्थः.....अमृतं ब्रह्मरूपमित्यन्ये । जीवनं प्राणधारणं सौम्यधातुवृद्धिकरमिति केचित्, ओजोवृद्धिकरमित्यन्ये ।' (डल्हण)

अर्थात् अन्तरिक्ष से आया हुआ जल अव्यक्त रस, अमृत ब्रह्मरूप एवं जीवन स्वरूप है । अन्तरिक्ष से आया हुआ इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वहाँ होता है, क्योंकि जल प्रत्यक्ष रूप से मेघजन्य है ।

'जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् ।
तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते ।।'

(च० सू० २७।१९६)

सुश्रुत ने जल के कई प्रकार प्रतिपादित किये हैं । इन सबको ध्यान में रखते हुए महर्षि चरक ने कहा है कि समग्र प्रकार का जल एक ही प्रकार का है । वह इन्द्र से प्रेरित है तथा आकाश से गिरता है । अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि वह एक प्रकार का है, तो कुछ जल सदोष एवं कुछ जल निर्दोष क्यों होता है । इसके उत्तर में महर्षि कहते हैं कि वह गिरता हुआ आकाशगत जल शीतोष्णादि रूप, समय तथा गिरा हुआ भूमि-विशेष रूप देश की अपेक्षा करता है । सारांश यह है कि जल एक होते हुए भी स्थान-विशेष और वस्तु-विशेष से विभिन्न गुण युक्त हो जाता है ।

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार—ये चौदह गुण जल के हैं । पृथिवी के समान ही इन गुणों की सिद्धि है । इसका रूप शुक्ल, रस मधुर और स्पर्श शीत है । स्नेह और द्रवत्व जल के सांसिद्धिक गुण हैं ।

अप्यात्मक भाव—'अवात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवं स्नेहः क्लेदश्च ।'

(च० शा० ४।१२)

गर्भावस्था में तृतीय मास में रस, रसन (रसनेन्द्रिय), शैत्य, मार्दव, स्नेह तथा क्लेद बन जाते हैं ।

'आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च ।'

(सु० शा० १।२०)

सुश्रुत ने शरीर में आप्यभाव रस, रसनेन्द्रिय, शरीरान्तर्गत सर्वद्रवसमूह, गुरुता, शैत्य, स्नेह तथा रेत (शुक्र) बतलाया है ।

पृथिवी-निरूपण

१. 'अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिः ।' (मनु)

जल से गन्ध-गुणवती पृथिवी उत्पन्न हुई । जल को यदि ठण्डा कर दिया जाय, तो वह द्रव अवस्था को छोड़कर बर्फ के रूप में ठोस हो जाता है । अर्थात् जल का ही संघात रूप ठोस होता है । इस प्रकार द्रव या जल तत्त्व से ही पृथ्वी

तत्त्व की उत्पत्ति हुई। पृथिवी में स्वगुण गन्ध एवं अन्य भूतों के शब्द, स्पर्श, रूप और रस इस प्रकार कुल पाँच गुण वर्तमान हैं। गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है। यह गुण और किसी अन्य भूत में नहीं पाया जाता है। अतः जहाँ कहीं सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि किसी प्रकार का गन्ध प्रतीत हो, वहाँ पृथिवी का 'अस्तित्व' समझना चाहिए। पृथिवी से जो भिन्न भूत जल और वायु हैं, उनमें कभी-कभी सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध जो प्रतीत होता है, वह उनका गुण नहीं है, वह उनका औपाधिक गुण है। जब उनमें पृथिवी के कणों का संयोग हो जाता है, तभी उनमें गन्ध उत्पन्न होती है।

२. 'रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी।' (वै० द० २।१।९)

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाली पृथिवी है। इनमें गन्ध गुण अपना तथा तीन गुण अन्य तीन भूतों के हैं। इस प्रकार पृथिवी में चार गुण हैं। आकाश को वैशेषिक ने द्रव्य मानते हुए भी उसका शब्दगुण यहाँ किसी भूत में नहीं गिनाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक शास्त्रकार का अपना-अपना भिन्न-भिन्न अभिमत होता है, तदनुसार उनके लाक्षणिक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। इस महाभूत को सांख्य-शास्त्र में प्रकृति का कार्य माना है। वैशेषिककार ने 'आकाश' के शब्दगुण का प्रतिपादन न कर उसका अन्य प्रकार से लक्षण किया है। इस विषय में महर्षि चरक के बहुत सुन्दर एवं स्पष्ट वचन हैं, जो सविवरण पूर्व में दिया जा चुका है। यहाँ आयुर्वेद का सिद्धान्त युक्तिसंगत है। जब चार भूतों के गुण गृहीत हैं, तब एक भूत आकाश का भी गुणोल्लेख किया जाना चाहिए। 'आकाश' बिना किसी की स्थिति ही सम्भव नहीं है। सर्वप्रथम आकाश की ही उत्पत्ति, तदनन्तर अन्य भूतों की उत्पत्ति का क्रम शास्त्रों में कहा गया है।

३. 'तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा—नित्याऽनित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः। (तर्कसंग्रह)

पंचमहाभूतों में जो गन्धवान् भूत है, वह पृथिवी है। इसीलिए यह गन्धवती कही गयी है। 'समवायसम्बन्धेन गन्धवत्वं पृथिवीलक्षणम्' कहा गया है, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से गन्धत्व पृथिवी का लक्षण कहा गया है। वह दो प्रकार की है—(१) नित्य, (२) अनित्य। नित्य परमाणु रूप और घट-पट आदि कार्य रूप है। पुनः वह कार्य रूप अनित्य पृथिवी त्रिविध है—शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से। हम लोगों का शरीर पार्थिव शरीर कहा जाता है। गन्ध ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय पार्थिव इन्द्रिय है, जो नासिका के अग्रभाग पर है। इसी प्रकार विषय भेद से मिट्टी पत्थर, घट, पट आदि द्रव्य पार्थिव विषय हैं।

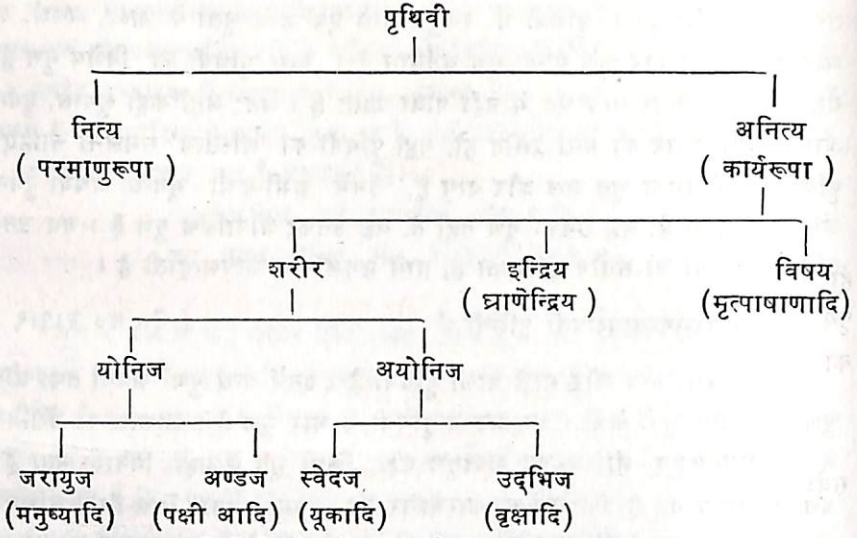

४. 'तत्र क्षितिर्गन्धहेतुर्नानारूपवती मता ।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधो मतः ॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयो ह्यनुष्णाशीतपाकजः ।
नित्यानित्या च सा द्वेधा नित्या स्यादणुलक्षणा ॥
अनित्या तु तदन्या स्यात् सैवावयवयोगिनी ।
सा च त्रिधा भवेद् देहमिन्द्रियं विषयस्तथा ॥' (सिद्धान्तमुक्तावली)

पृथिवी के सम्बन्ध में मुक्तावलीकार ने कहा है कि नाना रूप वाली पृथिवी गन्ध का हेतु है । उसमें षड्रस तथा दो प्रकार के गन्ध हैं । इसके अनुष्णाशीत पाकज स्पर्श है । नित्य और अनित्य भेद से वह दो प्रकार की है । परमाणु रूप नित्य एवं तद्विपरीत अवयव रूप (कार्य रूप) अनित्य है । पुनः वह देह, इन्द्रिय तथा विषय भेद से तीन प्रकार की है ।

'स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश ।' (वैशेषिकसूत्र वैदिक वृत्ति)

१. स्पर्श, २. संख्या, ३. परिमाण, ४. पृथक्त्व, ५. संयोग, ६. विभाग, ७. परत्व, ८. अपरत्व, ९. वेग, १०. द्रवत्व, ११. गुरुत्व, १२. रूप, १३. रस एवं १४. गन्ध—ये चौदह पृथिवी के गुण हैं ।

पृथिव्यात्मक भाव—

'पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्चेति ।' (च० शा० ४।१२)

चरक के अनुसार गर्भकाल में तीसरे मास में ही गन्ध, घ्राण (नासा), गौरव, स्थैर्य तथा मूर्ति (काठिन्य), ये पृथिव्यात्मक भाव उत्पन्न हो जाते हैं ।

पञ्चम अध्याय

आत्मा

नव द्रव्य मध्य आत्मा भी पृथक् द्रव्य है। अतः यहाँ उसका विवेचन किया ही जाता है, किन्तु इसका विशद विवेचन होने से ग्रन्थ में 'पुरुष-प्रकरण' नाम से पृथक् भी एक अन्य अध्याय लिखा गया है और वहाँ विस्तरशः इस पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

आत्मा का लक्षण तथा प्रकार

'ज्ञानाधिकरणमात्मा। स च द्विविधः—जीवात्मा परमात्मा चेति। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव, जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।' (तर्कसंग्रह)

ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। अर्थात् जिस द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान हो, वही आत्मा है। वह आत्मा दो प्रकार का है—१. जीवात्मा, २. परमात्मा। परमात्मा अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ और एक है। जीव प्रति शरीर भिन्न-भिन्न व्यापक और नित्य है। तात्पर्य यह है कि 'आत्मा' यह शब्द जीवात्मा और परमात्मा उभयार्थ में व्यवहृत है। एक सर्वभाव रहित परम पुरुष, परब्रह्म एवं परमात्मा है। दूसरा सर्व-भाव सत्त्वादि करण युक्त कर्मानुसार जन्म लेकर फल भोगनेवाला, प्रति शरीर भिन्न-भिन्न जीवात्मा है।

आयुर्वेद-सम्मत आत्मा के भेद

आयुर्वेद में आत्मा पद से तीन प्रकार का अर्थ ग्रहण किया जाता है—(१) परम आत्मा, (२) अतिवाहिक या सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा, (३) स्थूल चेतन शरीर या कर्मपुरुष।

परम आत्मा

'निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥'

(च० सू० १/५६)

"निर्विकारो निर्विकृतिः, तेन निरोगत्वमात्मनः। पर इति सूक्ष्मः श्रेष्ठो वा..... शरीरादावप्यात्मशब्दो वर्तते, तद्व्यवच्छेदार्थं पर इति पदम्। उक्तं ह्यन्यत्र—'ब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निमनोधृतीनां धर्मस्य कीर्तेर्यशसः श्रियश्च। तथा शरीरस्य शरीरिणश्च स्याद् द्वादशस्विङ्गित आत्मशब्दः॥' इति।...सत्त्वं मनः, भूतगुणाः शब्दादयः इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि एतैः करणभूतैश्चैतन्ये कारणं भवत्यात्मा। चैतन्यं चात्मनि जायते..... ..... । साङ्ख्यमते च मनःशब्देन बुद्धिरन्तःकरणं च गृह्यते।" (चक्रपाणि)

आत्मा निर्विकार विकृत रहित है तथा 'परः' अर्थात् सूक्ष्म अथवा श्रेष्ठ है। 'परः श्रेष्ठः सत्त्वशारीराभ्यां व्यतिरिक्तो वा' (चरकोपस्कार)। अर्थात् श्रेष्ठ है अथवा सत्त्व और शरीर से अतिरिक्त है। आत्मा शब्द से शरीरादि का भी ग्रहण होता है। अतः इसको दूर करने के लिए ही 'परः' इस शब्द का प्रयोग किया है। उक्त चक्रपाणि के उद्धरण से स्पष्ट है कि 'आत्मा' शब्द ब्रह्मादि वर्णित द्वादश शब्दों के लिए प्रयुक्त होता है। वह आत्मा मन, भूतगुण शब्दादि और इन्द्रिय चक्षुरादि करणभूत के साथ योग युक्त होने पर चैतन्य में कारण है। चैतन्य आत्मा में होता है। मन शब्द से सांख्य-मत में बुद्धि और अन्तःकरण का ग्रहण होता है। वह नित्य है, देह नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है। 'द्रष्टा' देखने वाला है, अर्थात् साक्षीस्वरूप है और साक्षी होने के कारण सत्त्व एवं शरीर की सारी क्रियाओं को देखता है।

आत्मा की चेतनता के सम्बन्ध में महर्षि चरक ने कहा है—

'अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते॥'

(च० शा० १।७५-७६)

मन, अचेतन तथा क्रियावान् है। 'परः' अर्थात् आत्मा चेतयिता है, परन्तु साक्षात् क्रियावान् नहीं है। आत्माधिष्ठित मन की क्रिया आत्मा की क्रिया कही जाती है। आत्मा चेतनवान् है, अतः कर्त्ता कहा जाता है। मन अचेतन होने के कारण क्रियावान् होने पर भी 'कर्त्ता' नहीं कहा जाता है। ज्ञान और चेतना इनका सम्बन्ध आत्मा से ही है, न कि सत्त्व और शरीर से। इस सम्बन्ध में पुरुष-निरूपण स्थल पर विशेष प्रकाश डाला गया है। द्रव्य-संग्रह स्थल पर आत्मा के सम्बन्ध में जल्पकेल्पतरु-टीकाकार ने बहुत ही सुन्दर ढङ्ग से कहा है—

'आत्मा पुनश्चेतनाधातुर्निष्क्रियो निर्गुणः सच्चिदानन्दः आदिरनादिः स्वतन्त्रः सर्वगः वशी विभुः साक्षीति। स च सत्त्वकरणो गुणमुपादानो जीवाख्यः सुखी च दुःखी इच्छावांश्च द्वेषवांश्च स्मृतिमांश्च धृतिमांश्च बुद्धिमांश्च चेतनावांश्चाहङ्कारवांश्च प्रयत्नवांश्च भवति।'

आत्मा चेतना धातु निष्क्रिय आदि है। सत्त्वकरण से युक्त हो, जब वह गुण को ग्रहण करता है, वह जीवात्मा कहा जाता है और सुखी, दुःखी, इच्छावान् आदि होता है।

'स सवर्गः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव॥'

(च० शा० २।३२)

वह आत्मा कर्म के अधीन होने से सर्वगामी है और सर्वशरीर अर्थात् देव, मनुष्य आदि सभी शरीर धारण करता है। वह विश्वकर्मा संसार को बनाने वाला अर्थात् सब काम करने में समर्थ है और वह विश्वरूप अर्थात् सर्वरूप है। वही चेतना धातु और अतीन्द्रिय है। वह नित्ययुक्त अर्थात् कर्मादि से नित्ययुक्त है और वही 'सानुशयः अनुशयेन रोगादिना सह वर्तमानः' अर्थात् रोगादि के साथ वर्तमान है।

'अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः॥'

(च० शा० २।३७)

अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म रूप उन चारों भूतों से मोक्ष के पूर्व आत्मा वियुक्त रूप नहीं होता है। न कर्म, न मन, न बुद्धि, न अहंकार तथा न विकार दोष से वियुक्त रहता है। अहङ्कार-विकार ही दोष है। अर्थात् इन सभी से अनुबद्ध रहता है।

अतिवाहिक शरीर (सूक्ष्म शरीर) या लिङ्ग-शरीर-निरूपण

सूक्ष्म शरीर को ही लिङ्ग शरीर कहते हैं। 'सप्तदशैकलिङ्गम्' (सा० द० ३।९) सांख्यदर्शन के अनुसार सत्रह तत्त्वों का लिङ्ग शरीर होता है, जो इस प्रकार हैं— १ बुद्धि, २. एकादश इन्द्रियाँ अर्थात् मन, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, ३. पञ्चतन्मात्रा। इस प्रकार सत्रह तत्त्वों का लिङ्ग शरीर कहा है। लिङ्ग शरीर सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम महत्, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चतन्मात्राएँ, इस प्रकार इन अष्टादश तत्त्वों का समुदायस्वरूप प्रति पुरुष पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता है।

'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥
चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।
तद्वद् विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥'

(सां० का० ४०-४१)

लिङ्ग शरीर सृष्टि के आदि काल में प्रधान (प्रकृति-पुरुष) से पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। वह असक्त और नियत है। महत् तत्त्व, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ, इस प्रकार कुल मिलाकर अठारह तत्त्वों का वह समुदायात्मक स्वरूप है। स्थूल शरीर बिना वह निरुपभोग है अर्थात् केवल अपने से ही वह भोग का स्थान नहीं बनता। अतः धर्माधर्म भावों से युक्त होने के कारण संसरण करता है। जैसे—बिना किसी आश्रय के चित्र एवं बिना वृक्षादि से छाया नहीं हो पाती, ठीक उसी प्रकार बिना किसी आश्रय अर्थात् स्थूल शरीर के आश्रय हीन लिङ्ग शरीर भी नहीं रह सकता।

'भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ।।'

(च० शा० २।३१)

वह जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में सूक्ष्म चार भूतों के साथ अदृश्य रूप में अर्थात् लिङ्ग शरीर में धर्माधर्म रूप कर्म के अनुसार मन की गति से जाता है। धर्माधर्म रूप कर्म ही इसको भोगार्थ जिस शरीर को ले जाता है, वह जाता है। बिना दिव्य दृष्टि उसके स्वरूप का किसी को कोई दर्शन नहीं होता है। योगी महात्मा ही इसे देखते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सूक्ष्म शरीर भी है और मरण पश्चात् अपने कर्म के अनुसार सूक्ष्म शरीर से जीवात्मा दूसरे शरीर में जाकर जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर ही लिङ्ग शरीर है। लिंग शरीर सभी योनियों में प्रवेश कर सकता है। यह लय को प्राप्त हो जाता है। लिंग शरीर का विवेचन गीता-रहस्य में तिलक जी ने भी किया है कि प्रकृति के कुल तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं और स्थूल महाभूत उन तेईस तत्त्वों में से अलग करने पर अठारह तत्त्व शेष रह जाते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिए कि जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, वह यद्यपि पंचमहाभूतात्मक स्थूल शरीर अर्थात् अन्तिम पाँच तत्त्वों से छूट जाता है, तथापि इस प्रकार की मृत्यु से प्रकृति के अन्य अठारह तत्त्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। ये अट्ठारह तत्त्व इस प्रकार हैं—

महान् (बुद्धि), अहंकार, मन, दश इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्राएँ। ये सब तत्त्व सूक्ष्म हैं, अतएव इन तत्त्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है, उसे स्थूल शरीर के विरुद्ध (सूक्ष्म शरीर) अथवा लिंग शरीर कहते हैं। जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसकी आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त अठारह तत्त्वों से बना हुआ लिंग शरीर भी स्थूल शरीर से बाहर हो जाता है और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक उस लिङ्ग शरीर ही के कारण उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।

(गीता-रहस्य)

चिकित्स्यपुरुष, कर्मपुरुष, संयोगपुरुष, षड्धातुपुरुष, चतुर्विंशति तत्त्वात्मक पुरुष (राशिपुरुष) एवं सगुण आत्मा

पुरुष शब्द की निरुक्ति

"पुरि शरीरे शेते इति व्युत्पत्त्या य आत्मा पुरुषशब्देनोच्यते·····। अत्र पुरुष इति कर्तव्ये[1] यत् 'पुरुषसंज्ञक' इति करोति तेन न चेतनाधातुरूपः पुरुषश्चिकित्साया-मभिप्रेतः।"

(चक्रपाणि)

---

१. वक्तव्ये इत्यपि पाठः।

पुर अर्थात् शरीर में जो आत्मा सोता है, वह पुरुष शब्द से कहा जाता है। यहाँ पुरुष शब्द के कथन से जो पुरुषसंज्ञक यह अर्थ करते हैं, उससे 'चेतनाधातु' रूप पुरुष गृहीत नहीं है। यहाँ कर्मपुरुष जो चिकित्साधिकृत है, उसका ग्रहण है।

चिकित्स्य पुरुष

आयुर्वेद में पुरुष शब्द से चिकित्साधिकृत अर्थात् चिकित्स्यपुरुष, संयोगपुरुष, राशिपुरुष, कर्मपुरुष, सगुण आत्मा, जीवात्मा तथा भूतात्मा का ग्रहण होता है। अतः तदनुसार ही अब प्रतिपादन किया जाता है।

'सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशितः॥'

(च० सू० १।४६-४७)

सत्त्व (मन), आत्मा (चेतना धातु) तथा शरीर पञ्चमहाभूत विकार समुदायात्मक इन तीनों का तीनों दण्डों की भाँति मिला हुआ समुदाय 'लोक' इस शब्द से कहा गया है। जिस प्रकार घड़ा आदि रखने के लिए तीन दण्डों को संयुक्त कर एक तिपाई बना दी जाती है और एक भी दण्ड गिर जाने से वह त्रिदण्ड की बनी तिपाई गिर जाती है, ठीक उसी प्रकार सत्त्वादि में एक के भी न रहने पर सत्त्व, आत्मा तथा शरीर समुदायात्मक लोक गिर जाता है। तीनों के संयोग से ही वह लोक ठहरता है और उसी लोक में कर्म फलादि स्थित है।

'तत्र अन्योन्यसंयुक्ते सत्त्वादित्रये संयोगपुरुषापरनामके सर्वं जन्ममरणादिकं प्रतिष्ठितम्।' (चरकोपस्कार)

उस अन्योन्य संयुक्त सत्त्वादि त्रय संयोगपुरुषापर नामक सत्त्वादि त्रय में जन्म मरणादि प्रतिष्ठित है, वही सत्त्वादि त्रय पुरुष है। वही चेतन ज्ञानवान् है, वही इस आयुर्वेद या आयुर्वेदोक्त क्रिया का अधिकरण है, क्योंकि उसी के लिए यह आयुर्वेद प्रकाशित है। तात्पर्य यह है कि यही चिकित्साशास्त्रोपयुक्त चिकित्साधिकृत अर्थात् चिकित्स्य पुरुष है।

'अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता॥' (च० शा० १।३७)

इसी पुरुष में कर्म (अदृष्ट), फल (कर्मफल), ज्ञान, मोह (अज्ञान), सुख, दुःख, जीवित (जन्म), मरण एवं स्वता (यह मेरी स्त्री, यह मेरा पुत्र इत्यादि ममता ज्ञान) यह सब स्थित है। इसी प्रकार महर्षि सुश्रुत ने भी पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—

'अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्।' (सु० सू० १।१८)

इस शास्त्र में पञ्चमहाभूत पृथिव्यादि शरीरि आत्मा का संयोग 'पुरुष' कहा जाता है। उसी में शास्त्रोक्त क्रिया होती है, वही अधिष्ठान है। महर्षि सुश्रुत ने पुरुष को असर्वगत मानते हुए अपने ढंग का विशद निरूपण किया है।

धातु भेद से पुरुष

षड्धातुज पुरुष

'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।'

(च० शा० १।१६-१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा छठवीं धातु चेतना, इस प्रकार षड्-धात्वात्मक पुरुष है। यहाँ चेतना कहने से चेतना का आधार मन और पञ्चभूत कहने से पाँचों इन्द्रियाँ जो भौतिक हैं, ग्रहण हो जाती हैं। सुश्रुत के वचन का भी यही सारांश है कि पञ्चमहाभूत और शरीरि आत्मा का समवाय स्वरूप अर्थात् सम्मिलित स्वरूप पुरुष है। वही 'कर्मपुरुष' है और वही चिकित्साधिकृत है।

'कर्मस्वधिकृतः पुरुषः कर्मपुरुषः' (हाराणचन्द्र) अर्थात् जो कर्म में अधिकृत है, वह कर्मपुरुष है। इस प्रकार षड्धात्वात्मक पुरुष कर्मपुरुष है और वही चिकित्साधिकृत है।

'आत्मैव शरीररहितः पुरुषशब्दार्थत्वेन वाक्यः पुरुषधारणाद्धातुः।'

(चक्रपाणि)

एक धातु (चेतना धातु) पुरुष

'चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥

(च० शा० १।१६-२)

शरीर रहित आत्मा ही चेतना धातु है, जो पुरुष शब्द से कही गयी है। पुरुष धारण करने से धातु है। इस प्रकार शरीर रहित एक चेतना धातु भी पुरुष संज्ञक कहा गया है। चेतना धातु पुरुष को परमात्मा कहते हैं। यह नित्य एवं अनादि होता है। इसका कोई कारण नहीं होता।

चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुष

'पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिः स्मृतः।
मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृति चाष्टधातुकी॥'

(च० शा० १।१७)

वही षड्धातु रूप पुरुष पुनः धातु भेद से चतुर्विंशतितत्त्वात्मक कहा गया है।

अष्टधातु की प्रकृति अर्थात् अव्यक्त, महान्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ तथा मन, पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, एवं पञ्चमहाभूत, इस प्रकार कुल चतुर्विंशति तत्त्व हैं—

'अष्टधातुकीति खादिपञ्चकबुद्ध्यव्यक्ताहङ्काररूपा'। (चक्रपाणि)

कहा भी है—

'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाऽष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकार इति संज्ञिताः॥'

(च० शा० १।६३-६४)

अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ आठ प्रकृति हैं। पञ्चबुद्धीन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रिय, उभयात्मक मन, इस प्रकार एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत ये षोडश विकार हैं। इस प्रकार चिकित्स्य पुरुष, राशिपुष, संयोगपुरुष आदि महर्षि चरक के अनुसार 'चतुर्विंशतिक' पुरुष हैं, जो चौबीस तत्त्वों का समुदाय है। इनमें अव्यक्त स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त महान्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रियाँ होती हैं।

'बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥' (च० शा० १।३५)

बुद्धि, बुद्धि कथन से अहंकार, इन्द्रियाँ, मन एवं अर्थ के योगधर को 'परम' अर्थात् अव्यक्त जानना चाहिए। सारांश यह है कि मूल प्रकृति, महदादि सात प्रकृति एवं षोडश विकार यह चतुर्विंशति तत्त्व 'राशिपुरुष' संज्ञक है।

संयोग-पुरुष

'संयोगपुरुषयेष्टो विशेषो वेदनाकृतः।' (च० शा० १।८५)

चतुर्विंशति पुरुष ही संयोग पुरुष है। वेदना सुख-दुःख रूप है। वेदनाकृत विशेष संयोग पुरुष अर्थात् पाञ्चभौतिकशरीरिसमवायि पुरुष को ही जानना चाहिए।

आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति

'आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥
पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा॥'

(च० शा० १।५४-५५)

आत्मा 'ज्ञ' ज्ञाता है, किन्तु कारणों के संयोग से इसका ज्ञान प्रवर्तन होता है। परन्तु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आत्मा 'ज्ञ' है, तो उसे सर्वदा ज्ञान क्यों

नहीं होता है ? इसका समाधान महर्षि ने दूसरी पंक्ति में किया है कि करणों की अविमलता अथवा अयोग से ज्ञान नहीं होता है। जैसे मलिन शीशे में अथवा कलुषित जल में प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसी प्रकार मन अर्थात् करण अपहत होने से अथात् उनके अयोग से ज्ञान नहीं होता है।

आत्मा की उत्पत्ति

'प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मणः॥'

(च० शा० १।५३)

अनादि परमात्मा का प्रभव (कारण) कोई नहीं है, (जब उसका कारण हो हो जायेगा, तो उसे अनादि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके पूर्व कारण उपस्थित होगा)। राशिपुरुष मोह, इच्छा, द्वेष एवं कर्म से उत्पन्न होता है (इसलिए यह सकारण होता है)।

शरीर से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व

'करणान्यान्यता दृष्टा कर्तुः कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥
निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च॥
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः॥
अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा॥'

(च० शा० १।४९-५२)

इन्द्रियों की अन्यान्यता (अनेकता) स्पष्ट है, अर्थात् ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ अनेक हैं, यह प्रत्यक्ष है, परन्तु कर्ता तथा भोक्ता वही एक आत्मा है। इस प्रकार सब कार्मों का कारण नव करणों (इन्द्रियों) से युक्त कर्ता आत्मा ही है। शरीर आदि भावों के नाश में निमेषकाल से भी शीघ्रतर काल लगता है। जब शरीर आदि भावों का विनाश हो जाता है, तो पुनः उसका सद्भाव (सत्ता) नहीं देखा जाता और अपना किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म का फल दूसरे को प्राप्त नहीं होता है। उपर्युक्त मत तत्त्ववेत्ताओं का है, इसलिए प्राणियों के कार्य करने में तथा उस अपने किये कार्य के फल को भोगने में आत्मा ही कारण होता है, दूसरा नहीं। अहंकार, फल, कर्म, देहान्तर गति, स्मरण शक्ति आदि देहातिरिक्त चेतन (आत्मा) के कारण होते हैं। अतः आत्मा देह से अतिरिक्त है, यह सिद्ध है।

सगुण पुरुष-निरूपण

'तत्र कारणानुरूपं कार्य्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति, तदञ्जनत्वात् तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुष भवन्तीत्येके भाषन्ते ।'

(सु० शा० १।११)

कारण के सदृश कार्य होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार कारण रूप प्रकृति के सदृश तत्सदृश कार्य्य महदादिक ये सभी विशेष सत्त्वरजस्तमोमय अर्थात् त्रिगुणात्मक होते हैं ।

'तदञ्जनत्वात्' अर्थात्' तेषां सत्त्वरजस्तमसां अञ्जनं लक्षणं व्यक्तिर्वा येषु ते तदञ्जनाः पुरुषाः सत्त्वादिलक्षणा इत्यर्थः, तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात्तदेव । तन्मयत्वादिति सत्त्वादिमयत्वात् ।' (डल्हणाचार्य)

अर्थात् सत्त्व, रज और तम के लक्षणों वाला एवं सत्त्वादिमय पुरुष होता है । 'तदञ्जनत्वात्' अर्थात् प्रकृति से लिप्त होने के कारण । अञ्जन का अर्थ लेप अथवा अपद्रव्य की मिलावट है । पुरुष स्वयं निर्गुण होते हुए भी प्रकृति से लिप्त होने के कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है । जिस प्रकार शीशा सर्वथा स्वच्छ होते हुए भी लालफूल की सन्निधि से स्वयं लाल दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार पुरुष निर्गुण होते हुए भी सगुण प्रकृति से संयुक्त होने पर सत्त्वरजस्तमोमय हो जाता है । जैसे किसी तड़ाग आदि के जल में जब चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जब जल हिलता है, तब व्यवहार में कहते हैं—चन्द्र हिलता है, किन्तु हिलता जल है, आकाशस्थ चन्द्र तो जल से बहुत दूर रहता है । उसी प्रकार निर्गुण पुरुष होते हुए भी सगुण अर्थात् सत्त्वादि रूप महदादि से प्रतिबिम्बित होकर सगुण सत्त्वादिमय की भाँति बन जाता है और सगुण कहा जाता है । तन्मय होने से तद्गुण सुखी, दुःखी तथा मूढ़ पुरुष होता है । परन्तु वस्तुतः वह पुरुष सत्त्वादिमय नहीं रहता है, ऐसा आचार्य का कथन है ।

आत्मा के लक्षण और उसके गुण

'प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः ।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥'

(च० शा० १।७०-७३)

प्राण, अपान, उच्छ्वास, निःश्वास, निमेष-उन्मेष (आँखों के पलक बन्द होने और खुलने का कार्य), जीवन, मन की गति (विभिन्न स्थानों में मन के जाते रहने की गति), इन्द्रियान्तर सञ्चार (विभिन्न इन्द्रियों में मन का सञ्चरण) अर्थात् एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरी इन्द्रिय में मन का सञ्चार, प्रेरण (मन का इन्द्रियों को उनके विषय में प्रेरित करना), धारण करना, स्वप्न में देशान्तर गति (स्वप्न में विभिन्न देशों में गति करना), पञ्चत्व ग्रहण (मरण), दक्षिणाक्षि से देखे हुए पदार्थ का वामाक्षि से ज्ञान होना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न (कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म करने की प्रवृत्ति), चेतना (चैतन्य), धृति[1], बुद्धि (ज्ञान), स्मृति (इन्द्रियों द्वारा भूतकाल में जो ज्ञान हुआ है, उसका पुनः उदय होना) तथा अहङ्कार (अहम्भाव) होना, ये सब पुरुष के गुण और लक्षण हैं। ये लक्षण जीवित पुरुष में होते हैं, न कि मरे हुए में। इसलिए यह कुल बाइस आत्मा के लक्षण और गुण कहे गये हैं।

'तस्य सुखःदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः।' (सु० शा० १।१८)

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मनःसङ्कल्प (मन का कर्म), विचारणा (ऊहापोह द्वारा वस्तु-विचार), स्मृति (पूर्वानुभूत विषय-स्मरण), विज्ञान (शिल्प-शास्त्रादि बोध), अध्यवसाय (बुद्धि-व्यापार) तथा विषयोपलब्धि अर्थात् शब्दादि विषयों का ज्ञान—ये षोडश पुरुष के गुण हैं।

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।'

(न्या० द० १।१।१०)

न्यायदर्शन के अनुसार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लक्षण कहे गये हैं।

'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि।'

(वै० द० ३।२।४)

वैशेषिक दर्शनकार ने प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, जीवन, मन की गति, इन्द्रियान्तर-विकार अर्थात् एक इन्द्रिय से ग्रहण किये हुए विषय का दूसरे इन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो जाना; जैसे—आँखों से खटाई आदि खाद्य पदार्थों के अवलोकन से जिह्वा में पानी भर आना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के लक्षण प्रतिपादित किये हैं।

---

१. 'धीधृतिस्मृतयः प्रज्ञाभेदाः। धृतिर्हि नियमात्मिकेति यस्माद् धृतिरकार्यप्रसक्तं मनो निवर्तयति स्वरूपेण।' (चक्रपाणि) धृति प्रज्ञाभेद है, यह नियमात्मिका होती है, अकार्य में लगे हुए मन को यह उससे निवृत्त करती है।

आत्मा का देहान्तर-गमन

'भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न[1] तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥'
(च० शा० २।३१)

आत्मा व्यापक होते हुए भी कर्मवशात् आकाश रहित अन्य चारों सूक्ष्म भूतों के साथ मन की गति से गति युक्त हो, म्रियमाण देह से उत्पद्यमान देह को जाता है। अर्थात् धर्माधर्म रूप कर्म इसे भोगार्थ जहाँ ले जाता है, यह उसी देह को जाता है। दिव्य दृष्टि विना इसका रूप दृश्य नहीं होता है। केवल योगी ही इसे देखते हैं। इस प्रकार आत्मा का देहान्तर्गमन भी होता है।

ब्रह्म, परब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा, परमात्मा तथा जीवात्मा का गीता एवं उपनिषद् के अनुसार निरूपण

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता १५।७)

'मम एव परमात्मनः अंशो भागः अवयव एकदेश इति अनर्थान्तरं जीवलोके जीवानां लोके संसारे जीवभूतो भोक्ता कर्त्ता इति प्रसिद्धः सनातनः।' (शांकरभाष्य)

जीवलोक में अर्थात् संसार में जो जीव रूप शक्ति भोक्ता एवं कर्त्ता इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है, वह मुझ परमात्मा का ही सनातन अंश है। अर्थात् अंश, भाग एवं एकदेश जो कुछ भी कहो, एक ही अभिप्राय है।

ईश्वर की शरीर में स्थिति

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।' (गीता १५।१५)

'सर्वस्य प्राणिजातस्य अहं आत्मा सन् हृदि बुद्धौ सन्निविष्टः अतो मत्त आत्मनः सर्वप्राणिनां स्मृतिः ज्ञानं तदपोहनं च।' (शाङ्करभाष्य)

समस्त प्राणि-समूह का मैं आत्मा होकर उनके हृदय तथा बुद्धि में सन्निविष्ट हूँ। अतः समस्त प्राणियों की स्मृति, ज्ञान एवं उनका लोप भी मुझ आत्मा से ही किया जाता है। पुनः कहा है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गीता १८।६१)। 'ईश्वरः ईशनशीलो नारायणः' (शाङ्करभाष्य)। भगवान् कृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन ! सभी प्राणियों के हृदय में वह ईश्वर अर्थात् सबका शासन करने वाला नारायण स्थित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर का ही अंश जीवात्मा है। दोनों का एक सम्बन्ध है, साथ ही साथ दोनों रहते हैं। एक निर्लिप्त और एक लिप्त, एक शुभाशुभ कर्मफलभोग रहित तथा दूसरा फलभोगी है।

'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥'
(श्वेताश्वतरोपनिषत् १।१५)

---

१. 'कर्मानुगत्वात्' यह भी पाठ है।

जैसे तिलों में तेल, दही में घृत, स्रोतों में जल और अरणियों में अग्नि है, ठीक उसी प्रकार हृदय में परमेश्वर अदृश्य रूप से रहता है। जो इसे सत्य और तप द्वारा देखता है, वह ग्रहण किया जाता है।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥'

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।६)

सहवासी सखाभाव वाले दो पक्षी एक वृक्ष के आश्रय में रहते हैं। उनमें से एक तो उस वृक्ष के कर्मफलों का स्वाद लेता है और दूसरा न खाता हुआ साक्षीमात्र अर्थात् केवल देखता ही है। आत्मा-परमात्मा की इस शरीर में यही स्थिति है। प्रकृति रूप का एक वृक्ष है, इस वृक्ष म दो पक्षी रहते हैं। ये परमात्मा और जीवात्मा हैं। वृक्ष को समान अंश में कहा गया है कि वह भी अनादि है। इन दोनों को 'सयुज' कहा है, क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव से एक-दूसरे से संयुक्त है।

'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥'

(श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।७)

मध्यस्थ जीवात्मा की एक ओर प्रकृति है, उसके संग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है, उसके संग से मोक्ष होता है। इस सम्बन्ध में कहते हैं—पुरुष अर्थात् जीवात्मा अपने समान अनादि प्रकृति के पदार्थों में डूबा हुआ परतन्त्रता में अज्ञान-वश शोक करता है। परन्तु जब अपने में व्यापक दूसरे स्ववश परमात्मा को और 'अस्य महिमानम्' उसकी बड़ाई को देखता है, तब 'वीतशोक' अर्थात् शोक रहित हो जाता है। सारांश यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में डूबकर अपने को भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है, तो शोकयुक्त हो जाता है कि मैं दुर्बल हो गया, रोगी हो गया इत्यादि। परन्तु जब अपने में व्यापक परमात्मा में ध्यान लगता है, तो प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूँ। मुझे परमात्मा से आनन्द ही आनन्द है।

वह परमात्मा हृदय में रहता है। इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि शरीर के अन्य अवयव से उसका सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध तो समग्र शरीर से कहा गया है।

'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥' (गीता १३।३२)

जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त होता हुआ सूक्ष्मता के कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में सर्वत्र स्थित रहता हुआ भी शरीर के गुण-दोषों से लिप्त नहीं होता। ज्ञानाधिकरण आत्मा का स्थान हृदय आयुर्वेद में भी बतलाया गया है—

'आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यञ्च हृदि संश्रितम् ।' (च० सू० ३०।४)

इच्छा-द्वेषादि आत्मगुणों के साथ वर्तमान सगुण आत्मा, चित्त एवं चिन्त्यादि मन के विषय ये सब हृदय में संश्रित हैं ।

'तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम् ।' (सु० शा० ४।३१)

'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।।' (सु० शा० ४।३५)

हृदय विशेष रूप से चेतना का स्थान है । इसका अर्थ है कि सामान्य रूप से समग्र शरीर ही चेतना का स्थान है । पुनः कहा है कि प्राणियों का हृदय चेतना का स्थान है ।

परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।' (ईशावास्योपनिषत्)

वह परब्रह्म परमात्मा सब प्रकार से पूर्ण है और यह विश्व भी पूर्ण ही है । उस पूर्ण से यह प्रकट हुआ है । पूर्ण से पूर्ण को निकाल देने पर पूर्ण ही शेष रहता है ।

'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोतमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वां विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।
यत् प्राणेन न प्राणति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।'
(केनोपनिषद् १।६८)

जिसे कोई नेत्र से नहीं देख सकता, परन्तु जिसके द्वारा नेत्रों को दर्शन शक्ति प्राप्त होती है, तुम उसको ही ब्रह्म जानो । नेत्रों द्वारा दिखलाई पड़ने वाले जिस तत्त्व की मनुष्य उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है । जिसके शब्द को कानों द्वारा कोई नहीं सुन सकता, किन्तु जिससे इन श्रोत्रेन्द्रियों को सुनने की शक्ति प्राप्त होती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो । किन्तु श्रोत्रेन्द्रियों द्वारा सुने जाने वाले जिस तत्त्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है । जो प्राण द्वारा प्रेरित नहीं होता, किन्तु जिससे प्राण प्रेरणा प्राप्त करता है, उसे तुम ब्रह्म जानो । प्राणशक्ति से चेष्टावान हुए जिन तत्त्वों की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है ।

'ब्रह्मणः परमात्मनो हि यस्मात् प्रतिष्ठा अहं प्रतितिष्ठति अस्मिन् इति प्रतिष्ठा अहं प्रत्यगात्मा । कीदृशस्य ब्रह्मणः ? अमृतस्य अविनाशिनः अव्ययस्य अविकारिणः शाश्वतस्य च नित्यस्य धर्मस्य····सुखस्य आनन्दरूपस्य ऐकान्तिकस्य अव्यभिचारिणः ।'
(शाङ्करभाष्य गी० १४।२७)

क्योंकि ब्रह्म परमात्मा की प्रतिष्ठा, मैं अन्तरात्मा ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। जिसमें प्रतिष्ठित हो, वह प्रतिष्ठा है। जो अमृत, अविनाशी, अव्यय, निर्विकार, नित्य, धर्मस्वरूप, ज्ञानयोग धर्म द्वारा प्राप्तव्य और ऐकान्तिक सुखस्वरूप आनन्दमय है, उस ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं हूँ। अमृत आदि स्वभाव वाले ब्रह्म (परमात्मा) की प्रतिष्ठा अन्तरात्मा ही है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान से वही परमात्मा रूप से निश्चित होता है। 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' (गीता १४।२६) इसी पद से स्पष्ट हो जाता है। जो सर्वभूत हृदयाश्रित मुझ ईश्वर नारायण का भक्तियोग से भजन करता है, वह 'ब्रह्मभूयाय' अर्थात् ब्रह्म भवन मोक्ष प्राप्ति में समर्थ होता है। इस प्रकार ब्रह्म में आत्मा की प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मा और आत्मा का लय स्थान ब्रह्म है।

'अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥'
(कठोपनिषत् १।२।२०)

आत्मा अणु से अणु और बड़े से बड़ा है, वह प्राणी के हृदय-गह्वर में निहित है, जो व्यक्ति सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् से भी महान् परमेश्वर को तथा उसकी महिमा को देखता है, उसके ऊपर इसे परमात्मा की कृपा ही समझना चाहिए।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति ॥'
(कठोपनिषत् २।२।१५)

वहाँ जब सूर्य, चन्द्र, तारागण तथा यह विद्युत् आदि प्रकाशित नहीं होते, तब यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है। उस ब्रह्म के प्रकाशित होने पर ही सब प्रकाशित होते हैं। यह समस्त जगत् ही उससे प्रकाशित होता है। गीता में तो भगवान् कृष्ण ने ब्रह्म, परब्रह्म, परमेश्वर, आत्मा, परमात्मा तथा अपना ही अंश जीवात्मा सब कुछ स्वयं को ही बतलाया है। उन्होंने कहा है—

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥' (गीता १४।२७)

पर परब्रह्म परमात्मा तो एक है, परन्तु अग्नि और वायु की भाँति सारे संसार में सब रूपों में प्रविष्ट होकर प्रतिरूप दिखलाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों के वचन हैं कि जीवात्मा नित्य है, उसका गुण-ज्ञान भी नित्य है, किन्तु इन्द्रिय और अर्थों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह जन्य है, नित्य नहीं है। जीवात्मा को श्रुति-स्मृतियों ने चेतना तथा अनेक माना है। कहा गया है—'अणुरेषु वैजीवोऽपरिसङ्ख्येयश्च तद्भेदः।' यह जीवात्मा 'अणु' है और इसके भेद अपरिसंख्येय हैं। इसी प्रकार 'आत्मा' के एकत्व-प्रतिपादक वाक्य भी अनेक हैं। परन्तु विचार करने से अनन्त जीवात्मा ही सिद्ध है। ग्रंथ-विस्तार भय से प्रस्तुत विषय अब यहाँ समाप्त

किया जाता है। पुरुष-प्रकरण में भी यह विषय समुल्लिखित है। अन्त में भगवान् कृष्ण का यह वाक्य कह देना चाहता हूँ—

'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥' (गीता० १०।४२)

अथवा 'बहुना एतेन एवमादिना किं ज्ञातेन तव अर्जुन स्यात् सावशेषेण। अशेषतः त्वम् इमम् उच्चमानम् अर्थं शृणु। विष्टभ्य विशेषतः स्तम्भनं दृढं कृत्वा इदं कृत्स्नं जगत् एकांशेन एकावयवेन एकपादेन सर्वभूतस्वरूपेण इति एतत्।..... इति स्थितः अहम् इति' (शाङ्करभाष्य)।

भगवान् ने अर्जुन को समझाते हुए कहा कि हे अर्जुन! मेरी दिव्य विभूति अर्थात् विस्तार का अन्त नहीं है। इस सम्बन्ध में इस सावशेष अर्थात् अधूरे विभूति विस्तार के जानने से तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अशेष रूप से कहे जाने वाले अभिप्राय को सुन लो। मैं एक अंश से अर्थात् सब प्राणियों का आत्मरूप जो मेरा एक अवयव है, उससे इस सारे जगत् को विशेष रूप से दृढ़तापूर्वक धारण करके स्थित हो रहा हूँ।

सारांश यह है कि परब्रह्म परमात्मा के विराट् स्वरूप का कोई अन्त नहीं। सामान्य रूप में यही समझना चाहिए कि वह इस संसार का निर्माण कर अपने एकांश से प्राणियों के जीवात्मा रूप में स्थित है।

षष्ठ अध्याय

मन

अब आत्म-निरूपण के पश्चात् सातवें द्रव्य मन का निरूपण किया जाता है। मन का निरूपण ऐसा विषय है कि इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। शास्त्रकारों, साहित्यकारों एवं अन्यान्य दार्शनिक विद्वानों सभी ने मन के सम्बन्ध में कहा है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मनुष्य के जन्म ग्रहण और जीवन मुक्ति का कारण मन ही है। तात्पर्य यह है कि मानव जीवन का समस्त शुभाशुभ कार्य इसी की प्रेरणा एवं सञ्चालन से होता है। महर्षि चरक ने कहा है—'अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः'। मन स्वयं अचेतन है, परन्तु क्रियावान् है। इसका चेतयिता आत्मा है। परन्तु इतना अधिक चञ्चल है कि इसके चाञ्चल्य के सम्बन्ध में अर्जुन ने भी भगवान् कृष्ण से कहा है—

'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥' (गीता ६।३४)

हे कृष्ण! मन बहुत चञ्चल, प्रमाथि, बलवान् तथा दृढ़ है, उसका निग्रह मैं वायु की भाँति दुष्कर मानता हूँ। भगवान् ने इसे स्वीकार भी किया है और कहा है—'असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।' हे अर्जुन! इसमें कोई भी संदेह नहीं कि मन बहुत ही दुर्निग्रह और चल है। इस प्रकार मन के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है। किन्तु यहाँ पर हमें महर्षि चरक के शब्दों में मन का निरूपण करना है। महर्षि चरक ने चरकसंहिता में मन का तीन स्थानों पर विशेष रूप से निरूपण किया है। प्रथम उन्होंने सूत्रस्थान के अष्टम अध्याय 'इन्द्रियोपक्रमणीय', पुनः शारीरस्थान के प्रथम अध्याय 'कतिधा पुरुषीय' और तत्पश्चात् इसी स्थान के चतुर्थ अध्याय 'महती गर्भावक्रान्ति' में मन का प्रतिपादन किया है।

मन की निरुक्ति

'मन्यते अवबुध्यते ज्ञायते अनेन इति मनः'। जिसके द्वारा कुछ जाना जाता है, उसे मन कहते हैं। 'मननात् मनः' मनन करने की क्षमता होने के कारण इसे मन कहा जाता है। व्याकरण के अनुसार मन नपुंसकलिंग है।

मन के पर्यायवाचक शब्द

'चित्तन्तु चेतो हृदयं स्वान्तं, हृन्मानसं मनः।' (अमरकोष) चित्त, चेत, हृदय, स्वान्त, हृत्, मानस और मन पर्यायवाचक शब्द हैं। मन का अन्य नाम 'सत्त्व' है।

'अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं, 'चेतः' इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टा प्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ।' (च० सू० ८।४)

पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं एक मन, इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं, जिनमें मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। यह अतीन्द्रिय है। कारण यह है कि सभी इन्द्रियों के एक-एक विषय नियत हैं और मन का सभी इन्द्रियों के विषय से सम्बन्ध है। इसका सम्बन्ध जब किसी इन्द्रिय से होता है, तभी वह इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती है।

अतीन्द्रिय—'अतिक्रान्तमिन्द्रियमतीन्द्रियम्, चक्षुरादीनां यदिन्द्रियत्वं बाह्यज्ञान-कारणत्वं, तदतिक्रान्तमित्यर्थः,·····यदि वाऽतीन्द्रियमिति चक्षुरादिभ्योऽप्यतीन्द्रियेभ्यः सूक्ष्मतरं दुःखबोधात् ।' (चक्रपाणि)

बाह्य ज्ञान के कारण चक्षु आदि जो इन्द्रियाँ हैं, उन्हें अतिक्रान्त कर लेने के कारण मन अतीन्द्रिय कहा गया है। कारण यह है कि मन के साथ योग होने से ही इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं, अन्यथा वे अपने कार्य में असमर्थ रहती हैं। अथवा अतीन्द्रिय इस शब्द से चक्षुरादि इन्द्रियों को भी यदि अतीन्द्रिय कहा जाय, तो अतीन्द्रिय चक्षुरादि से भी मन अधिक सूक्ष्मतर है, यह बहुत दुःख के साथ निगृहीत अर्थात् नियन्त्रित होता है।

सत्त्वसंज्ञक—'सत्त्वमिति संज्ञा यस्य तत् सत्त्वसंज्ञकम् ।'

इसकी सत्त्व संज्ञा होने से इसे सत्त्व भी कहते हैं। एक ने इसे 'चेत' कहा है अर्थात् तन्त्रान्तर में यह चेत एवं चित्त नाम से भी कहा गया है।

तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टम्—'तदिति मनः, तस्याऽर्थो मनोऽर्थः, स च सुखा-दिश्चिन्त्यविचार्यादिश्च, आत्मा चेतनप्रतिसन्धाता, अनयोः सम्पत् तदर्थात्मकसम्पत् एतदायत्ता चेष्टा व्यापारो यस्य तत्तथा ।' (चक्रपाणि)

मन के विषय आत्मा की सम्पत्ति के अधीन हैं, चेष्टा व्यापार जिसका वह तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टम् मन है। इसके अतिरिक्त चक्षुरादि इन्द्रियों की अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की जो चेष्टाएँ होती हैं, उनका कारणभूत अर्थात् प्रवर्त्तक मन ही है। प्रथम मन में ही कार्य करने की प्रवृत्ति होती है और वह जो कार्य देखना, सुनना, चलना आदि चाहता है, उस कार्य को करने वाली इन्द्रियों से स्वयं सम्बन्धित हो, उस कार्य को सम्पन्न करता है। कहा है—

'मनःपुनःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ।' (च० सू० ८।७)

'इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, मनः पुरःसरं येषां तानि मनःपुरःसराणि, मनसा अधिष्ठितानि एव अर्थानां विषयाणां रूपादीनां ग्रहणे समर्थानि भवन्ति ।'

इन्द्रियाँ मनपूर्वक ही अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

यदि इन्द्रियों का और मन का योग न हो, तो इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर सकती हैं।

उपाधि भेद से मन का अनेकत्व—शरीर में मन वस्तुतः एक ही है। परन्तु एक रहते हुए भी वह उपाधि भेद से अनेक है। कहा गया है—

'स्वार्थेन्द्रियार्थसङ्कल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमः सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वं न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः।' (च० सू० ८।५)

एक पुरुष में मन एक और अणु है, किन्तु वह मन के विषय जो चिन्त्यादि हैं, उनकी विविध चिन्तना से कैसे कभी धार्मिक विषयों की चिन्तना, कभी कामादि अन्यान्य विषयों की चिन्तना, इसी प्रकार इन्द्रियों के जो अन्य विभिन्न विषय हैं, उन विभिन्न विषयों की चिन्तना, अर्थात् कभी कुछ सुनने लगना, कभी कुछ देखने लगना, कभी किसी की सुगन्ध लेने लगना, इसी प्रकार कभी कुछ, कभी कुछ विभिन्न मानसिक कल्पनाओं में अर्थात् विभिन्न विषयों में रह-रहकर मन के व्यभिचरित होते रहने से एवं रज, तम तथा सत्त्व गुण के योग से अर्थात् एक ही पुरुष में एक जो मन है, वह कभी रजोगुण की वृद्धि से क्रोधयुक्त, कभी तमोगुण की वृद्धि से अज्ञान भयादि युक्त, कभी सत्त्व गुण की बहुलता से शुद्ध पवित्र भाव युक्त हो जाने से एक होते हुए भी अनेक मन की भाँति प्रतीत होने लगता है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस पुरुष के शरीर में कई मन हैं, किन्तु यह बात नहीं है, मन अनेक नहीं हैं। यदि अनेक हैं तो एक काल में उसे प्रत्येक इन्द्रिय में प्रवृत्त होना चाहिए। सुनना, देखना आदि सब विषय एक ही साथ उस मन को ग्रहण करना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। एक समय में वह एक मन अनेक में प्रवृत्त न हो, एक ही इन्द्रिय से संयुक्त हो, केवल उसके ही विषय को ग्रहण करता है। इससे एक काल में सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती है। जिस समय मन चक्षु से संयुक्त होता है, उस समय घ्राण से नहीं, जिस समय घ्राण से संयुक्त होता है, उस समय चक्षु से नहीं। इससे यह सिद्ध है कि मन एक है और अणु है। एक ही पुरुष में कभी रजोयुक्त, कभी तमोयुक्त तथा कभी सत्त्वयुक्त जो मन होता हैं और वह पुरुष तत्तद्गुणपरक कार्य करने लगता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है—

'यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात्।' (च० सू० ८।६)

जिस गुण से युक्त मन पुनः-पुनः पुरुष का होता रहता है और उस गुण से युक्त वह मन सात्त्विक, राजस तथा तामस कहा जाने लगता हैं, इसका कारण उस गुण की वृद्धि है, अर्थात् उस गुण का तथा मन का अधिक सम्बन्ध है। सत्त्व गुण की अधिकता से पुरुष का मन सत्त्वयुक्त हो जाता है, वह पुरुष सात्त्विक कहलाता है

और सत्त्वपरक कार्य; जैसे—पवित्राचरण युक्त हो जाता है तथा सत्य सम्भाषण आदि करने लगता है। इसी प्रकार अन्य गुणों की भी वृद्धि से अन्य गुणयुक्त हो जाता है और अन्य गुणपरक कार्य मनुष्य करता है।

मन का लक्षण

१. 'लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्त्यान्मनसो[1] ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते॥'

(च० शा० १।१८-१९)

मन का लक्षण ज्ञान का अभाव और भाव ही अर्थात् ज्ञान का होना और न होना ही है। इसका क्रम यह है कि आत्मा, मन, इन्द्रियों के विषय, इन चारों के परस्पर सन्निकर्ष अर्थात् संयोग से ज्ञान होता है, किन्तु आत्मा, इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय का संयोग होने पर भी यदि मन का संयोग न हो, तो उस दशा में विषय ज्ञान नहीं होता है। इसी भाव को उक्त श्लोकों में बतलाया गया है कि आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ के संयोग होने पर भी मन के असंयोग होने से ज्ञान नहीं होता है। वह ज्ञान मन के संयोग होने से ही होता है। जैसे—एक साथ कई इन्द्रियार्थों और इन्द्रियों के संयोग रहने पर भी मन का जिस इन्द्रियार्थ से संयोग होता है, उसी का ज्ञान होता है। युगपत् एक साथ सब इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता। इससे यह सिद्ध है कि मन एक और अणु है।

२. 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसः लिङ्गम्।'

(वै० द०)

आत्मा, इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय इनके सन्निकर्ष में भी ज्ञान का भाव होना और अभाव होना मन का लक्षण है। इससे यह सिद्ध है कि 'मन' एक है और वह जब तक जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त नहीं होता, तब तक आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ रहते हुए भी ज्ञान नहीं होता है। चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के सामने उनके विषय रहते हुए भी उनका ज्ञान मन के संयोग बिना नहीं होता है। वह भी ज्ञान एक समय में एक ही इन्द्रिय से होता है।

३. 'युगपत्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।' (न्या० द०)

एक साथ अनेक विषयों का ज्ञान न होना मन का लक्षण है।

४. 'सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च।' (तर्कसंग्रह)

---

१. 'वैवृत्यात्' के स्थान पर कहीं 'वैधृत्यात्' पाठ है।

सुख तथा दुःख के ज्ञान का साधन जो इन्द्रिय है, वह मन है। अर्थात् मन वह इन्द्रिय है, जिसके द्वारा सुख तथा दुःख का ज्ञान होता है। वह प्रत्येक जीवात्मा के साथ नियत होने से अनन्त, परमाणु रूप तथा नित्य है।

मन के गुण

'अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।' (च० शा० १।१९)

अणु होना और एक होना, ये दो गुण मन के होते हैं।

मन का विषय

'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः।' (च० सू० ८।१६)

'चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत् किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥' (च० शा० १।२०)

चिन्त्यम्—नाना विषय की चिन्तना, विचार्य—गुण-दोष से विवेचना, ऊह्यम्—सम्भावना के आधार पर तर्क करना, ध्येय—एकाग्र मन से जो ध्यान किया जाता है, सङ्कल्प्यम्—मन से जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य गुण-दोष को ध्यान में रखते हुए कल्पना की जाती है, इसी प्रकार अन्य जो कुछ मन द्वारा जानने योग्य, ग्रहण करने योग्य सुख-दुःख-इच्छा-द्वेषादि है, वे सब अर्थसंज्ञक मन के विषय हैं।

मन के कर्म

'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्त्तते॥'

(च० शा० १।२१)

इन्द्रियाभिग्रह—अपने-अपने विषयों में इन्द्रियों को प्रेरित करना। निग्रह—अनिष्ट विषयों में लगे हुए मन का निग्रह अर्थात् स्वयं अपने को नियमित करना। ऊहः—शास्त्रादि अर्थ को युक्तिपूर्वक विचार कर स्थापित करना। विचार—किसी विषय पर उसके ग्रहण अथवा त्याग का विचार करना आदि मन के कर्म हैं। इस प्रकार किसी विषय पर विचारादि के पश्चात् बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है कि क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य है।

शरीर में मन का अधिष्ठान

'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥'

(च० सू० ३०।४)

दोनों बाहु, दोनों जंघाएँ, सिर, अन्तराधि-मध्य शरीर—ये षट् अंग सकल शरीर, विज्ञान (बुद्धि), चक्षुरादि इन्द्रियाँ, अर्थपञ्चक—रूपादि पञ्च विषय, सगुण

आत्मा अर्थात् चेतना, धातु, आत्मा और इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, आत्मा के गुण, चित्त, चिन्त्यादि मन के विषय—ये सब हृदय में संश्रित हैं।

व्याधि अधिष्ठान एवं मन

'शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधिनामाश्रयो मतः।' (च० सू० १।५५)

व्याधि के दो अधिष्ठान हैं—१. शरीर एवं २. मन। मानसिक व्याधियों का आश्रय अर्थात् अधिष्ठान मन है। तात्पर्य यह है कि मन रोगों का भी स्थान है। रज एवं तम मानस दोष हैं। रोगरहित शरीर रहने में भी मन कारण है। कहा गया है—

'मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥'
(च० शा० २।४७)

मति अर्थात् स्मरण, चिन्तन, मनन, वाणी और कर्म ऐसा हो, जिससे उत्तर काल में सुख प्राप्ति हो, 'सत्त्वं विधेयं स्वायत्तं मनः' (चक्रपाणि)। मन अपने अधीनस्थ हो, बुद्धि पाप रहित हो, तत्त्वज्ञान तप-योग में तत्परता आदि, ये सब जिस पुरुष में होते हैं, उसे रोग नहीं होते हैं।

जिन समुदित षट् भावों से गर्भोत्पत्ति होती है, उनमें भी मन छठवाँ एक 'भाव' है।

'अस्ति खलु सत्त्वमौपपादुकं, [1]यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्याय्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति।' (च० शा० ३।१३)

'जीवं स्पृशतीति जीवस्पृक्। जीवस्पृक् शरीरं शुक्रशोणितात्मकगर्भशरीरम्। तत्रैव जीवात्मनः प्रथमसम्बन्धो भवतीति तत् 'जीवस्पृक्' इत्युच्यते। सत्त्वमपि उपपादुकं घटकमस्ति। यत् सत्त्वं जीवस्पृक्शरीरेण शुक्रशोणितात्मकगर्भशरीरेण सह आत्मानं अभिसम्बध्नाति संयोजयति। आत्मनो निष्क्रियस्य गर्भशरीरे यदवक्रमणं तत् सत्त्वद्वारेण भवति इति सत्त्वमौपपादुकं उपपादुकमपि पाठः।' (चरकोपस्कार)

जीव को स्पर्श करने से 'जीवस्पृक्' और शरीर 'शुक्रशोणितात्मक' गर्भ-शरीर है। गर्भाशय में ही जीवात्मा और शुक्रशोणितात्मक गर्भ-शरीर का प्रथम सम्बन्ध होता है। इसलिए 'जीवस्पृक्' शरीर कहा जाता है। सत्त्व भी एक उत्पादक घटक है, जो जीवस्पृक् शरीर के साथ अपने को संयुक्त करता है, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है। यदि सत्त्व न हो, तो जीवात्मा का आगमन ही न हो। गर्भ-शरीर में जीवात्मा जो

---

१. 'जीवस्पृकशरीरेण' इति पाठः।

आत्मा है, वह सत्त्व द्वारा ही आता है। उसके देहान्तर गमनोन्मुख होने पर आसन्न मरण पुरुष का स्वभाव विपरीत हो जाता है, भक्ति (इच्छा) विपरीत हो जाती है, सभी इन्द्रियाँ उपतप्त हो जाती हैं, बल नष्ट हो जाता है, व्याधियाँ बढ़ने लगती हैं, जिससे हीन अर्थात् जिससे परित्यक्त होने पर पुरुष प्राण का भी परित्याग कर देता है। इससे यह सिद्ध है कि गर्भोत्पत्ति में भी मन एक मुख्य भाव है, जिसके बिना निष्क्रिय आत्मा का गर्भाशय में प्रवेश नहीं होगा और परिणाम यह होगा कि गर्भोत्पत्ति ही नहीं होगी, क्योंकि आत्मा के जाने पर ही गर्भ संज्ञा कहा है—

'शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।'

(च० शा० ४।५)

शुक्र, शोणित और जीव का संयोग गर्भाशय में प्रविष्ट होने पर गर्भ की संज्ञा होती है। इतना ही नहीं, अपितु मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन मन ही है। इस प्रकार नव द्रव्य के मध्य 'मन' जो द्रव्य है, वह अचेतन होते हुए भी मानव के गर्भ धारण-काल से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य के समस्त कार्यों का सञ्चालक है। कहा गया है—

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयास्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥'

(कठोपनिषत् १।१३)

आत्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथि और मन लगाम है। इन्द्रियाँ घोड़े, विषय उनके गमनागमन के मार्ग एवं इन्द्रिय मनोयुक्त जीवात्मा को ही उपयोग करने वाला विद्वानों ने कहा है। जो सदा ज्ञान रहित अर्थात् अविवेक बुद्धि एवं असंयमित मन युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथि के दुष्ट घोड़े की भाँति हो जाती हैं।

सप्तम अध्याय

काल एवं दिशा

काल-निरूपण

आकाश की तरह दिक् और काल अमूर्त्त द्रव्य हैं। इनमें प्रत्येक एक, निरवयव, नित्य एवं सर्वव्यापी है, किन्तु उपाधि भेद से नाना प्रकार के प्रतीत होते हैं।

काल शब्द की निष्पत्ति

काल शब्द का ककार और आकार तथा ली धातु का लकार लेकर काल शब्द बनता है।

काल शब्द का लक्षण

१. 'स सूक्ष्मामपि कलां न लीयते इति कालः।' (सु० सू० ६।८)

वह काल गतिशील होने से सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला में लय नहीं होता है। कहीं लीयते के स्थान पर 'कलीयते' पाठ है, वहाँ 'कलीयते संख्यायते' अर्थात् संख्यान करना अर्थ है।

२. 'सङ्कलयति कालयति वा भूतानिति कालः।' (सु० सू० ६।८)

क से घ तक इस वाक्य का अर्थ डल्हण के टीकानुसार निम्नस्थ है—

(क) 'सङ्कलयति संहरणादेकराशीकरोति भूतानीति वा।' काल सब भूतों का संहार कर एक राशि कर देता है।

(ख) 'सङ्कलयति सुखदुःखाभ्यां भूतानीति योजयतीति वा कालः।' अथवा काल समस्त प्राणियों को सुख-दुःख से युक्त करता है।

(ग) 'कालयति संक्षिप्यतीति वा कालः।' अथवा काल आयु आदि संक्षिप्त कर देता है।

(घ) अथवा 'कालयति मृत्युसमीपं नयतीति वा कालः।' अथवा काल मृत्यु समीप को ले जाता है।

(च) 'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः।' सम्पूर्ण प्राणियों का उत्पादन करने से वह काल कहा जाता है।

३. 'कालश्चक्रवद् भ्रमणेनाविरतगमनशीलस्वभावः।' (जल्पकल्पतरु-टीका)

काल चक्र की भाँति भ्रमण करते रहने से सतत गमनशील स्वभाव कहा जाता है।

४. 'कालः पुनः परिणाम उच्यते ।' (च० सू० ११।४२)

'परिणमयति भूतानीति परिणामहेतुत्वात् परिणाम उच्यते·····एष हि कालः सर्वाणि शुभाशुभानि कर्माणि परिणम्य धर्माधर्मरूपेण परिणामसंज्ञ एव भवति ।'

(जल्पकल्पतरु-टीका)

यह काल धर्माधर्म रूप सभी शुभाशुभ कर्म को काल परिणाम से परिणत कर तदनुसार प्राणी को परिणत करता है । यह मनुष्य की परिणति काल परिणाम से होती है, अतः परिणाम भी काल है । कहा है—

'कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ।।'

(च० शा० १।११५)

काल के ही परिणाम से मनुष्य की वृद्धावस्था तथा मृत्यु जनित रोग स्वाभाविक दृष्टिगोचर होते हैं और स्वाभाविक हो जाने से वे अचिकित्स्य हो जाते हैं । क्षुत्-पिपासा-जरा-मृत्यु-निद्रा प्रभृति स्वाभाविक रोग हैं ।

५. 'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भूरनादिमध्यनिधानोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते । तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ।'

(सु० सू० ६।२-३)

'कालो महाकालः । स्वयम्भू स्वयम्भवति न केनाप्युत्पाद्यते । अनादिमध्यनिधनो नित्य इत्यर्थः । अत्र काले । रसानां व्यापत् व्यापत्तिः सम्पत्तिस्तु । कलां कलांशविशेष न लीयते न श्लिष्यति श्लिष्येन भवति । सङ्कलयति उत्पादयति जन्यमात्रं प्रतिकालस्य हेतुत्वात् । कालयति लीनानि करोति संहरति ।' (हाराणचन्द्र)

यह काल महाकाल है, यह भगवान् स्वयम्भू है, अर्थात् यह स्वयं उत्पन्न होता है । यह किसी द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता है । इसका आदि, मध्य तथा निधन (नाश) नहीं होता है, यह नित्य है । इसी में अर्थात् इसी के अधीन द्रव्यगत रसों की व्यापत्ति (विपन्नता) तथा सम्पत्ति (सम्पन्नता) है । कारण यह है कि काल-चक्र के साथ ही अर्थात् काल-परिणामस्वरूप ही रस अपूर्ण एवं पूर्ण वीर्य युक्त होते हैं । भावार्थ यह है कि कोई भी द्रव्य पूर्णरस वीर्ययुक्त आरम्भ में ही नहीं होता है, समय व्यतीत हो जाने पर काल-परिणामस्वरूप अपने समय पर ही होता है । इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन तथा मरण भी इसी के अधीन है । समय ही ऐसा है कि एक समय में मनुष्य जन्म लेता है और एक समय आता है कि जब उसका मरण होता है । वह काल गतिशील होने से सूक्ष्म भी कलांश विशेष में लीन नहीं होता है, अथवा उत्पन्न होने वालों का उत्पादक होने के कारण प्राणियों का उत्पादन अथवा संहार करता है, इसलिए इसे काल कहते हैं ।

पुनः माघादि मास कर बारह मास और दो-दो मास की एक-एक ऋतु, इस भेद से छः ऋतुएँ होती हैं। इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य द्वारा काल-विभाग से दक्षिणायन तथा उत्तरायण, दो अयन होते हैं। दो अयन का एक-एक संवत्सर स्वरूप काल उपाधि भेद से उक्त विभागों में विभक्त है। चन्द्र और सूर्य अपनी गति की विशेषता से ये विभाग करते हैं। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष चन्द्र की ही गति-विशेष से होते हैं।

६. 'अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि'। (वै० द० २।१।६)

'अपरस्मिन्'—अल्पवयस्कादि में, 'अपरम्' अल्पायुष्क होने का ज्ञान, 'युगपत्' एक साथ, 'चिरम्' देर से एवं 'क्षिप्रम्' शीघ्र, ये काल के लक्षण हैं। अर्थात् इधर में इधर का, उधर में उधर का, एक साथ में एक साथ का, देरी में देर का और जल्दी में जल्दी का ज्ञान, इस प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान काल के लिङ्ग हैं। तात्पर्य यह है कि इससे काल जाना जाता है। बाल, युवा और वृद्ध में कितने-कितने समय का अन्तर है, यह अन्तर बतलाने वाला काल ही है। कालकृत अधिक परत्व को चिर या देर कहते हैं। दूर रहते हुए भी दो देशों में एक साथ किसी क्रिया का होना काल-कृत सम्बन्ध है। इस प्रकार दोनों विभिन्न देशों की क्रिया एक साथ जिस प्रकार से सम्बन्धित होती है, वही द्रव्य काल है।

७. 'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादि स्यादुपाधितः॥' (कारिकावली)

उत्पन्न होने वाले पदार्थों का उत्पादक, संसार का आश्रय एवं परत्व, अपरत्व बुद्धि का कारण काल है। यह काल एक होते हुए भी उपाधि भेद से क्षणादि नाम युक्त होता है।

८. 'अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च।' (तर्कसंग्रह)

अतीतादि (अर्थात् भूत, भविष्य तथा वर्तमान) के व्यवहार का कारण जो द्रव्य है) उसे ही काल कहते हैं। वह सर्वव्यापक तथा नित्य है।

९. 'योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयान्तं त्वेशानं क्षेमधामं प्रपद्ये॥'
(श्रीमद्भागवत १०।३।२६)

विश्व की समस्त चेष्टाएँ काल की चेष्टाओं पर आधारित हैं। यदि काल चेष्टाशील न हो, तो विश्व निश्चेष्ट हो जायेगा। निमेषादि से संवत्सर तक उसके भेद हैं तथा उसकी कोई सीमा नहीं है।

काल के भेद

'कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य।' (च० वि० ८।१२५)

'संवत्सरोऽयनभेदेन द्विविधः, शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिविधः, ऋतुभेदेन षोढा, मासभेदेन द्वादशधा, पक्षभेदाच्चतुर्विंशतिधा, प्रहरादिनाऽनेकधेति ज्ञेयमिति ।' (चक्रपाणि)

काल संवत्सर और आतुरावस्था, इस भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें संवत्सर अयन भेद से दो प्रकार का, शीत-उष्ण तथा वर्षा भेद से तीन प्रकार का, ग्रीष्मादि ऋतु भेद से षट् प्रकार का, पक्ष भेद से चौबीस प्रकार का तथा प्रहरादि भेद से अनेक प्रकार का होता है।

'आतुरावस्थास्वपि तु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा, तद्यथा—अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्य कालोऽकालः पुनरस्येति, एतदपि हि भवत्यवस्था विशेषेण, तस्मादातुरावस्थास्वपि हि कालाकालसंज्ञा ।' (च० चि० ८।१२८)

रोगियों की जो अवस्थाएँ होती है, उनमें भी कार्याकार्य की दृष्टि से 'काल' और 'अकाल' यह संज्ञा है। जैसे इस अवस्था में इस औषधि का काल है, इसका काल नहीं है। यह अवस्था विशेष से होता है, अतः आतुरावस्था में भी 'काल' और 'अकाल' यह संज्ञा है।

इस प्रकार चरक के अनुसार वर्षा आदि जो समय चलता है, वह काल शब्द से गृहीत होता है अथवा आतुरावस्था में 'काल' एवं 'अकाल' यह शब्द व्यवहृत होता है।

'कालो हि नित्यगश्चावस्थिक, तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते, नित्यगस्तु खल्वृतुसात्म्यापेक्षः ।' (च० वि० १।२१)

चरक ने आहारविधि विशेषायतन के प्रसंग में काल के नित्यग और आवस्थिक, ये दो भेद किये हैं। इनमें से नित्यग ऋतुसात्म्य और आवस्थिक विकार से सम्बन्धित होता है।

काल का संवत्सरात्मक प्रभेद

संवत्सरात्मक उस महाकाल का ('संवत्सरः आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य महाकालस्य') भगवान् सूर्य के अपने गति-विशेष से अक्षिनिमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग इस प्रकार विभाग कर देते हैं। महर्षि सुश्रुत के अनुसार निम्नलिखित काल-विभाग हैं—

लघु अक्षर उच्चारण में लगा समय	=	१ अक्षिनिमेष
१५ अक्षिनिमेष	=	१ काष्ठा
३० काष्ठा	=	१ कला
२०$\frac{1}{2}$ कला	=	१ मुहूर्त्त
३० मुहूर्त्त	=	१ दिन-रात
१५ दिन-रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ मास
१२ मास	=	१ संवत्सर

२ मास	=	१ ऋतु
३ ऋतु	=	१ अयन
२ अयन	=	१ वर्ष
५ वर्ष	=	१ युग

आयुर्वेद में काल का महत्त्व

काल के ज्ञान का कतिपय लाभ निम्नस्थ हैं—

१. नियत काल पर भोजन करना स्वास्थ्यकर कहा गया है—

'कालभोजनं आरोग्यकराणाम् ।' (च० सू० २५।४०)

२. रसादि धातुओं की परिपक्वता का काल पुरुषों में पचीस वर्ष की अवस्था में तथा स्त्रियों में सोलह वर्ष की अवस्था में माना गया है ।

'पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥'

(सु० सू० ३५।१४)

३. सौ वर्ष का या इससे अधिक पुराना घृत कालप्रभाव से कफ-वात नाशक, बल्य, चक्षुष्य तथा मेध्य होता है । (सु० सू० ४५।११०)

४. दीर्घकालीन रोग असाध्य हो जाता है । (च० सू० १०।१८)

५. ग्रीष्म काल एवं शरत् काल में अग्निकर्म निषिद्ध है ।

६. रोगों की उत्पत्ति में 'काल परिणाम' प्रधान कारण माना गया है ।

(च० सू० ११।४३)

७. भिक्षु आत्रेय ने कहा है कि रोग एवं पुरुष की उत्पत्ति में काल कारण, है, सम्पूर्ण जगत् काल के अधीन है और सभी कार्यों के सम्पन्न होने में काल ही कारण है—

'कालजस्त्वेव पुरुषः कालजास्तस्य चामयाः ।
जगत् कालवशं सर्वं कालः सर्वत्र कारणम् ॥' (च० सू० २५।२५)

८. मनुष्य में आदि से मृत्यु पर्यन्त छः भाव काल के परिणामस्वरूप होते रहते हैं, अर्थात् गर्भाधान के नव मास पश्चात् बालक का प्रसव होता है, फिर अस्तित्व में आता है, अवस्थान्तर परिणाम होता है, फिर वृद्धि होती है, तत्पश्चात् अपक्षय (ह्रास) होता है, अन्ततः वह विनष्ट हो जाता है—

'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यति ।' (निरुक्त १।१।३)

९. द्रव्यों का संग्रह पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र में करने का निर्देश मिलता है ।

१०. शाखा और पत्रों का वसन्त ऋतु में, मूल का ग्रीष्म या शिशिर में, छाल, कन्द एवं क्षीर का शरद् ऋतु, पुष्पों और फलों का ऋतु के अनुसार एवं सार का हेमन्त ऋतु में संग्रह करना चाहिए।

११. वायु का प्रकोप वर्षा में, पित्त का शरद् में एवं कफ का वसन्त में होता है।

दिग्-निरूपण

मनुष्य संसार में जन्म एक स्थान पर लेता है, परन्तु सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए उसे संसार में स्थित सभी स्थानों, पर्वत, जंगल, सागर तथा नदियों आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। इन सभी स्थानों की जानकारी, सबके साथ व्यापारिक सम्बन्ध, सर्वत्र देशाटन, पर्वतादि स्थानों में जाकर वनस्पतियों का अन्वेषण तथा उनका संचय आदि अनेकानेक कार्यों की सम्पन्नता दिग्-ज्ञान बिना सम्भव नहीं है। अतः समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम दिशाओं का पूर्ण ज्ञान होना परमावश्यक है। भारत में हिमालय पर्वत कहाँ स्थित है, इसका दिग्दर्शन कराते हुए महाकवि कालिदास ने दिशाओं का ही आश्रयण लिया है और उन्होंने दिशाओं के आश्रयण से ही उसकी स्थिति बतलायी है—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।'

भारत की उत्तर दिशा में देवस्वरूप पर्वतराज हिमालय स्थित है। इस प्रकार किसी स्थान की स्थिति आदि की जानकारी के लिए दिशाओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

दिशा के पर्यायवाचक

'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः।
प्राच्यवाचीप्रतीच्यस्ता पूर्वदक्षिणपश्चिमाः॥
उत्तरा दिगुदीची स्याद् दिश्यं तु त्रिषु दिग्भवेत्।'

(अमरकोष)

दिक्, ककुभ, काष्ठा, आशा, हरित पर्यायवाचक शब्द हैं। वस्तुतः दिशा एक ही है, परन्तु उपाधि भेद से उसके दस नाम कहे गये हैं—१. प्राची (पूर्व), २. अवाची (दक्षिण), ३. प्रतीची (पश्चिम) और ४. उदीची (उत्तर)। इनके अतिरिक्त चारों दिशाओं के मध्य जो चार कोण हैं, उन कोणों की चार दिशाएँ—१. ईशान कोण (पूर्व-उत्तर), २. वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम), ३. नैर्ऋत्य कोण (पश्चिम-दक्षिण) और ४. आग्नेय कोण (दक्षिण-पूर्व)। ऊपर और नीचे की दो दिशाएँ हैं—१. ऊर्ध्व देश (आकाश) और २. अधः देश (पाताल)। इस प्रकार कुल मिलकर दस दिशाएँ हैं।

दिशाओं का ज्ञान सूर्य के आधार पर ही किया जाता है। कारण यह है कि सूर्य प्रातः जिस ओर उदय होता है, उधर मुख करके खड़े होकर नमस्कार किया जाता है

और उस ओर हमारे सामने जो होता है, उसकी उपाधि पूर्व हो जाती है। सामने पूर्व होने पर पृष्ठ भाग में पश्चिम, दक्षिण भाग में दक्षिण एवं वाम भाग की उत्तर संज्ञा हो जाती है, जो दिशाएँ कही जाती हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जिस ओर सूर्य उदय होता है, उस भाग को प्राची (पूर्व) दिशा कहते हैं। 'प्रागस्यामञ्चति सूर्यः इति प्राची।' प्रथम इसमें सूर्य उदित होता है, अतः यह प्राची शब्द वाच्य है—

"आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची तथा दक्षिणा प्रतीच्युदीची च।" (वै० द० २।२।१४)

जिस दिशा में प्रथम सूर्य उदय हुआ, इस समय उदय होता है तथा भविष्य में भी उदय होगा, वह प्राची दिशा कही जाती है। यहाँ 'भूतात्' वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त है। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर है। अतः उदय काल की दिशा का नाम पूर्व, ठीक सामने विपरीत दिशा पश्चिम, दक्षिण की ओर दक्षिण और वाम भाग उत्तर है। कहा गया है—'अर्वागस्यामञ्चति सूर्यः इति अवाची'। अर्थात् नीचे होकर सूर्य का संयोग होता है, वह अवाची है। 'प्रातिकूल्येनास्यामञ्चति सूर्य इति प्रतीची तथा उदगस्यामञ्चति सूर्य इति उदीची' अर्थात् जिश दिशा में सूर्य अस्त होता है, वह प्रतीची और जिस दिशा में सूय के ऊँचे होकर संयोग हो, उसे उदीची कहते हैं।

दिग्-लक्षण

१. 'दिशत्युपदिशति लोकानयमस्मात् पूर्वः पश्चादयमस्मादित्यादिरूपेण याभिस्ता दिश इति'। (जल्पकल्पतरु-टीका)

जिससे यह उपदेश होता है कि यह इससे पूर्व और यह इससे पश्चिम है, वे दिशायें हैं।

२. 'इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्।' (वै० द० २।२।१०)

(इतः) इस ओर से, (इदम्) यह है, (इति) यह व्यवहार, (यतः) जिससे अर्थात् जिस कारण से होता है, वही दिशा का लक्षण है। दिशा न होती, तो इधर पूर्व, उधर पश्चिम, इधर उत्तर, उधर दक्षिण से वह आता है, जाता है—यह सब व्यवहार न चलता। यह व्यवहार जिससे अर्थात् जिस कारण से होता है, वही कारण (पदार्थ) दिक् कहा जाता है।

३. 'प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। सा चैका। नित्या विभ्वी च।' (तर्कसंग्रह)

यह प्राची (पूर्व), यह अवाची (दक्षिण), यह प्रतीची (पश्चिम), यह उदीची (उत्तर) है, इस व्यवहार का कारण जो द्रव्य है, वह दिशा है। वह एक, नित्य तथा सर्वव्यापक है।

४. 'दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्या दिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक्॥' (कारिकावली)

परत्वापरत्व से भी दिग् का ज्ञान होता है। दिशा द्रव्य इसलिए है कि दूरत्व अथवा समीपत्व अथवा इधर-उधर, पूर्व-पश्चिमादि व्यवहार हेतु उत्पन्न करने का कार्य समवायसम्बन्ध से करने से द्रव्य तथा कार्य न होने से नित्य है।

५. परत्व एवं अपरत्व से भी दिशाओं का ज्ञान होता है। जैसे किसी स्थान पर स्थित होकर यह विचार करना कि यह उसकी अपेक्षा दूर है, इस कारण परत्व और इसकी अपेक्षा समीप है, इस ज्ञान का कारण अपरत्व है। इस प्रकार परत्वापरत्व ज्ञान भी दिग्ज्ञानसूचक है।

दिग् ज्ञान का महत्त्व

१. पूर्व दिशा की वायु उष्ण, अभिष्यन्दी, त्वचा को दूषित करने वाली, अर्श, विषविकार, कृमिरोग, सन्निपात, ज्वर एवं श्वास-विकार को कुपित करने वाली होती है। पश्चिम की हवा शीतल होती है तथा मूर्च्छा, दाह, तृषा एवं विष-विकार को नष्ट करती है। दक्षिण की हवा श्रेष्ठ, नेत्रों के लिए हितकारी, अंगों का बल बढ़ाने वाली, रक्तपित्त को शान्त करने वाली तथा वायु को अप्रकुपित करने वाली होती है। उत्तर की हवा स्निग्ध, मृदु, मधुर, कषाय अनुरस, शीतल तथा दोषों को न प्रकुपित करने वाली होती है। (अ० सं० सू० १२।९५-९८)

पश्चिमी समुद्रों में गिरने वाली नदियाँ शीघ्रता से बहने एवं निर्मल होने के कारण पथ्य तथा पूर्वाभिमुख नदियों का जल अपथ्य होता है।

२. हिमालय तथा मलयाचल पर्वत से निकलने वाली नदियों का जल पथ्य होता है। प्राच्य (पूर्वी प्रदेश—गौड़ प्रदेश बंगाल), अवन्ती (मालवा प्रदेश—उज्जैन) एवं अपरान्त (कोंकण प्रदेश) से उत्पन्न होने वाली नदियाँ दुर्नाम (अर्श) रोग को उत्पन्न करती हैं। महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न होने वाली नदियाँ उदर रोग एवं श्लीपद रोग को उत्पन्न करती हैं। सह्य पर्वत एवं विन्ध्याचल से उत्पन्न होने वाली नदियाँ कुष्ठरोग, पाण्डुरोग एवं शिरोरोग को उत्पन्न करती हैं। पारियात्र पर्वत से निकलने वाली नदियाँ त्रिदोष नाशक, बल एवं पौरुष को बढ़ाने वाली होती हैं।

(अ० सं० सू० ६।१३-३०)

३. उत्तर दिशा (हिमालय) में उत्पन्न वनौषधियाँ उत्तम मानी जाती हैं।

(च० क० १।१०)

४. जेन्ताक स्वेदन हेतु निवासस्थान से पूर्व या उत्तर दिशा की ओर भूमि का चयन करना चाहिए (च० सू० १३।४६)। कुटीप्रावेशिक-रसायन में कुटी का निर्माण पूर्वोत्तर दिशा में करने का निर्देश है। (च० चि० १।१।१८)

५. औषधियों का संग्रह पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर करना चाहिए (च० क० १।१०)। इसका कारण सम्भवतः पूर्व दिशा के स्वामी सूर्य एवं उत्तर दिशा

के दिक्पाल चन्द्रमा हैं, जो वनस्पतियों में शक्ति का संचार करते हैं। आधुनिक वनस्पतिशास्त्र भी पेड़-पौधों की प्रकाश संश्लेषण क्रिया में सूर्य को सहायक कारण मानता है।

दिक् एवं काल में अन्तर

दिक्	काल
१. दिक् दूरादि व्यवहार का हेतु है।	१. काल अतीतादि व्यवहार का हेतु है।
२. उपाधि भेद से इसके दस भेद हैं।	२. इसके तीन भेद हैं।
३. दिक् दैशिक सम्बन्ध से संसार का आश्रय है।	३. यह कालिक सम्बन्ध से संसार का आश्रय है।
४. दैशिक सम्बन्ध अनियत होता है। इसको बदला जा सकता है।	४. कालिक सम्बन्ध नियत होता है। इसको बदला नहीं जा सकता।

अष्टम अध्याय

गुण

पदार्थों के अन्तर्गत द्रव्य एक मुख्य पदार्थ है, उसी के आधार पर अन्य की स्थिति है। परन्तु उसके पश्चात् ही गुण का क्रम उपस्थित हो जाता है, क्योंकि द्रव्य का अन्वेषण, परीक्षण एवं उसकी उपादेयता उसके गुणावगुण पर ही अवलम्बित है। अतः द्रव्य-निरूपण के पश्चात् अब गुण-निरूपण किया जाता है।

गुण-लक्षण

१. 'समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः'। (च० सू० १।५१)

जो समवायी, चेष्टा रहित और कारण हो, उसे गुण कहते हैं। समवायी समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में रहने वाला अर्थात् द्रव्याश्रयी। द्रव्य एवं गुण का जो परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध है, उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं। यह सम्बन्ध नित्य है, कभी नष्ट नहीं होता है। इसमें द्रव्य आधार एवं गुण आधेय है, जो जिस किसी के आश्रय रहता है, उसमें आश्रयी अर्थात् आश्रय रहने वाला 'आधेय' और जिसके आश्रय रहता है, वह 'आधार' कहा जाता है। जिस प्रकार कोई 'आधेय' आधार बिना नहीं रहता है, उसी प्रकार आधेय स्वरूप गुण आधार रूप द्रव्य बिना नहीं रहता है। वह सदा द्रव्याश्रित रहता है। इसीलिए महर्षि चरक ने गुण का प्रथम लक्षण 'समवायी' कहा है। इसी प्रकार द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए यहाँ भी उन्होंने कहा है—'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद् द्रव्यम्'। ऐसा ही वैशेषिक-कार ने भी गुण के सम्बन्ध में कहा है—'द्रव्याश्रयी'।

'निर्गतश्चेष्टायाः निश्चेष्टः, चेष्टानिर्गत्या चेह चेष्टाशून्यत्वं तथा चेष्टाव्यतिरिक्तत्वं चोच्यते'।

(चक्रपाणि)

निश्चेष्टः अर्थात् क्रिया रूप जो कर्म है, उससे रहित। कारण यह है कि कर्म भी द्रव्यों के ही आश्रित होकर रहता है, गुणों के नहीं। अतः गुण निश्चेष्ट (निष्क्रिय) अर्थात् कर्म रहित कहा गया है—

'नास्ति चेष्टा यस्य स निश्चेष्टः निष्क्रिय इत्यर्थः'।

'कारणम्' अर्थात् स्वसमान गुणान्तर की उत्पत्ति में असमवायिकारण हो। वैशेषिकदर्शनकार ने कहा है—

'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्'। (वै० द० १।१०)

द्रव्य अपने में दूसरे द्रव्यों को और इसी प्रकार गुण अन्य गुणों को बनाता है। अतः गुण अन्य गुणों के बनाने के कारण 'कारण' भी कहा गया है। भावार्थ यह है

कि आश्रय (आधार) प्रधान और आश्रयी (आधेय) दूसरों के आश्रय में रहने वाला अप्रधान अर्थात् गौण होता है। गुण सदा दूसरे के आश्रय द्रव्याश्रयी होने से अप्रधान अर्थात् गौण होने के कारण 'गुण' कहा गया है।

२. 'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्'। (वै० द० १।१।१६)

जो द्रव्याश्रयी, अगुणवान्, संयोग विभाग में अनपेक्ष (अपेक्षा रहित) अकारण (कारण नहीं) हो, उसे गुण कहते हैं। द्रव्याश्रयी—'द्रव्यमाश्रयितुं शीलमस्येति' द्रव्याश्रयी अर्थात् 'यो द्रव्यमाश्रयति' जो द्रव्य के आश्रित होता है, क्योंकि जो द्रव्य है वह गुण और कर्म इन दोनों का आश्रय है, किन्तु गुण, गुण एवं कर्म का आश्रय नहीं है। भाव यह है कि गुण में गुण नहीं रहता है—

'गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद्रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान् कर्तुरभिप्रायः पृथग्विधः'॥ (च० सू० २६।३६)

गुण गुण का आश्रय नहीं है। इसलिए जहाँ 'रसगुणान्' कहा गया है, वहाँ वैद्य उसे गुण का गुण न समझ द्रव्य का ही गुण समझें। यह तन्त्रकर्ता का पृथक् प्रकार का अभिप्राय है कि द्रव्य-गुण न कहकर रस-गुण कहा है। जैसे संयोग और विभाग में कर्म कारण है और वह सापेक्ष कारण है, बिना कर्म किये संयोग और विभाग नहीं होता है, उस प्रकार गुण नहीं है। कारण यह है कि गुण संयोग एवं विभाग नहीं करता है। संयोग विभाग में गुण निरपेक्ष और 'अकारण' कारण नहीं। अर्थात् 'संयोगविभागेष्वनपेक्षः सन् कारणं यो न भवति स गुण इत्यर्थः'। संयोग विभाग में अनपेक्ष होता हुआ जो कारण न हो, वह गुण है।

३. 'अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः'। (कारिकावली)

जो द्रव्याश्रित, निर्गुण तथा निष्क्रिय (क्रिया रहित) हो, उसे गुण कहते हैं।

४. 'विश्वलक्षणा गुणाः'। (रसवैशेषिक)

जिनके भिन्न-भिन्न लक्षण हो, उन्हें गुण कहते हैं।

५. 'गुणत्वजातिमत्वं गुणसामान्यलक्षणम्'। (प्रशस्तपाद)

गुणत्व जाति वाले को गुण कहते हैं।

द्रव्य एवं गुण-साधर्म्य

'द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्।' (वै० द० ९।९)
'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्'॥ (वै० द० १।१०)

द्रव्य और गुण में अपने सजातीय को बनाने वाला होना साधर्म्य (समान-धर्मता) समानता है। द्रव्य दूसरे द्रव्य को अपने में से बनाता है और उसी प्रकार गुण भी अन्य गुणों को अपने में से बनाता है।

गुण-ज्ञान के प्रकार

गुणों का ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त होता है—१. योगज प्रत्यक्ष तथा २. प्रत्यक्ष। प्रथम तो यह कि योगियों ने अपने यौगिक ज्ञान के बल से जिन द्रव्यों का जो गुण निर्दिष्ट किया है, वह उनके यथार्थ ज्ञान के कारण सर्वथा सत्य एवं स्थिर है। दूसरा प्रत्यक्ष रूप से अर्थात् औषधादि द्रव्यों के प्रयोग करने से उनके जो कर्म होते हैं, उनसे गुणों का ज्ञान किया जाता है।

गुणों का वर्गीकरण एवं संख्या

'सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः'। गुणाः प्रोक्ताः—'

(च० सू० १।४८)

इस वाक्य द्वारा यहाँ गुणों का वर्गीकरण एवं परिगणन दोनों निर्दिष्ट किया गया है। 'अर्थेन सहिताः सार्थाः' अर्थात् अर्थ सहित, गुर्वादि, बुद्धि, प्रयत्नान्त तथा परादि गुण हैं। उक्त गुण-विवरण द्वारा वैशेषिक, सामान्य और आत्म गुण इस प्रकार तीन प्रकार के गुणों का वर्णन किया गया है।

१. अर्थाः—'अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः'। (च० शा० १।२९)

अर्थ शब्द से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण गृहीत हैं। पंचमहाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के वे क्रमशः गुण हैं और वे ही श्रोत्रादि इन्द्रियों के अर्थ (विषय) हैं। अर्थात् आकाश का प्रधान गुण शब्द श्रोत्रेन्द्रिय, वायु का प्रधान गुण स्पर्श त्वगिन्द्रिय, अग्नि का प्रधान गुण रूप चक्षुरिन्द्रिय, जल का प्रधान गुण रस रसनेन्द्रिय और पृथ्वी का प्रधान गुण गन्ध घ्राणेन्द्रिय का अर्थ अर्थात् विषय है। गोचर तथा विषय अर्थ के ही पर्याय हैं। ये पाँचों शब्दादिक अर्थ क्रमशः पाँचों आकाशादि महाभूतों के प्रधान गुण होने के कारण **वैशेषिक गुण** कहे गये हैं।

२. गुर्वादयः—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र और द्रव ये कुल बीस गुण गुर्वादि हैं, जो सामान्य गुण कहे जाते हैं। इन गुणों की आयुर्वेद में बहुत ही उपयोगिता है। चरक-सूत्रस्थान के 'यज्जःपुरुषीय' अध्याय में ये वर्णित हैं। पृथिव्यादि पंचमहाभूतों में ये गुण सामान्यतया रहते हैं। अतः ये **सामान्य गुण** कहे जाते हैं। अष्टाङ्गहृदय में बीस गुण निम्न प्रकार से वर्णित है—

'गुरु-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-मृदु-स्थिराः ।
गुणाः ससूक्ष्म-विशदा विंशतिः सविपर्ययाः'॥ (अ० हृ० सू० १।१८)

गुरु तथा तद्विपरीत लघु इस प्रकार विपरीत गुणों के साथ गुर्वादि, ये कुल बीस गुण हैं।

३. बुद्धि—बुद्धि अर्थात् ज्ञान। बुद्धि शब्द से स्मृति, चेतना, धृति तथा अहङ्कारादि इन बुद्धि-विशेषों का ग्रहण होता है।

४. प्रयत्नान्त—'प्रयत्नः अन्तो येषां ते प्रयत्नान्ताः'। अर्थात् जिसके अन्त में प्रयत्न हैं, वे प्रयत्यान्त हैं।

'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः'॥ (च० शा० १।७२)

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये प्रयत्नान्त हैं। बुद्धि सहित ये प्रयत्नान्त **आत्म गुण** हैं।

५. परादय—'परापरत्वे युक्तिश्च संख्या संयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्वं च परिमाणमथापि च॥
संस्कारोऽभ्यास इत्येते गुणा ज्ञेयाः परादयः॥'
(च० सू० २६।२९-३०)

परत्व-प्रधानत्व, अपरत्व-अप्रधानत्व, युक्ति-योजना, संख्या, संयोग, विभाग-विभक्ति (विभाजन) अर्थात् संयोग का वियोग, पृथक्त्व-पृथक्ता, परिमाण, संस्कार तथा अभ्यास ये परादि कुल दश सामान्य गुण हैं। गुर्वादि की भाँति इनकी अधिक उपयोगिता न होने के कारण तथा बुद्धि आदि आत्मगुण की प्रधानता रहने के कारण इन्हें अन्त में कहा गया है।

इस प्रकार शब्दादि पाँच **वैशेषिक गुण,** गुर्वादि बीस **सामान्य गुण,** बुद्धि तथा प्रयत्नान्त षट् **आत्म गुण** तथा परादि दश **सामान्य गुण,** सर्वयोग कुल इकतालीस गुण हैं। महर्षि चरक ने इन गुणों का प्रतिपादन किया है। अतः ये आयुर्वेदीय गुण इस नाम से कहे जाते हैं। ये गुण महर्षि चरक के अनुसार पाँच भागों में और उनके टीकाकार चक्रपाणि के अनुसार वैशेषिक, सामान्य और आत्मगुण इस भेद से तीन भागों में विभक्त हैं। कविराज गंगाधर राय ने गुर्वादि गुणों को शारीर गुण कहा है।

वैशेषिक दर्शन में गुण

'रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च गुणाः'। (वै० द० १।१।६)

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के अनुसार कुल सत्रह गुण हैं। इनके अतिरिक्ति उक्त 'वैशेषिक सूत्र' के टीकाकारों ने 'प्रयत्नाश्च' इस शब्द में कथित च शब्द से सात और गुणों का ग्रहण किया है—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द। इस प्रकार पूर्वोक्त सतरह और ये सात

कुल चौबीस गुण हैं। उपर्युक्त चौबीस गुण 'कारिकावली' में भी वर्णित हैं। कारिकावली में धर्म एवं अधर्म के स्थान पर अदृष्ट शब्द प्रयुक्त है।[1]

न्याय दर्शन में गुण

'धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्' धर्म एवं अधर्म दोनों अदृष्ट हैं। अर्थात् अदृष्ट शब्द में दोनों गृहीत हैं। इनमें धर्म और अधर्म जो गुण हैं, उन गुणों का उल्लेख चरकोक्त गुणों में नहीं है। फलतः चरकोक्त इकतालीस गुणों के साथ उन गुणों को भी मिला देने से कुल तैंतालीस गुण हैं।

चरकोक्त इकतालिस एवं न्यायशास्त्रोक्त चौबीस गुणों का समन्वय

न्यायोक्त चौबीस गुण ही प्रधान हैं और इन्हीं चौबीस गुणों के अन्तर्गत आयुर्वेद के इकतालिस गुणों का समावेश हो जाता है। चरक में न्यायोक्त गुणों के अतिरिक्त गुर्वादि बीस गुण एवं अभ्यास तथा युक्ति, ये बाइस गुण अधिक माने हैं। इनमें अभ्यास का संस्कार में एवं युक्ति का संयोग में समन्वय हो सकता है। गुर्वादि गुणों के गुरु, द्रव और स्नेह का गुरुत्व, द्रवत्व एवं स्नेह में समन्वय किया जा सकता है। शेष गुणों को संस्कार एवं धर्म में समाविष्ट किया जा सकता है।

महागुण

प्रकृति में सत्त्व, रज एवं तम ये तीन महागुण हैं। वाग्भट्ट ने इन्हें महागुण बतलाते हुए कहा है—'सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः'।

शब्दादि गुणों का साधर्म्य एवं वैधर्म्य

साधर्म्य—'रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बन्धो द्रव्याश्रितत्वं निर्गुणत्वं निष्क्रियत्वञ्च'। (प्रशस्तपाद)

रूपादि सभी गुणों का सम्बन्ध निम्न प्रकार है—

१. गुणत्वाभिसम्बन्ध—सभी गुणों में गुणत्व (गुण जाति) का सम्बन्ध है।

२. द्रव्याश्रितत्व—सभी गुण आश्रित धर्म वाले अर्थात् द्रव्याश्रयी हैं; दूसरों के आश्रित रहते हैं। इस कारण गौण होने से गुण कहे जाते हैं।

---

१. अथ गुणाः रूपं रसो गन्धस्ततः परम्।
स्पर्शः संख्या परिमितिः पृथक्त्वं च ततः परम्॥
संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम्।
बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरत्वकम्॥
द्रवत्वं स्नेहसंस्कारावदृष्टं शब्द एव च। (कारिकावली)

३. निर्गुणत्व—सबमें निर्गुणत्व है।

४. निष्क्रियत्व—सब निष्क्रिय हैं, अर्थात् क्रिया रहित हैं।

उक्त लक्षण सभी में समान रूप से होने के कारण 'साधर्म्य' हैं।

वैधर्म्य

१. मूर्तगुण—'रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।
द्रवत्वं स्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणाः अमी'॥ (कारिकावली ८६)

रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह तथा वेग मूर्त गुण हैं। गुरुत्व उक्त श्लोक में नहीं है, परन्तु गुरुत्व को भी अन्यत्र मूर्तगुण कहा गया है।

२. अमूर्तगुण—'धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च।
एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः'॥
(कारिकावली ८७)

धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न अमूर्त गुण हैं।

३. उभयगुण—'संख्यादयो विभागान्ताः उभयेषां गुणा मताः'। (करिकावली ८८) अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग उभय गुण हैं।

४. इनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये बाह्य गुण हैं।

५. बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न अन्तर इन्द्रिय (मन) ग्राह्य गुण हैं।

६. धर्म, अधर्म और भावना यह अतीन्द्रिय है।

द्रव्यानुसार बाध्वादि द्रव्यों के गुणों का परिगणन

'स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वं च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा॥
धर्माधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्दश।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे'॥
(कारिकावली ३०-३४)

१. वायु—स्पर्शादि अर्थात् स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व कुल आठ तथा वेग नामक संस्कार ये वायु के नव गुण हैं।

२. अग्नि—उक्त स्पर्शादि आठ, रूप, वेग, तथा द्रवत्व, ये कुल ग्यारह अग्नि के गुण हैं।

३. जल—स्पर्शादि आठ, वेग, द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस तथा स्नेह ये कुल चौदह गुण जल में हैं।

४. पृथिवी—स्नेह के अतिरिक्त जल के उक्त तेरह गुण तथा गन्ध ये चौदह गुण पृथ्वी में हैं।

५. आत्मा (जीवात्मा)—बुद्ध्यादि अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न षट् एवं संख्यादि अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग पञ्च, भावना, धर्म तथा अधर्म ये चौदह आत्मा के गुण हैं।

६. काल—उक्त संख्यादि पाँच काल के गुण हैं।

७. दिशा—उक्त संख्यादि पाँच ये ही दिशा के भी गुण हैं।

८. आकाश—संख्यादि पाँच तथा शब्द इस प्रकार ये षट् आकाश के गुण हैं।

९. ईश्वर—संख्यादि पञ्च, बुद्धि, इच्छा तथा यत्न ये ईश्वर में आठ गुण हैं।

१०. मानस—परत्व, अपरत्व, संख्यादि पञ्च तथा वेग ये कुल आठ गुण मन में हैं। कहा भी है—

'वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दशम्।
दिक्कालयोः पञ्च षडेवाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनस्तथैव च'॥

वायु में नव, तेज में ग्यारह, जल, पृथ्वी तथा जीवात्मा में चौदह, दिशा तथा काल में पाँच-पाँच, आकाश में छः, ईश्वर और मन में आठ गुण पाये जाते हैं।

शब्दादि गुणों का यथाक्रम निरूपण

१. शब्द—'श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः—ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः'। (तर्कसंग्रह)

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ग्रहण होता है, अर्थात् जो गुण श्रोत्र द्वारा ही ग्राह्य है, वही शब्द है। वह शब्द केवल आकाश में ही रहता है। कारण यह कि वह आकाश का गुण है। वह ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेद से दो प्रकार का होता है। भेरी, शंख आदि बाजा बजाने से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह ध्वन्यात्मक शब्द कहा

जाता है और कण्ठ से संस्कृत-भाषादि रूप जो शब्द निकलता है, वह वर्णात्मक शब्द कहा जाता है।

'आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः'। (कारिकावली)

अर्थात् शब्द आकाश का गुण है, जो वैशेषिक गुण है।

शब्दोत्पत्ति—'आत्मबुद्धया समेत्यर्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनःकायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयते स्वरम्'।

किसी विषय को प्रगट करने की इच्छा होने पर आत्मा बुद्धि के साथ मिलकर मन को प्रेरित करता है, उस समय मन कायाग्नि से आहत होता है। यह आघात वायु को प्रेरित करता है और वायु उरःप्रदेश में संचरण करता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार वर्णात्मक शब्द वर्णोच्चारण की इच्छा होने पर आत्मा बुद्धि के मिलन तथा मन का प्रेरित किया जाना, पुनः वायु के साथ संयोग और उस दशा में वायु में कर्म उत्पन्न होकर ऊपर की ओर उसका जाना, पुनः कण्ठ, तालु तथा ओष्ठादि के साथ संयोग होने पर उच्चारित होता है। ध्वन्यात्मक शब्दसंयोग-विभाग से उत्पन्न होता है। जैसे ढोल एवं लकड़ी का संयोग होना। इसी प्रकार बाँस आदि को बीच से फाड़ने पर विभाग से उत्पन्न होता है। एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति वीचीतंरगन्याय से भी होती है। जैसे जल में तरङ्ग उठने पर एक तरङ्ग से दूसरी और दूसरी से तीसरी, इस क्रम से पूर्व तरङ्गों का नाश और अगली तरङ्गों की उत्पत्ति होती जाती है। इस प्रकार शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान तक वीचीतरङ्ग-न्याय से उत्तरोत्तर शब्दों को उत्पन्न करता हुआ पहुँच जाता है। परन्तु उत्तरोत्तर शब्दों का निर्माण तभी तक होता है, जब तक कि उसमें शक्ति रहती है।

वैयाकरण शब्द के सम्बन्ध में 'स्फोट' नामक शब्द व्यवहृत करते हैं। 'स्फुटत्यर्थो-ऽस्मात्' इसमें 'अर्थ स्फोट' होता है। इस सम्बन्ध में उनकी व्याख्या का कुछ और प्रकार है। शब्द का विस्तृत विवेचन 'आप्तोपदेश' निरूपण स्थल पर किया गया है।

२. स्पर्श—'त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः—शीतोष्णानुष्णा-शीतभेदात्। पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले। उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः'। (तर्कसंग्रह)

जिस गुण का केवल त्वग् इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष अर्थात् ग्रहण होता है, वह स्पर्श गुण है। यह स्पर्श तीन प्रकार का है—शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत (न अति शीत और न अति उष्ण)। वह पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है, जिसमें जल में शीत स्पर्श, तेज में उष्ण स्पर्श, पृथ्वी एवं वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श होता है।

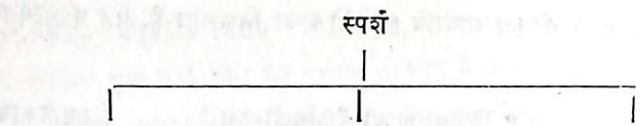

३. रूप—'चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम् । तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्र-भेदात् सप्तविधम् । पृथिवीजलतेजोवृत्ति । तत्र पृथिव्यां सप्तविधम् । अभास्वरशुक्लं जले, भास्वरशुक्लं तेजसि' । (तर्कसंग्रह)

जिस गुण का प्रत्यक्ष अर्थात् ग्रहण केवल चक्षु इन्द्रिय द्वारा होता है, वह रूप कहा जाता है । वह रूप शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र भेद से सात प्रकार का होता है । वह रूप पृथ्वी, जल और तेज में रहता है, जिसमें जल में अभास्वर शुक्ल रूप और तेज में भास्वर शुक्ल रूप रहता है ।

४. रस—'व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते' । (च० सू० २६।२८)

शुष्क तथा च शब्द से आर्द्र द्रव्य का आदि तथा च शब्द से अन्त में अर्थात् प्रथम जिह्वा सम्बन्ध में अथवा आस्वाद के अन्त में जो व्यक्त अर्थात् प्रकट रूप से यह मधुर है, यह अम्ल है, इत्यादि विकल्प के साथ जो आस्वाद व्यक्त होता है, वह रस है ।

'रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा ।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्ययाः खादयस्त्रयः ।।'

(च० सू० १।६४)

रस्यते आस्वाद्यते इति रसः । रसनार्थ इति जिह्वाग्राह्यः । तस्येति रसस्य । द्रव्यमित्याधारकारणम् । द्रव्यशब्दो ह्याधारकारणवाची । क्षितिस्तथेति । यथा आप आधारकारणं तथा क्षितिरपि । निर्वृत्तौ चाभिव्यक्तौ । एतेन रसोऽभिव्यज्यमानो जलक्षित्याधार एव व्यज्यत इति दर्शयति । चकाराद्विशेषेऽपि मधुरादिलक्षणे आक्षिप्ती प्रत्ययौ । विशेषे च प्रत्ययाः खादय इति मधुरादिविशेषनिर्वृत्तौ निमित्तकारणं खवाय्वनलाः, न प्रधानकारणभूताः । (चक्रपाणि)

जो आस्वाद लिया जाता है, वह रस है । इस जिह्वा द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण जिह्वा का विषय है । रस का आधार कारण जल और पृथिवी द्रव्य है । रस की अभिव्यक्ति में प्रधान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण आकाश, वायु और अग्नि हैं ।

रस संख्या—आयुर्वेदीय चिकित्सा इस रस पर ही आश्रित है । अतः रस संख्या के विषय में किसी समय तत्कालीन महर्षियों ने एकत्रित होकर बहुत विचार किया था । परिणामतः कुल छः रस निर्णीत हुए ।

'षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः'।
(च० सू० २६।९)

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय इस प्रकारः छः रसों का प्रतिपादन किया है।

'रसनाग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवी जलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां षड्विधः। जले मधुर एव'। (तर्कसंग्रह)

रसनेन्द्रिय द्वारा जो गुण प्रत्यक्ष अर्थात् ग्राह्य हो, वह रस है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त भेद से वह छः प्रकार का है। वह पृथिवी और जल में रहता है, जिसमें पृथिवी में अम्लादि छः प्रकार का रस रहता है, किन्तु जल में केवल मधुर रस ही रहता है।

५. गन्ध—'घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च। पृथिवी-मात्रवृत्तिः'। (तर्कसंग्रह)

घ्राणेन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, वह 'गन्ध' गुण कहा जाता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध भेद में गन्ध गुण दो प्रकार का होता है। पृथ्वी मात्र ही इसका आधार द्रव्य है। अर्थात् गन्ध गुण पृथिवी में ही रहता है।

शब्दादि गुणों की उपादेयता

रोगी-परीक्षा में इन शब्दादि गुणों का ज्ञान चिकित्सक के लिए अत्यावश्यक है। रोग की उत्पत्ति में 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' एक प्रधान कारण कहा गया है। इन अर्थों (शब्दादि) का अतिहीन एवं मिथ्यायोग रोग का एवं समयोग आरोग्य का कारण होता है।

गुर्वादि बीस गुण

१. गुरु-लघु—'सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तर्पणबृंहणः।
लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा'॥
(सु० सू० ४६।५४६)

गुरु (भारी) गुण अङ्ग-ग्लानि, मल-वृद्धि और बल प्रदान करता है तथा तर्पण और बृंहण करता है। लघु (हलका) उसके विपरीत लेखन तथा रोपण है।

२. शीत-उष्ण—'ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृट्स्वेदाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः'॥
(सु० सू० ४६।५४६)

शीत गुण सुखकारी तथा स्तम्भन है और मूर्च्छा, तृषा, स्वेद तथा दाह को नष्ट करता है। उष्ण उसके विपरीत विशेषकर व्रणादिकों का पाचन करता है।

गुर्वादि बीस गुण

गुण	भौतिक संगठन	दोष प्रभाव	मुख्य कर्म हेमाद्रि मतानुसार	सुश्रुतोक्त अन्य कर्म भावप्रकाशोक्त अन्य कर्म†	उदाहरण
१. गुरु (भारी)	पृथ्वी + जल	कफकर, वातहर	बृंहण	साद, उपलेप, बलकारक एवं तर्पण	माष, मुसली
२. लघु (हल्का)	वायु + आकाश + अग्नि	अग्निवातकर, कफघ्न	लंघन	उत्साह, लेखन एवं रोपण	मुद्ग, लाजा
३. शीत (ठण्डा)	जल	वातश्लेष्मकर, पित्तघ्न	स्तम्भन	सुखकारक, मूर्च्छा-तृषा-स्वेदनाशक	चन्दन
४. उष्ण (गर्म)	अग्नि	वातश्लेष्महर, पित्तकर	स्वेदन	मूर्च्छा-तृषा-स्वेद-दाहकारक एवं पाचन	चित्रक
५. स्निग्ध(चिकना)	जल	वातहर, कफकर	क्लेदन	स्नेहमादर्वकर, बल्य एवं वर्ण्य	घृत
६. रूक्ष	पृथ्वी + अग्नि + वा.	वातकर, कफहर	शोषण	रौक्ष्यकाठिन्यकर, बलवर्णनाशक, स्तम्भनकर	यव
७. मन्द(चिरकारी)	पृथ्वी + जल	कफकर, पित्तहर	शमन	चिरकारी	अमृता
८. तीक्ष्ण	अग्नि	कफहर, पित्तकर	शोधन	दाहपाकस्रावकर	जयपाल
९. स्थिर	पृथ्वी	कफकर	धारण	वात-मलस्तम्भन†	जातिफल
१०. सर	जल	कफहर	प्रेरण	अनुलोमन	रसोन
११. मृदु	जल + आकाश	कफकर	श्लथन	दाह-पाक-स्रावनाशक	सैन्धवलवण
१२. कठिन	पृथ्वी	वातकर	दृढ़ीकरण	— —	प्रवाल
१३. विशद (स्वच्छ)	पृथ्वी + वायु + तेज + आकाश	वातकर, कफघ्न	क्षालन	अजीवन, असंधान, अश्लेषी एवं आर्द्रीभाव विनाशक	गुग्गुलु
१४. पिच्छिल	जल	कफकर	लेपन	जीवन, बल्य, संधान, श्लेष्मल एवं गुरु	इसबगोल
१५. श्लक्ष्ण(चिकना)	अग्नि	पित्तकर	रोपण	पिच्छिल के समान कर्म	दुग्धपाषाण
१६. खर (कर्कश)	वायु	वातकर	लेखन	विशद के समान कर्म	करञ्ज
१७. सूक्ष्म	अग्नि + वायु + आकाश	वातकर	विवरण	स्रोतोगामी†	मद्य
१८. स्थूल	पृथ्वी	कफकर	संवरण	स्थौल्यकर एवं स्रोतोरोधक†	दधि
१९. सान्द्र (गाढ़ा)	पृथ्वी	कफकर	प्रसादन	स्थौल्यकर†	मलाई
२०. द्रव (पतला)	जल	कफकर	विलोडन	क्लेदकर†	जल

३. स्निग्ध-रूक्ष—'स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।
रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद् विशेषात् स्तम्भनः खरः'॥
(सु० सू० ४६।५४६)

स्निग्ध (चिकना) गुण स्नेहादि तथा मृदुता करता है एवं बल और वर्ण कारक है। रूक्ष उसके सर्वथा विपरीत है, यह विशेषकर अतीसारादि में स्तम्भन और खर (कर्कश) है।

४. मन्द-तीक्ष्ण—'.....मन्दो यात्राकरः स्मृतः'। (सु० सू० ४६।५४८)
'दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणः।' (सु० सू० ४६।५४६)

मन्द (चिरकारी) गुण मन्द होने के कारण अपना कर्म मन्द गति से करता है। 'यात्राकर इति शरीरस्थायित्वाद्देहस्य यात्रां वर्तनं करोति'। शरीर स्थायी होने से देह की यात्रा करता रहता है। तीक्ष्ण (शीघ्र कार्य करने वाला) गुण पित्त प्रधान होने से दाह, पाक तथा स्राव करने वाला होता है।

५. स्थिर-सर—'सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः।' (सु० सू० ४६।५४८)
'स्थिरो वातमलस्तम्भी सरस्तेषां प्रवर्तकः'। (भावप्रकाश)

सर (व्यायशील) गुण अनुलोमक हैं। स्थिर (अव्यायशील) वात एवं मल-स्तम्भी है। सर उनका प्रवर्तक है।

६. मृदु-कठिन—'यस्य द्रव्यस्य श्लथने कर्मणि शक्तिः स मृदुः दृढने कठिनः'।
(हेमाद्रि)

जिस द्रव्य की शिथिलीकरण कार्य में शक्ति हो, वह मृदु (मुलायम) है। दृढ़ करने वाला कठिन है।

७. विशद-पिच्छिल—'पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः'॥
(सु० सू० ४६।५४६)

पिच्छिल (लुआबदार) गुण प्राणधारक, बलकारक, भग्नादि को जोड़ने वाला, श्लेष्मक और गुरु है। विशद (स्वच्छ) पूर्व से विपरीत आजीवन, असन्धान, अश्लेषी, आर्द्रीभाव, विनाशक और रोपक है।

८. श्लक्ष्ण-खर—'श्लक्ष्णः पिच्छिलवज्ज्ञेयः कर्कशो विशदो यथा'।
(सु० सू० ४६।५४८)

श्लक्ष्ण (चिकना) पिच्छिल की भाँति होता है, विशद की भाँति खर (कर्कश) होता है। जिसमें लेखन की शक्ति होती है, उसे खर कहते हैं।

९. स्थूल-सूक्ष्म—'स्थूलकरो देहे स्रोतसामवरोधकृत्।
देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते'॥
(भावप्रकाश)

स्थूल गुण देह को स्थूल करता है और स्रोतसों का अवरोध करता है। सूक्ष्म (स्रोतोगामी) गुण देह के सूक्ष्म छिद्रों में भी प्रवेश करता है।

'सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेषु स्रोतः स्वनुसरः स्मृतः'। (सु० सू० ४६।५४८)

सूक्ष्म, सौक्ष्म्य के कारण सूक्ष्म स्रोतों में भी अनुसरण करता है।

१०. सान्द्र-द्रव—'द्रवः प्रक्लेदनः सान्द्रः स्थूलः स्याद् बन्धकारकः'।

(भावप्रकाश)

द्रव (पतला) गुण प्रक्लेदन अर्थात् आर्द्र और सान्द्र (गाढ़ा) गुण बन्धकारक अर्थात् उपचयकारक है।

गुरु आदि शारीर गुणों की उपयोगिता

शरीर की धातुओं में गुर्वादि गुण होते है और उसी प्रकार ये गुण औषध तथा आहार द्रव्यों में रहते हैं। अतः सामान्य-विशेष के सिद्धान्त से गुरु गुण वाले द्रव्यों से तद्गुण धातुओं की वृद्धि तथा विपरीत गुणों का ह्रास होता है।

बुद्धि-निरूपण

बुद्धि का विस्तारपूर्वक वर्णन दसवें अध्याय में किया है।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख एवं प्रयत्न

१. इच्छा—'इच्छा कामः'। (तर्कसंग्रह)

'कामः इति पर्यायः। सा द्विविधा—फलेच्छा, उपायेच्छा। फलं सुखादिकम्। उपायो यागादिः'। (तर्कसंग्रह-व्याख्या)

'कामना' ही इच्छा है। अतः काम इच्छा का पर्यायवाची शब्द है। मन में किसी विषय अथवा वस्तु की जो कामना अर्थात् 'चाहना' होती है, वही इच्छा है। वह इच्छा दो प्रकार की है—१. फलेच्छा २. उपायेच्छा।

फलेच्छा—किसी सत् कार्य के सम्पन्न करने से जो सुन्दर व सुखदायक फल की प्राप्ति होती है, अर्थात् जिसके फल की प्राप्ति से किसी प्रकार का दुःख नहीं अपितु सुख होता है, उस सुखस्वरूप फल की इच्छा अर्थात् सुख की इच्छा फलेच्छा कही जाती है। फलज्ञान इसका कारण है।

उपायेच्छा—यज्ञ आदि अर्थात् किसी कार्य की सम्पन्नता हेतु उस कार्य के साधनस्वरूप यज्ञ आदि करने की इच्छा उपायेच्छा कही जाती है। इष्ट की साधनता का ज्ञान, इस इच्छा का कारण है। यही अन्यत्र भी कहा है—

'इच्छा द्विविधा—फलविषयणी, उपायविषयणी च। फलं तु सुखं दुःखाभावश्च। तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानम्। उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम्'।

(सिद्धान्तमुक्तावली)

२. द्वेष—'प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः'। (प्रशस्तपाद)

जिसके होने पर अपने आपको प्रज्वलित की भाँति मानता है, वह द्वेष है। किसी के मन में द्वेष हो जाने पर वह प्रज्वलनात्मक हो जाता है। अतः द्वेष प्रज्वलनात्मक स्वरूप कहा गया है। 'तर्कसंग्रह' में 'क्रोधो द्वेषः' अर्थात् क्रोध ही द्वेष कहा गया है।

३. सुख—'सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्।' (तर्कसंग्रह)

'सर्वात्मनामनुकूलमिति वेद्यं यत्तत्सुखमित्यर्थः'।

(तर्कसंग्रह-व्याख्या)

अर्थात् सभी इष्ट, मित्र तथा शत्रु का जो प्रिय जनक हो, वह सुख है। 'सर्वेषाम्' इस कथन में शत्रु एवं मित्र सभी का ग्रहण होता है।

'सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते'। (कारिकावली)

'काम्यमभिलाषविषयः'—सुख तो संसार की ही अभिलाषा का विषय है। अर्थात् सभी इसके अभिलाषी हैं। यह धर्म से उत्पन्न होता है।

४. दुःख—'बाधनालक्षणं दुःखमिति'। (न्यायदर्शन १।२१)

बाधना (पीड़ा) स्वरूप अर्थात् जो प्रतिकूल जान पड़ता हो, दुःख है।

'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'। (तर्कसंग्रह)

जो सभी इष्ट, मित्र तथा शत्रु का अप्रियजनक हो, वह दुःख है।

'अधर्मजन्यं दुःखं स्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम्'। (कारिकावली)

दुःख अधर्म-जन्य है, अर्थात् अधर्म करने से दुःख उत्पन्न होता है। यह सभी के प्रतिकूल अर्थात् दुःख के ज्ञान से ही दुःख स्वाभाविक रूप से सभी के द्वेष का विषय अर्थात् सभी को अप्रिय हो जाता है।

'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
इति विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः'॥

सभी परवश दुःख और सभी आत्मवश अर्थात् अपने वश सुख हैं। सुख-दुःख का संक्षेप में यह लक्षण है, इसे जानना चाहिए।

५. प्रयत्न—'कृतिः प्रयत्नः'। (तर्कसंग्रह)

कृति ही प्रयत्न उद्योग है।

'प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्'॥ (कारिकावली)

प्रयत्न तीन प्रकार का है—(क) प्रवृत्ति, (ख) निवृत्ति एवं (ग) जीवन कारण अर्थात् जीवन योनि।

(क) प्रवृत्ति—'इच्छाजन्यो गुणः प्रवृत्तिः'। इच्छा-जन्य गुण प्रवृत्ति है।

(ख) निवृत्ति—'द्वेषजन्यो गुणो निवृत्तिः'। द्वेष-जन्य गुण निवृत्ति है।

(ग) जीवन योनि—'जीवनादृष्टजन्यो गणो जीवनयोनिः'।

'जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते । स च प्राणसञ्चारकारणम्' ।

वह यत्न, जो जीवन का कारण है, जीवन योनि कहा जाता है । जीवन योनि यत्न जीवनपर्यन्त होता है । यह यत्न जीवन अर्थात् संचार का कारण है ।

बुद्धि आदि गुणों का उपयोग

चरक ने सूत्रस्थान में सद्वृत्त का एवं चिकित्सास्थान में आचार-रसायन का उल्लेख किया है । इनके सेवन से मनुष्य सदा शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रहता है । इस आचार-रसायन के सेवन में आत्मगुणों के ज्ञान की अधिक उपयोगिता है । आयुर्वेद में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम को रोग का कारण कहा गया है, किन्तु इसमें प्रज्ञापराध प्रधान है ।

परत्वादि दश गुणों का निरूपण

१-२ परत्व-अपरत्व—'देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु । परापरत्वे···' ।

(च० सू० २६।२९)

'परत्वं प्रधानत्वम्, अपरत्वमप्रधानत्वम्' । (चक्रपाणि)

सामान्यतः परत्व शब्द से श्रेष्ठत्व-उत्कृष्टत्व-प्रधानत्व और अपरत्व शब्द से निकृष्टत्व-अप्रधानत्व का बोध होता है । देश-काल-वय-मान-पाक-वीर्य-रस तथा आदि शब्द से प्रकृति और बल के व्यवहार हेतु परत्व-अपरत्व जो गुण हैं, वह परत्व तथा अपरत्व कहा जाता है । जैसे मरु देश 'पर' है, अनूप 'अपर' है । विसर्ग काल पर है एवं आदान काल अपर है । तरुण अवस्था पर, इससे भिन्न अपर है । मान शरीर का अर्थात् जो शरीर का प्रकृतमान कहा गया है, वह पर तथा उससे भिन्न दूसरा अपर है । इसी प्रकार पाक, वीर्य तथा रसादि में भी जो जिसके यौगिक हैं, वह पर तथा अयौगिक अपर हैं । अर्थात् जिसके लिए जो उपयोगी है, वह पर तथा तद्भिन्न अपर है । विप्रकृष्ट (दूर) एवं सन्निकृष्ट (समीप) प्रयोग हेतु भी परत्व-अपरत्व गुण कहा गया है । देश अर्थात् स्थान सम्बन्धित 'दैशिक' और काल अर्थात् समय से सम्बन्धित 'कालिक' कहा जाता है । दूर देशीय, निकट देशीय, दूर कालीन, समीप कालीन इत्यादि परापरत्व रूप में कहा जाता है ।

'पराऽपरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे । पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिनी । ते च द्विविधे—दिक्कृते कालकृते चेति । दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्, समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम् । ज्येष्ठे कालकृतं परत्वं, कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्' । (तर्कसंग्रह)

यह पर (दूर) है और यह अपर (समीप) है । इस व्यवहार का असाधारण कारण परत्व-अपरत्व है । ये परत्व-अपरत्व पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में रहते हैं । ये भी दो प्रकार के हैं—

(क) दिक्कृत परत्व और दिक्कृत अपरत्व ।

(ख) कालकृत परत्व और कालकृत अपरत्व ।

दूरस्थ घट-पटादि पदार्थों में दिक्कृत परत्व है। समीपस्थ पदार्थों में दिक्कृत अपरत्व है। ज्येष्ठ (बड़े) में कालकृत परत्व और कनिष्ठ (छोटे) में कालकृत अपरत्व है।

३. युक्ति—'युक्तिश्च योजना या तु युज्यते'। (च० सू० २६।३१)

'युक्तिश्चेत्यादौ योजना दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना, अत एवोक्तं—या तु युज्यते, या कल्पना यौगिकी भवति सा तु युक्तिरुच्यते, अयौगिकी तु कल्पनाऽपि सती युक्तिर्नोच्यते पुत्रोऽप्यपुत्रवत्। युक्तिश्चेयं संयोगपरिमाणसंस्काराद्यन्तर्गताऽप्यत्युपयुक्तत्वात् पृथगुच्यते'। (चक्रपाणि)

आदि में जो योजना होती है, वह युक्ति कही जाती है। दोष, देश, प्रकृति, बल तथा काल आदि को देखकर औषध की जो अत्युपयुक्त श्रेष्ठ कल्पना अर्थात् योजना की जाती है, वह युक्ति कहलाती है। यदि यह कल्पना अयौगिकी अर्थात् असमीचीन (अयुक्त) हो, तो कल्पना होने पर युक्ति नहीं कही जाती है। यह युक्ति संयोग, परिमाण, संस्कार आदि के अन्तर्गत समाविष्ट होते हुए भी अत्युपयोगी होने के कारण पृथक् कही जाती है।

४. संख्या—'संख्या स्याद् गणितम्'। (च० सू० २६।३२)

एक, दो, तीन कर जो संख्या गिनी जाती है, वह संख्या है।

'एकत्वादि व्यवहारहेतुः संख्या। सा नवद्रव्यवृत्तिः। एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च। नित्यगतं नित्यम्। अनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्राऽनित्यमेव'। (तर्कसंग्रह)

एक, दो, तीन आदि संख्याएँ जो व्यवहार निमित्त गिनी जाती हैं, अर्थात् व्यवहार का कारण हैं, वे ही संख्याएँ संख्या कही जाती हैं। वह पृथिवी आदि नव द्रव्य में रहती हैं। एक से परार्ध पर्यन्त होती हैं। एकत्व नित्य-अनित्य दोनों हैं। पृथिव्यादि नव नित्यगत पदार्थों में रहने वाला एकत्व नित्य है। किन्तु अनित्यगत घट-पट आदि अनित्यगत पदार्थों में रहने वाला एकत्व अनित्य है। परन्तु द्वित्वादि संख्या तो सर्वत्व अनित्य है—

'एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिर्बुदमेव च॥
वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मश्च सागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्धचा यथाक्रमम्॥'

इकाई (एक), दहाई (दश), सैकड़ा, हजार, दश हजार, लाख, दश लाख, करोड़, दश करोड़, अरब, दश अरब, वृन्द, दश वृन्द, खरब, दश खरब, निखर्ब, दश निखर्ब, शंख, दश शंख, पद्म, दश पद्म, सागर, दश सागर, अन्त्य, दश अन्त्य,

मध्य, दश मध्य, परार्ध तथा दश परार्ध—इस प्रकार एक से लेकर यथाक्रम दश-दश बढ़ाकर परार्ध पर्यन्त संख्या है। इनमें एक संख्या ईश्वर, जीवात्मा तथा प्रकृति इन तीन नित्य पदार्थों में नित्य तथा अन्य अनित्य पदार्थों में अनित्य है। दो से ऊपर की तो सभी संख्याएँ अनित्य हैं।

५. संयोग—'.....योगः सह संयोग उच्यते' ॥

'द्रव्याणां द्वन्द्वसर्वैककर्मजोऽनित्य एव च'। (च० सू० २६।३२)

'सहेति मिलितानां द्रव्याणां योगाः प्राप्तिरित्यर्थः'। (चक्रपाणि)

दो या अधिक द्रव्यों का योग अर्थात् परस्पर मेल, साथ में मिलना संयोग कहा जाता है। यह संयोग द्वन्द्व (दो) सर्व अथवा सब तथा एक द्रव्य के कर्म से उत्पन्न होता है और यह अनित्य है। जैसे युद्ध करते हुए दो भेड़ों का संयोग द्वन्द्व कर्मज है, यह दो की चेष्टा से होता है, इसी प्रकार किसी एक पात्र में डाले हुए अनेक उड़दों का संयोग सर्वकर्मज है तथा वृक्ष और काक संयोग एककर्मज है। कारण यह कि यह केवल एक के कर्म से होता है। यह संयोग अनित्य है। यह विभाग होते ही नष्ट हो जाता है।

६. विभाग—'विभागस्तु विभक्तिः स्याद्वियोगो भागशो ग्रहः'।

(च० सू० २६।३३)

'विभक्तिः विभजनम्। संयोगस्य विगमो विभागः। भागशो ग्रह इति। विभागशो विभक्तत्वेन ग्रहणं यतो भवतीति भावः'। (चक्रपाणि)

संयोग का विभक्त विभाजित होना विभाग है। अर्थात् संयोग का वियोग अर्थात् भागशः विभक्त होना विभाग है। तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा संयोग का नाश होता है, अर्थात् संयोग विभाजित होता है, उस गुण को विभाग कहते हैं।

'संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः'। (तर्कसंग्रह)

परस्पर मिलित द्रव्यों का संयोग पृथक्-पृथक् होने से अर्थात् विभक्त होने से नष्ट हो जाता है। अतः संयोग का नाश करने वाला गुण विभाग कहलाता है। यह विभाग सभी नव द्रव्यों में रहता है।

७. पृथक्त्व—'पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता।' (च० सू० २६।३३)

'पृथक्त्वं तु इदं द्रव्यं पटलक्षणं, घटात् पृथगित्यादिका बुद्धिर्यतो भवति, तद् पृथक्त्वं स्यात्'। (चक्रपाणि)

यह द्रव्य घट से पृथक् है, यह बुद्धि जिससे होती है, वह पृथक्त्व है। यह तीन प्रकार का है—

(क) सर्वथा मेरु और हिमालय पर्वत की भाँति असंयुक्त रहना, यह असंयोगात्मक पृथक्त्व है।

(ख) महिष (भैंस) और वराह (सूअर) आदि विशिष्ट लक्षण युक्त विजातीयों की विलक्षणता के कारण संयुक्त होते हुए भी पृथक्त्व का होना, यह वैलक्षण्यात्मक पृथक्त्व है ।

(ग) एक जातीय भी उड़द जो विशिष्ट लक्षण युक्त नहीं है, प्रत्युत् समजातीय है और उन्हें संयुक्त करने पर न विलक्षणता ही प्रकट होती है और न असंयोग ही रहता है, किन्तु पृथक्त्वरूपा अनेकता रहती है, अर्थात् एक का दूसरे से पृथक्त्व रहता है । वह अनेकात्मक पृथकता है ।

'पृथग्व्यवहारासाधारणकारणं पृथक्त्वम्' । (तर्कसंग्रह)

यह घट पट से भिन्न है, इत्यादि व्यवहार का असाधारण अर्थात् विशेष कारण पृथक्त्व है ।

८. परिमाण—'परिमाणं पुनर्मानम्' । (च० सू० २६।३४)

किसी को माप कर या तौल कर जो उसका मान लिया जाता है, वह परिमाण है ।

'मानव्यवहारासाधारणकारणं परिमाणम् । नवद्रव्यवृत्ति । तच्चतुर्विधम्—अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति' । (तर्कसंग्रह)

किसी के एक हाथ–दो हाथ नापने तथा सेर-दो सेर तौलने के व्यवहार का प्रधान कारण परिमाण है । वह परिमाण नव द्रव्यों में रहता है और वह चार प्रकार का है—

१. अणु (अतीव छोटा), २. महत् (बड़ा), ३. दीर्घ (लम्बा) एवं ४. ह्रस्व (छोटा) ।

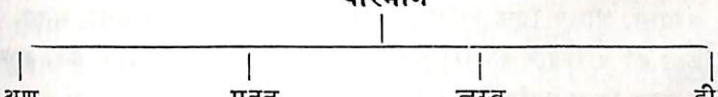

९. संस्कार—'संस्कारः करणं मतम्' । (च० सू० २६।३४)

'करणं गुणत्वाधायकत्वं संस्करणमित्यर्थः' । (चक्रपाणि)

किसी में अन्य गुणों का आधान करण संस्कार है ।

'करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः । संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते । ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते' । (च० वि० १।२१-२)

स्वाभाविक द्रव्यों का अन्य गुणों के आधान के लिए अभिसंस्करण करण है । अर्थात् अन्य गुणों का आधान संस्कार है । वे गुण जल, अग्नि, सन्निकर्ष, शौच, मन्थन, देश, काल (सुगन्धित द्रव्यों द्वारा वासने से), भावना (स्वरसादि द्वारा भावना देने से),

काल प्रकर्ष (संस्कार हेतु निर्धारित समय-यापन) और भाजन (भाण्ड) से आधान किये जाते हैं।

'संस्कारस्त्रिविधः—वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादिचतुष्टय-मनोवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथाकृतस्य पुनस्त-दवस्थापादकः स्थितिस्थापकः, कटादिपृथिवीवृत्तिः'। (तर्कसंग्रह)

संस्कार तीन प्रकार के हैं—(क) वेग, (ख) भावना एवं (ग) स्थिति-स्थापक।

(क) वेग—वेग स्वरूप संस्कार पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन में है। कारणवशात् इसमें जो गति-प्रवाह उत्पन्न होता है, उसे वेगाख्य संस्कार कहते हैं।

(ख) भावना—भावना रूप संस्कार वह संस्कार है, जो अनुभव से उत्पन्न और स्मरण का कारण है। यह भावना केवल आत्मा में ही रहती है।

(ग) स्थिति-स्थापक—जिस संस्कार से दूसरी अवस्था में प्राप्त वस्तु पुनः अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाये, वह स्थिति-स्थापक संस्कार है। यह संस्कार चटाई आदि पार्थिव द्रव्यों में रहता है। जैसे लपेटी हुई चटाई को फैला देने से वह अपनी अवस्था में आकर कार्य योग्य हो जाती है तथा पकड़ने के कारण झुकी हुई वृक्ष की शाखा छोड़ देने पर पुनः अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाती है।

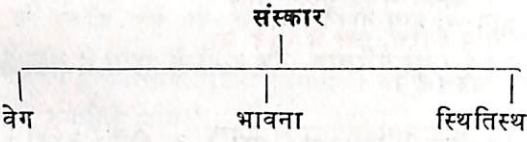

१०. अभ्यास—'भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया।' (च० सू० २६।४०)

पदार्थों का बारम्बार अभ्यास करना, सेवन करना अथवा व्यायामादि का अभ्यसन, अभ्यास, शीलन (एक ही पदार्थ का अनुशीलन करना) तथा सतत क्रिया (एक ही क्रिया को बारम्बार करना) अभ्यास कहा जाता है। अभ्यास का अभ्यसन, शीलन और सतत क्रिया पर्याय है।

गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह एवं अदृष्ट (धर्माधर्म) निरूपण

गुरुत्व—'आद्यपतनाऽसमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्तिः'। (तर्कसंग्रह)

जो प्रथम पतन का असमवायि कारणभूत गुण है, वह गुरुत्व (भारीपन) है। पृथिवी और जल में वह रहता है।

'अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात् पृथिव्यादिद्वये तु तत्।
अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम्।
तदेवासमवायि स्यात् पतनाख्ये तु कर्मणि'॥ (कारिकावली १५३)

गुरुत्व गुण अतीन्द्रिय है, अर्थात् अप्रत्यक्ष है। इन्द्रियों द्वारा यह देखा नहीं जाता है। यह गुण पृथिवी और जल दो में रहता है। यह अनित्य में अनित्य तथा

नित्य में नित्य है। यह गुरुत्व गुण पतन स्वरूप कर्म में असमवायि कारण है। कोई भी वस्तु अपने भार के कारण ऊपर से नीचे को जो पतित होती है, अर्थात् गिरती है, वस्तु की उस गिरावट को पतन कहते हैं। वस्तु जो नीचे को गिरती है, उसका एक ही पतन नहीं होता, अपितु मध्य में और भी पतन वेग आदि के कारण होता है। उन पतनों में जो प्रथम पतन होता है, वह वस्तु के गुरुत्व गुण के कारण होता है। अतः जो गुण प्रथम पतन का असमवायि कारण है, वह गुरुत्व है। यह पृथिवी और जल दो में रहता है तथा अतीन्द्रिय है। अतीन्द्रिय होने से देखा नहीं जा सकता है।

गुरुत्व का ज्ञान पतन कर्म को देखकर ही होता है। जैसे—वृक्ष से जब फल गिरता है, तब पतन कर्म के कारण गिरते हुए फल को देखकर यह समझा जाता है कि फल अपने गुरुत्व के कारण गिरता है। अतः गुरुत्व भी कोई गुण है।

वस्तुतः पतन संयोगाभाव के कारण होता है। संयोग रहने पर पतन नहीं होता है। जैसे—फलादि का वृक्षों की शाखाओं से जब तक सम्बन्ध बना रहता है, तब तक पतन नहीं होता है, किन्तु जब गुरुत्व वाले फल की शाखा के संयोग का अभाव होता जाता है, अर्थात् शाखा से सम्बन्ध छूट जाता है, तभी पतन होता है। इससे यह स्पष्ट है कि संयोग के अभाव से ही गुरुत्व वाले फल का पतत होता है।

अतः फल समवायि कारण, फल में रहने वाला गुरुत्व असमवायि कारण और संयोगाभाव निमित्त कारण है।

द्रवत्व—'आद्यस्यन्दनाऽसमवायिकारणं द्रवत्वम्। पृथिव्यप्तेजोवृत्ति। तद् द्विविधं—सांसिद्धिकं, नैमित्तिकं च। सांसिद्धिकं जले। नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः। पृथिव्यां घृतदावग्निसंयोगजं द्रवत्वं, तेजसि सुवर्णादौ। (तर्कसंग्रह)

प्रथम स्यन्दन अर्थात् बहना, टपकना, चूना आदि का असमवायि कारण गुण द्रवत्व है। यह पृथिवी, जल और तेज में रहता है। यह द्रवत्व दो प्रकार का होता है—१. सांसिद्धिक एवं २. नैमित्तिक।

स्वभाव से होने वाला द्रवत्व सांसिद्धिक द्रवत्व है और यह जल में रहता है। अग्नि आदि तेज से होने वाला द्रवत्व नैमित्तिक द्रवत्व है, यह पृथिवी और तेज में रहता है।

स्नेह—'चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः'। (तर्कसंग्रह)

स्नेह का शब्दार्थ चिकनाहट है, यह जल में रहता है। आँटा आदि में जल डाल कर उसे जो पिण्ड स्वरूप जो बनाया जाता है, उसको पिण्डीभाव कहते हैं। यह पिण्ड जलगत स्नेह के कारण ही बनता है। तात्पर्य यह है कि जिसे चूर्णादि अर्थात् पीसे हुए द्रव्य आँटा आदि में मिलाकर उसका पिण्ड-स्वरूप बनाया जाता है, उस

पिण्डी भाव का कारणभूत गुण स्नेह है। यह भी गुरुत्व के समान नित्य और अनित्य दोनों है।

अदृष्ट (धर्म और अधर्म)—

'धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम्।
गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः।
अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः'। (कारिकावली)

धर्म और अधर्म अदृष्ट हैं। स्वर्गादि सकल सुख की प्राप्ति का साधन धर्म है। वह गङ्गास्नानादि एवं यज्ञादि कार्य है। नरकादि का हेतु अधर्म है। वह निन्दित कर्म जन्य है।

'विहितकर्मजन्यो धर्मः निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः'। (तर्कसंग्रह)

वेदादि विहित कर्म से उत्पन्न अदृष्ट धर्म एवं वेदादि निषिद्ध कर्म से उत्पन्न अदृष्ट अधर्म है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। (वै० द० १।२)

जिससे इस लोक और परलोक में सब सुख भोग और मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है। अर्थात् वेदोक्त शुभकर्मानुष्ठान एवं वेदादिशास्त्राभ्यास का नाम धर्म है।

आयुर्वेद में परादि गुणों की उपयोगिता

अन्य शास्त्रों की ही भाँति परत्व-अपरत्व गुण का प्रयोग आयुर्वेद में भी होता है। इसके अतिरिक्त युक्ति आदि की आयुर्वेद में कितनी उपयोगिता है, यह सर्व विदित है। यद्यपि यथावसर इनका निरूपण किया गया है, फिर भी प्रसंगवश यहाँ पुनः संक्षिप्त रूप में बतलाया जा रहा है।

युक्ति—युक्ति को आयुर्वेद में प्रमाण ही मानकर उसका उल्लेख किया गया है, किन्तु यह स्पष्टतया विदित है कि चिकित्सा युक्ति पर ही अवलम्बित है। कोई भी पीड़ित होता है, तो लोग कहते हैं कि कुछ युक्ति कीजिए, जिससे इनकी पीड़ा दूर हो जाय।

संख्या—दोषों की अंशांश कल्पना में कितना अंश वायु का, कितना पित्त का तथा कितना कफ का है और औषधियों के योग में अर्थात् किसमें कितने द्रव्य हैं, इत्यादि में आयुर्वेद में पदे-पदे संख्या का उपयोग किया जाता है।

परिमाण—परिमाण तौल है। औषधि का निर्माण एवं उनका प्रयोग परिमाण के अनुसार ही होता है।

संस्कार—औषधियों का संस्कार ही होता है, जिसके बल पर द्रव्य सुसंस्कृत हो औषध के रूप में प्रयुक्त होता है।

अभ्यास—पथ्य का ग्रहण, अपथ्य का परित्याग, हित द्रव्य का सेवन तथा अहित द्रव्य का परित्याग, इन सबका अभ्यास किया जाता है।

पर-अपर—अर्थात् श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ आदि जितने भी गुण हैं, सभी चिकित्सा के लिए आवश्यक हैं। सभी के उपयोग से चिकित्सा में सफलता मिलती है।

द्वन्द्व-गुण

१. गुरु-लघु, २. मन्द-तीक्ष्ण, ३. शीत-उष्ण, ४. स्निग्ध-रूक्ष, ५. श्लक्ष्ण-खर, ६. सान्द्र-द्रव, ७. मृदु-कठिन, ८. स्थिर-सर, ९. स्थूल-सूक्ष्म एवं १०. पिच्छिल-विशद—ये दश द्वन्द्व गुण हैं। ये द्वन्द्व गुण परस्पर एक-दूसरे के नाशक हैं। जैसे गुरु लघु का नाशक एवं लघु गुरु का नाशक है। इसी प्रकार सभी द्वन्द्व गुण परस्पर एक-दूसरे के नाशक हैं। इसके अतिरिक्त यह भी है कि आयुर्वेद में गुरु गुण का अभाव रूप लघु नहीं है, किन्तु भाव रूप गुरु गुण का प्रतिद्वन्द्वी है। इसी प्रकार अन्य भी द्वन्द्व गुण परस्पर एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी स्वरूप में हैं।

महर्षि चरक ने इनका वर्णन शारीरस्थान के छठे अध्याय में शारीरिक धातुओं के गुणों को सामान्य-विशेष सिद्धान्त के अनुसार वृद्धि और ह्रास किये जाने के सम्बन्ध में किया है।

नवम अध्याय

कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय

कर्म-निरूपण

१. 'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते'। (च० सू० १।४९)

'प्रयतनं प्रयत्नः कर्मैवाद्यमात्मनः,.....आदिशब्दः प्रकारवाची। तेन संस्कार-गुरुत्वादिजन्यकृत्स्नक्रियावरोधः। यद्यपि चेष्टितं प्राणिव्यापार उच्यते, तथाऽपीह सामान्येन क्रिया विवक्षिता।' (चक्रपाणि)

प्रयत्नादि चेष्टाएँ 'कर्म' कही जाती हैं। अर्थात् किसी कार्य की सम्पन्नता हेतु यत्नपूर्वक जो चेष्टा की जाती है, वही यत्नपूर्वक की गई चेष्टा 'कर्म' कही जाती है। चक्रपाणि का कथन है कि प्रयतन प्रयत्न है। प्रयत्न अपना आदि कर्म ही है। आदि शब्द प्रकारवाची ही है। इसमें संस्कार आदि समस्त क्रियाएँ आ जाती हैं। चेष्टित यद्यपि प्राणि-व्यापार कहा जाता है, तथापि यहाँ सामान्य रूप से चेष्टित क्रिया रूप विवक्षित है। प्रयत्न शब्द आयुर्वेद में कर्म है। कहा गया है—

'प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च'।

(च० वि० ८।७७)

कार्य-निमित्त की गई चेष्टा अर्थात् किया हुआ व्यापार 'प्रवृत्ति' है। 'प्रवृत्ति' के चेष्टा, क्रिया, कर्म, यत्न, प्रयत्न तथा कर्मसमारम्भ—ये पर्याय हैं। इस प्रकार प्रयत्नादि चेष्टित कर्म हैं।

२. 'संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म, कर्म नान्यदपेक्षते'॥ (च० सू० १।५२)

जो संयोग और विभाग में कारण हो तथा द्रव्य के आश्रित हो, वह कर्म है। कर्त्तव्य विषय की जो क्रिया है वह कर्म है, कर्म कोई दूसरा नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि यह क्रिया में कर्म का लक्षण है, न कि 'अदृष्ट' रूप कर्म का कर्त्ता है। कर्म से ही संयोग और विभाग होता है। कर्म संयोग और विभाग में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता है।

'चकारद्वयेन कार्यमारम्भमाणानां द्रव्याणां संयोगे पुनर्विभागे चाथ पुनः संयोगे चाथ पुनर्विभागे चेत्येवं पुनः पुनः संयोगे च विभागे च यत् कारणमन्यत् कर्म स्वभिन्नं कर्मान्तरं नापेक्षते तद्द्रव्यमाश्रितं कर्म कर्त्तव्यस्य तस्य कार्यस्य कर्मणः समवायिकारणं कर्मोच्यते'। (जल्पकल्पतरु-टीका)

कार्य को आरम्भ करते हुए द्रव्य के पुनः-पुनः संयोग और विभाग में जो कारण हो और अपने से भिन्न दूसरे कर्म की अपेक्षा न करता हो, वह द्रव्याश्रित कर्म उस कर्त्तव्य रूप कार्य (कर्म) का समवायिकारण कर्म कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म सदा द्रव्य में रहता है, द्रव्य के अतिरिक्त कर्म का अन्य कोई आधार नहीं है। एतदर्थ 'द्रव्याश्रितम्' यह कहा गया है। जिस द्रव्य में वह उत्पन्न होता है, उस द्रव्य का पूर्व देश से विभाग करके उत्तर देश के साथ संयोग करता है। उक्त संयोग विभाग का समवायिकारण द्रव्य और अन्य कारण रूप में कर्म माना गया है।

३. 'कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः'। (च० सू० ११।३९)

'कर्म वाचां मनसः शरीरस्य प्रवृत्तिः व्यापारः। अनेन वागादिभेदेन कर्मणः त्रैविध्यमपि उक्तम्'। (चरकोपस्कार)

वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्ति अर्थात् व्यापार कर्म है। इससे वाणी आदि भेद से त्रिविध कर्म कहा गया है।

४. 'द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियते'। (च० सू० ८।१३)

कर्म द्रव्याश्रित है, जो क्रिया कहा जाता है।

५. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्'। (वै० द० १।१७)

जो एक द्रव्य वाला हो, अर्थात् अनेक द्रव्यों के आश्रित न हो, अगुण अर्थात् गुण रहित हो, गुणवान् न हो, संयोग और विभाग में अनपेक्ष कारण अर्थात् निरपेक्ष स्वतंत्र कारण हो, इति अर्थात् यह कर्म लक्षण है। 'एकद्रव्यम्' का तात्पर्य यह है कि कर्म भी गुण की भाँति द्रव्याश्रित है, परन्तु भेद यह है कि कुछ ऐसे भी गुण हैं, जो अनेक द्रव्याश्रित हैं; जैसे—संयोग गुण अग्नि और इन्धन उभयाश्रित है, परन्तु कर्म ऐसा नहीं है, वह सदैव एकद्रव्याश्रित है।

वैशेषिक के 'अनपेक्ष कारण' को आचार्य गङ्गाधर न मानते हुए कहते हैं कि विरेचन के लिए प्रयुक्त 'हरीतकी' रेचक होने में अपने रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव में से किसी की अवश्य अपेक्षा रखती है। इस दशा में कर्म का लक्षण बतलाते हुए उन्होंने कहा है—

'द्रव्याश्रय्यगुणवत् संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमन्यापेक्षं समवायिकारणं कर्म'। (जल्पकल्पतरु-टीका)

जो द्रव्याश्रयी, गुण रहित, संयोग-विभाग में अनपेक्ष कारण हो और अन्यापेक्ष होता हुआ समवायिकारण हो, वह कर्म है। यह लक्षण आचार्य गंगाधर का स्वलक्षण है।

'कर्म-विभाग (कर्म-प्रकार)—'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि'। (वै० द० १।७)

उत्क्षेपण (ऊपर की ओर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे की ओर फेंकना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन (चलना) ये पाँच प्रकार के कर्म हैं।

'उत्क्षेपणं ततोऽवक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च॥
भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते' ॥ (कारिकावली ६।७)

उत्क्षेपण—ऊपर की ओर उठाना, फेंकना अर्थात् गति होना अथवा गति करना। यह जो ऊपर की ओर संयोग और नीचे की ओर वियोग करने का 'फेंकना' कारण रूप कर्म है, यह 'उत्क्षेपण' कर्म है।

अवक्षेपण—इसी प्रकार नीचे की ओर फेंकना, गति करना 'अवक्षेपण' है।

आकुञ्चन—सिकुड़न रूप कर्म 'आकुञ्चन' है।

प्रसारण—आकुञ्चन के विपरीत 'प्रसारण' (फैलाना व फैलना) है।

गमन—गमन (चलना) है। भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, उर्ध्व ज्वलन तथा तिर्यग् गमन आदि कर्म गमन कर्म के अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

कर्म-भेद

लौकिक तथा आध्यात्मिक भेद से कर्म दो प्रकार के होते हैं—

उत्क्षेपणादि लौकिक कर्म हैं। सद्वृत्त आदि आध्यात्मिक कर्म हैं। आयुर्वेद में 'कर्म' शब्द से पञ्चकर्म भी गृहीत हैं। इसके अतिरिक्त—१. पूर्व कर्म, २. प्रधान कर्म एवं ३. पश्चात् कर्म का भी 'कर्म' शब्द से आयुर्वेद में अवबोध होता है।

गुण एवं कर्म में भेद

गुण	कर्म
१. गुण निश्चेष्ट (निष्क्रिय) होता है।	१. कर्म चेष्टा स्वरूप है।
२. यह सिद्ध रूप में रहता है।	२. यह साध्य रूप में रहता है।
३. अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका होता है।	३. इसका सिद्ध स्वरूप भविष्य के गर्भ में रहता है।
४. यह संयोग-विभाग में स्वतंत्र कारण नहीं है।	४. यह संयोग-विभाग में स्वतंत्र कारण है।

सामान्य निरूपण

सामान्य एवं विशेष दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ विरुद्ध धर्म वाले होते हुए दोनों का ठीक एक-दूसरे के विपरीत कार्य होने से इनका पृथक्-पृथक् निरूपण होना

चाहिए, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रकारों ने इनकी एक जोड़ी मान ली है। जहाँ 'सामान्य' का लक्षण वहीं 'विशेष' का लक्षण, यदि एक श्लोक में आधे में सामान्य का निरूपण है तो आधे में 'विशेष' का अवश्य ही है। अतः उपयुक्त यही प्रतीत होता है कि एक साथ ही दोनों का निरूपण किया जाय। परन्तु दोनों की यथेष्ट व्याख्या की दृष्टि से पृथक्-पृथक् सर्वप्रथम सामान्य का निरूपण किया जा रहा है—

१. 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'। (च० सू० १।४४)

'सर्वदा सर्वस्मिन् काले नित्यगे आवस्थिके च। सर्वभावानां सर्वेषां भावानां द्रव्यगुणकर्मणां पदार्थानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। सत्तामनुभवन्तीति भावाः द्रव्यगुण-कर्माणीत्यर्थः'।

'समानां भावः सामान्यम्' सम पदार्थों का भाव सामान्य कहा जाता है। सदा समस्त पदार्थों की समानता वृद्धि अर्थात् अधिकता का कारण है।

२. 'सामान्यमेकत्वकरम्'।

३. 'तुल्यार्थता हि सामान्यम्'। (च० सू० १।४५)

एकत्व करने वाला सामान्य है। तात्पर्य यह है कि 'सामान्य' वह पदार्थ है, जो अनेकानेक भावों अर्थात् पदार्थों—वस्तुओं में एकत्व—एकीकरण स्थापित कर उसकी वृद्धि करता है। अर्थात् उसे अधिक रूप प्रदान करता है। 'तुल्यार्थता हि सामान्यम्' जो ऊपर लक्षण किया गया है, वहाँ समान रूप के अनेक पदार्थों की तुल्यार्थता 'सामान्य' है, क्योंकि एक ही समान नहीं होता है। कहा गया है—

'सापेक्षधर्मकः समानः अर्थः कारणभूतं कार्यभूतञ्च वस्तु तुल्यं येषां ते तुल्यार्था-स्तेषां भावस्तुल्य एवार्थः। येन समानं यत् तस्य तेन सह तुल्यार्थत्वं सामान्यम्। यथा पुरुषाणां पुरुषघटकं वस्तुसत्त्वमात्माशरीरं तुल्यम्।' (जल्पकल्पतरु-टीका)

समानता में एक-दूसरे की अपेक्षा होती है। कारणभूत अथवा कार्यभूत वस्तु जिसके तुल्य हो, वे तुल्यार्थ हैं और उनका भाव तुल्यार्थता है। अर्थात् जिसके समान जो है, वह उसकी तुल्यता रखने के कारण तुल्यार्थत्व सामान्य है। जैसे पुरुषों की पुरुषघटक वस्तु सत्त्व, इन्द्रिय एवं शरीर घटक रूप में समान है। यहाँ सामान्य में जाति का भी बोध किया जाता है। जाति समान रूप से कई वस्तुओं में रहती है। अर्थात् जाति एक रहते हुए भी अनेक में समवेत रहती है।

नित्यत्व और अनेक समवेतत्व जाति का लक्षण है। जाति समान रूप से कई वस्तुओं में रहती है। अर्थात् जाति एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं में समवेत रहती है। जाति का विनाश न होने से वह नित्य है। जैसे गोत्व जाति के ज्ञान से संसार के समस्त भागों में रहने वाली गायों के विभिन्न रंग-रूप, भेद एवं अवस्था होते हुए भी

गोत्व इस जाति से भिन्न नहीं हो सकती और एक ही रूप में सभी जानी जाती है। तात्पर्य यह है कि भेद होते हुए भी जो गोत्व धर्म है, वह सभी गायों में एक रूप से रहता है। गायों के नष्ट होने पर गोत्व जाति का विनाश नहीं होता। इसी कारण यह लक्षण भी कहा गया है—

'नित्यत्वमनेकानुगतं सामान्यम्'।

सामान्य नित्य और अनेकानुगत है। शरीर में जब किसी दोष अथवा धातु आदि में कमी आदि हो जाती है, उस दशा में समान द्रव्य, गुण तथा कर्म के प्रयोग से उसकी वृद्धि हो जाती है। अतः सामान्य तीन प्रकार का कहा गया है—

(क) द्रव्यगोचर, (ख) गुणगोचर एवं (ग) कर्मगोचर।

(क) द्रव्य सामान्य—'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यम्।' इस लक्षण द्वारा द्रव्यगोचर सामान्य कहा गया है। समान द्रव्यों के मेल से तत्सम द्रव्य की वृद्धि होती है। जैसे रक्तपान से रक्त, मांस-सेवन से मांस, मेदोधातु के सेवन से मेदोधातु, मज्जा के सेवन से मज्जा, शुक्र के सेवन से शुक्र और अण्डा आदि आम गर्भ के सेवन से गर्भ की वृद्धि होती है।

(ख) गुण सामान्य—'सामान्यमेकत्वकरम्'। इस लक्षण द्वारा गुण सामान्य कहा गया है। जैसे—शुक्रक्षय में क्षीर एवं घृत का उपयोग। पय और शुक्र दोनों की यद्यपि विभिन्न जाति है, पर भिन्न जाति होते हुए भी दोनों में मधुरादि गुण होने से मधुरादि गुण दोनों की एकता अर्थात् दोनों का एकत्व स्थापित करता है। इस प्रकार यह गुण सामान्य है।

(ग) कर्म सामान्य—आस्या रूप कर्म, अर्थात् एक स्थान पर स्थित रहना, बैठे रहना इत्यादि कर्म कफ समान न होते हुए भी कफवर्द्धक पानी आदि द्रव्य की भाँति कफवर्धक रूप होने से आस्या भी कफ के समान ही कही जाती है। इसी प्रकार स्वप्नादि कर्म भी कफ समान न होते हुए भी कफवर्द्धक द्रव्य की भाँति कफवर्द्धक रूप होने से समान ही कहा जाता है।

भट्टार हरिश्चन्द्र ने सामान्य के दूसरे तीन भेद कहे हैं—

(क) अत्यन्त सामान्य।

(ख) मध्य सामान्य।

(ग) एकदेश सामान्य।

इसमें 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यम्' के इस प्रथम लक्षण से अत्यन्त सामान्य का लक्षण कहा गया है। 'सामान्यमेकत्वकरम्' इस वाक्य से मध्य सामान्य और 'तुल्यार्थता ही सामान्यम्' इस लक्षण द्वारा एकदेश सामान्य का लक्षण कहा गया है। परन्तु कुछ आचार्य इस प्रकार को भी सप्रयोजन एवं सुसङ्गत न मान सामान्य को दो ही प्रकार का मानते हैं।

(क) उभय वृत्ति एवं (ख) एक वृत्ति ।

(क) उभय वृत्ति—जैसे मांस, मांस की वृद्धि करता है। यहाँ मांस पोष्य तथा पोषक दोनों होने से उभय वृत्ति सामान्य कहा गया है ।

(ख) एक वृत्ति—जैसे घृत अग्निकर, धावनादि-कर्म वातकर तथा आस्यादि (एक स्थान पर स्थित रहना, बैठे रहना) कफकर है। ये सब वर्धनीय विषय के समान न होते हुए भी अपने प्रभाव से वर्धक हैं। यहाँ प्रभाव घृतत्व तथा धावनत्व आदि है। यह एकदेश सामान्य रूप है। इससे यहाँ भी 'सामान्य' ही वृद्धि का कारण कहा गया है। सामान्य के अनेक भेद हैं—

'सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च ।
द्रव्यादित्रिक्वृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते ॥
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते ।
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते ॥
व्यापकत्वात् परापि स्याद् व्याप्यत्वादपरापि च'। (कारिकावली)

सामान्य दो प्रकार का होता है—१. पर सामान्य, २. अपर सामान्य। द्रव्यादि तीनों पदार्थों में रहने वाली सत्ता को पर सामान्य तथा पर से भिन्न जाति को अपर सामान्य कहते हैं। द्रव्यत्वादिक जाति तो 'पर' और 'अपर' कही जाती है। व्यापकत्व होने से पर है तथा व्याप्यत्व होने से अपर भी है। पर तथा अपर को सामान्यतः ऐसे समझना चाहिए कि सबसे अधिक व्यक्तियों तथा अधिक प्रदेश में रहने वाली जाति 'पर सामान्य' नाम से कही जाती है तथा इस प्रकार अल्प व्यक्तियों तथा अल्प स्थान में रहने वाली जाति 'अपर सामान्य' नाम से कही जाती है।

विशेष-निरूपण

सामान्य के सर्वथा विपरीत विशेष है, जहाँ समानता में वृद्धि होती है, वहीं विशेषता में ह्रास होता है। जहाँ सामान्य लक्षण में अधिक का समावेश होता है, वहाँ विशेष लक्षण में जो विशेष होता है, वही गृहीत होता है, तद्विपरीत सबका पृथक्करण हो ह्रास हो जाता है। जैसे किसी विद्यालय के सभी छात्रों को बुलाना है और कहला दिया जाये कि इस विद्यालय के छात्र आ जायें, तो विद्यालय में पढ़ने वाले जितने छात्र हैं, जिनमें छात्रत्व जाति वर्तमान है, सभी आ जायेंगे, क्योंकि छात्रत्व जाति विद्यालय में पढ़ने वाले सभी छात्रों में वर्तमान है। परन्तु यदि कहा जाये कि विद्यालय के ब्राह्मण छात्र आ जायें, तो इस विशेष वाक्य से विद्यार्थियों का पूरा समुदाय ही पृथक् हो जायेगा और केवल उतने ही अल्प छात्र आयेंगे, जितने ब्राह्मणत्व जाति विशिष्ट होंगे।

विशेष के लक्षण

१. 'ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु'। (च० सू० १।४४)
विशेष ह्रास का कारण है।

२. 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्'। (च० सू० १।४५)
विशेष तो पृथक्त्व कारक है।

३. 'विशेषस्तु विपर्ययः'। (च० सू० १।४५)
विशेष तो विपरीत है।

४. 'सजातीयेभ्यो व्यावर्तनं विशेषः'। (वामनाचार्य)
सजातीय द्रव्यों से पृथक् करने वाला विशेष है।

५. 'सर्वेषां सर्वदा वृद्धिस्तुल्यद्रव्यगुणक्रियैः।
भावैर्भवति भावानां विपरीतैः विपर्ययः' ॥

समस्त पदार्थों की सर्वदा तुल्य द्रव्य-गुण-कर्मयुक्त भावों से वृद्धि तथा विपरीत द्रव्य-गुण-कर्मभावों से ह्रास होता है। अर्थात् शारीरिक धातुओं की समान द्रव्य, गुण तथा कर्म के अभ्यास से वृद्धि और विपरीत से ह्रास होता है। जैसे माँस से माँस आदि वृद्धि के सामान्य विवेचन में जो उदाहरण दिये गये हैं, वे ही सब उदाहरण विपरीत रूप में यहाँ समझना चाहिए। सामान्य की भाँति विशेष भी द्रव्यगोचर, गुणगोचर तथा कर्मगोचर भेद से तीन प्रकार का कहा गया है।

द्रव्य विशेष—अतिस्थौल्य में श्लेष्मा एवं मेदोधातु नाशक कुलथी, यवक, जौ, मुद्ग, श्यामाक (साँवा) आदि का प्रयोग।

गुण विशेष—वात-प्रकोप में तद्भिन्न उष्ण, स्निग्ध एवं गुरु गुण तैल का प्रयोग।

कर्म विशेष—रक्त की वृद्धि में रक्त-निर्हरण (सिरावेध आदि द्वारा) करना।

'प्रवृत्तिरुभयस्य तु। यो भावो यस्य समानस्तयोरुभयोः प्रवृत्तिः सामान्यं वृद्धि-कारणं संख्यात एव। यो भावो यस्माद्विशिष्टतयोरुभयोः प्रवृत्तिर्विशेषो ह्रासहेतुः संख्यात एवेति। तद्यथा—पञ्चसु ब्राह्मणेषु यद्यपरः कश्चिद् ब्राह्मण आगच्छति तदा तद् ब्राह्मणत्वं सामान्यं षड् ब्राह्मणा इति संख्यातस्तेषां वृद्धौ हेतुर्भवति। यदि तत्र कश्चित् क्षत्रिय आगच्छति तथा तत्क्षत्रियत्वं विशेषो न संख्यातो ब्राह्मणानां वृद्धौ हेतुर्भवति, पञ्चैव ब्राह्मणा एकः क्षत्रियः इति षट्सु च पुरुषेषु सत्सु ह्रासहेतुर्विशेषः क्षत्रियत्वं ब्रह्मणत्वञ्च। एकः क्षत्रियः पञ्च ब्राह्मणा इति'। (जल्पकल्पतरु-टीका)

जो भाव जिसके समान है, उन दोनों की प्रवृति सामान्य, वृद्धि कारण है। जो भाव जिससे विशिष्ट है, उन दोनों की प्रवृत्ति विशेष ह्रास का कारण है। जैसे पाँच ब्राह्मणों के मध्य में एक ब्राह्मण आ जाता है, उस समय ब्राह्मणत्व समान होने से षड्ब्राह्मण हो गये। यदि कोई क्षत्रिय आ जाता है, तो क्षत्रियत्व विशेष ब्राह्मणों की

वृद्धि में हेतु नहीं होता है, प्रत्युत ह्रास का कारण बन जाता है। यहाँ षट्पुरुषों के होते हुए भी क्षत्रियत्व विशेष से पाँच ही ब्राह्मण और एक क्षत्रिय हुए।

'प्रवृत्तिरुभयस्य तु उभयस्य सामान्यस्य विशेषस्य च, प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं शरीरेणाभिसम्बन्ध इति यावत्, एवम्भूता प्रवृत्तिः धातुसामान्यविशेषयोर्वृद्धिह्रासे कारणमित्यर्थः। तुशब्दोऽवधारणे'। (चक्रपाणि)

एक साथ सामान्य और विशेष दोनों की प्रवृत्ति शरीर-निर्मित होने पर अर्थात् एक साथ समान विशिष्ट द्रव्य के प्रयोग होने पर समान द्रव्य से समान धातु की वृद्धि और विशिष्ट धातु से विशेष धातु का ह्रास होता है। यह प्रवृत्ति धातुसाम्य रूप होती है।

आयुर्वेद में सामान्य एवं विशेष की उपयोगिता

सामान्य और विशेष ये दोनों ऐसे पदार्थ हैं कि 'आयुर्वेद' का चिकित्सा रूप कार्य इनके बिना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। आयुर्वेद का उद्देश्य स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोग-प्रशमन है। किसी स्वस्थ पुरुष का कारण विशेष से शुक्र संक्षय को प्राप्त हो गया है। उस समय सामान्य सिद्धान्त के अनुसार शुक्रोत्पादक द्रव्यों का सेवन उसे कराकर शुक्रोत्पादन किया जाता है और शरीरस्थ समान स्वरूप शुक्र की वृद्धि की जाती है। यदि कोई स्थौल्यवर्धक द्रव्य, गुण और कर्म के सेवन से अति मेदस्वी अथवा स्थूल शरीर को प्राप्त हो गया है, उस दशा में उसे विशेष सिद्धान्त के अनुसार स्थौल्य नाशक द्रव्य, गुण एवं कर्म का सेवन कराया जायेगा, फलस्वरूप स्थूलता से ह्रास होगा। इसी प्रकार चिकित्सा में रोगों के परीक्षण अथवा उनकी चिकित्सा के अवसर पर वातादि दोषों की अंशांश कल्पना की जाती है। बढ़े हुए दोषों के विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग कर उन्हें नष्ट किया जाता है। इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों की आयुर्वेद में सर्वात्मना उपयोगिता है; अथवा यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः इन्हीं सिद्धान्तों पर आयुर्वेद-चिकित्सा आश्रित है। कहा भी गया है— हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत, हेतु-व्याधि उभयविपरीत औषध, अन्न और विहार का उपयोग सुखावह होता है।

सामान्य एवं विशेष में भेद

सामान्य	विशेष
१. इससे जाति का बोध होता है।	१. इससे व्यक्ति का बोध होता है।
२. यह समानता प्रदर्शित करता है।	२. यह पार्थक्य प्रदर्शित करता है।
३. यह अभेद का प्रतीक है।	३. यह भेद का प्रतीक है।
४. यह एक एवं अभिन्न है।	४. यह असंख्य है।

समवाय-निरूपण

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में सम्बन्ध दो प्रकार का माना गया है। इसमें एक प्रकार का सम्बन्ध ऐसा होता है, जो कुछ समय पश्चात् समाप्त होता है। जैसे हाथ एवं घड़ी का सम्बन्ध, शरीर-इन्द्रिय तथा सत्त्व-आत्मा का सम्बन्ध (संयोग)। ऐसा सम्बन्ध क्षणिक या अनित्य होता है। दूसरे प्रकार का सम्बन्ध कभी भी नहीं समाप्त होता, जैसे—जल में शीतलता। ऐसा सम्बन्ध नित्य होता है। इसी नित्य सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है—'नित्यसम्बन्धः समवायः'।

१. 'समवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतो गुणः'॥ (च० सू० १।४९)

'भूम्यादीनां गुणैः अपृथग्भावः समवायः मतः। स नित्यः हि यत्र द्रव्यं तत्र गुणः अनियतः न'।

भूमि आदि पृथिव्यादि आधारभूत द्रव्यों का अपने-अपने आधेयभूत गुर्वादि गुणों के साथ (अपृथग्भाव) पृथक् न रहने अर्थात् साथ में स्थित रहने का जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध समवाय कहा गया है। अर्थात् उस सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। वह समवाय नित्य है। कारण यह है कि जहाँ द्रव्य है, वहाँ गुण अनियत अर्थात् निश्चित रूप से नहीं है, ऐसा नहीं; अपितु नियत रूप से वर्तमान है।

२. 'तेनाधाराणामाधेयैर्योऽपृथग्भावः सः समवाय इति'। (चक्रपाणि)

अर्थात् आधार का आधेय से जो पृथक् न होकर रहना है, वह सम्बन्ध समवाय है। समवाय नित्य है। कहा है—'स नित्य इति समवायोऽविनाशी। सत्यपि समवायिनां द्रव्याणां नाशे समवायो न विनश्यति'। (चक्रपाणि)। वह नित्य है, इस प्रकार समवाय अविनाशी अर्थात् नित्य है। समवायी द्रव्य के नाश होने पर समवाय नष्ट नहीं होता है।

३. 'घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः'॥ (करिकावली)

कपालादि में घटादि का, द्रव्यों में गुण-कर्म का और उन्हीं द्रव्य, गुण और कर्म में जाति का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी का, जाति-व्यक्ति का, गुण-गुणी का, क्रिया-क्रियावान् का, नित्य द्रव्य और विशेष का जो सम्बन्ध है, वह समवाय है।

४. 'इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः'। (वै० द० ७।२।२५)

यतः—जिसमें, कार्यकारणयोः—कार्य और कारण में, इति—यह व्यवहार होता है कि इहेदम्—इनमें यह है, सः—वह समवाय कहा जाता है। जैसे मिट्टी रूप कारण में घट रूप कार्य अथवा घट रूप कार्य में मृत्तिका रूप कारण जिस सम्बन्ध से वर्तमान है, उस सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

५. 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः'।
(प्रशस्तपाद)

अयुतसिद्धों का, आधाराधेय भूतों का जो सम्बन्ध है, इह–इस ज्ञान का हेतु हैं, वह समवाय है। इस प्रकार समवाय के लिए अयुतसिद्ध और आधाराधेयभूत सम्बन्ध दोनों का होना आवश्यक है। 'ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यत् अपराश्रित-मेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ'। जिस दो के मध्य में एक नष्ट न होता हुआ दूसरे के आश्रित हो स्थित रहता है, वे दोनों 'अयुतसिद्ध' हैं। जैसे—गुण-गुणी, घट-कपाल एवं तन्तु-पट आदि।

समवाय एवं संयोग में भेद

समवाय	संयोग
१. समवाय नित्य होता है।	१. संयोग अनित्य एवं क्षणिक होता है।
२. विभाग द्वारा सम्बन्ध समाप्त नहीं होता।	२. विभाग द्वारा सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।
३. प्राकृत होता है।	३. कृत्रिम होता है।
४. अयुतसिद्ध पदार्थों में होता है।	४. उन पदार्थों में होता है, जो संयोग के बिना भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है।

आयुर्वेद में समवाय की उपयोगिता

१. औषधियों में उनके गुण एवं कर्म समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं, जिससे प्रयोग करने पर औषधियाँ निश्चित रूप से स्वास्थ्य-संरक्षण एवं रोग-प्रशमन करती हैं।

२. समवाय के आधार पर ही द्रव्यों में उनके गुणों को निश्चित मानकर तदनुसार व्यवहार किया है।

दशम अध्याय

प्रमाण

बुद्धि-निरूपण

अव्यक्त नाम की जो मूल प्रकृति है, उससे महान् तत्त्व की उत्पत्ति होती है, उस महान् अर्थात् महत् तत्त्व का ही दूसरा नाम बुद्धितत्त्व है। 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञान-मित्यनर्थान्तरम्।' (न्या० द० १।१५)। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये बुद्धि के पर्यायवाचक शब्द हैं।

'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्'। (तर्कसंग्रह)

'सर्वे ये व्यवहारा आहारविहारादयस्तेषां हेतुर्बुद्धिरित्यर्थः'। (टीकाकार)

सभी प्रकार के जो व्यवहार आहार-विहारादि हैं, उनका हेतु बुद्धि है। तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार के व्यवहार में जो गुण कारण होता है, वही बुद्धि है। चक्रपाणि ने कहा है कि ऊहापोह स्वरूप ज्ञान बुद्धि है—'बुद्धिस्तूहापोहज्ञानम्'।

बुद्धि के अनेक रूप – महर्षि चरक के अनुसार बुद्धि अर्थात् ज्ञान के अनेक रूप होते हैं। मनुष्य के जिस इन्द्रिय का आश्रयण कर जो बुद्धि होती है, वह उसी नाम से कही जाती है। जैसे पंचज्ञानेन्द्रियों के आश्रयण से पाँच प्रकार की बुद्धि होती है और मन के आश्रयण से मन में होने वाली बुद्धि होती है। इस प्रकार मनोबुद्धि का संयोग मानसिक विषय चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य आदि से है। सुख-दुःखादि भाव अनेक हैं। सबका ज्ञान बुद्धि में ही होता है। इस प्रकार इन्द्रिय-बुद्धि और मानव-बुद्धि प्रथम दो प्रकार की, पुनः वही इन्द्रिय बुद्धियाँ पाँच प्रकार की और मनोबुद्धि मन के अनेक विषयों से सम्बन्धित एक प्रकार की कुल मिलाकर छः प्रकार की हुई। वही बुद्धि कार्येन्द्रियार्थ भेद से विभक्त होती हुई अनेक प्रकार की हो जाती है। कार्य सुख-दुःख भेद स्वरूप है। जिस प्रकार वीणा का शब्द (ध्वनि) तन्त्री, वीणा और नख के संयोग से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार बुद्धि भी आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो 'संयोगजा' कहलाती है।

बुद्धि प्रकार—'सा द्विविधा—स्मृतिरनुभवश्च'। (तर्कसंग्रह)

स्मृति एवं अनुभव भेद से वह दो प्रकार की होती है। पुनः अनुभूति चार प्रकार की होती है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमिति, ३. उपमिति एवं ४. शब्दज। इन चारों प्रकार की अनुभूति के कारण अर्थात् साधन क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द अर्थात् आप्तवचन हैं, जिनके आधार पर तद्वत् अनुभूति होती है।

'अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते ।
अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥' (कारिकावली)

प्रमा और अप्रमा भेद से ज्ञान अन्य दो प्रकार का भी होता है। 'धीधृति-स्मृतिविभ्रंशः·····दुःखहेतवः'। (च० शा० १।९६)। महर्षि चरक ने दुःख के कारण का वर्णन करते हुए (बुद्धि के तीन भेद) धी, धृति एवं स्मृति का विभ्रंश कहा है। इससे तीन प्रकार की बुद्धि ज्ञात होती है। 'धीधृतिस्मृतयः पुनः प्रज्ञाभेदाः'। (चक्रपाणि) धी, धृति और स्मृति प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि के भेद हैं।

अनुभव के लक्षण तथा भेद

'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः। अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम्'। (तर्कभाषा)

'ज्ञातविषयक ज्ञान को 'स्मृति' तथा उससे भिन्न अर्थात् अज्ञात-विषयक ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं।

'तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। स द्विविधः—यथार्थोऽयथार्थश्च'। (तर्कसंग्रह)

केवल संस्कार से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है। स्मृति से भिन्न जो ज्ञान है, वह अनुभव है। वह अनुभव भी दो प्रकार का है—१. यथार्थ अनुभव और २. अयथार्थ अनुभव।

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः (यथा रजते इदं रजतमिति ज्ञानम्)। सैव प्रमेत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः (यथा शुक्तौ इदं रजतमिति ज्ञानम्)। सैवाऽप्रमेत्युच्यते'। (तर्कसंग्रह)

जो वस्तु जिस प्रकार की है, उसे ठीक उसी प्रकार समझना; यह यथार्थ अनुभव कहा जाता है। जैसे चाँदी में चाँदी का ज्ञान। इसी यथार्थ अनुभव का नाम प्रमा है। जो वस्तु वस्तुतः उस प्रकार की न हो, परन्तु उसे वैसा ही समझना यह अयथार्थ अनुभव अर्थात् मिथ्या ज्ञान कहा जाता है। जैसे शुक्ति को देखकर उसे शुक्ति न समझकर चाँदी समझना; इस अयथार्थ अनुभव का नाम अप्रमा है।

इस प्रकार तर्कसंग्रह में ज्ञान का ही भेद अनुभव और स्मृति तथा कारिकावली में ज्ञान का ही अन्य प्रकार प्रमा और अप्रमा निर्दिष्ट है।

अयथार्थ अनुभव-प्रकार—'अयथार्थानुभवस्त्रिविधः—संशयविपर्ययतर्कभेदात्'। (तर्कसंग्रह)

अयथार्थानुभव तीन प्रकार का है—१. संशय, २. विपर्यय एवं ३. तर्क।

१. संशय-लक्षण—'एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति'। (तर्कसंग्रह)

एक ही धर्म वाले पदार्थ में परस्पर विरुद्ध नाना धर्म का जो विशिष्ट सम्बन्ध है, उसका ज्ञान संशय है। जैसे किसी एक स्थाणु (सूखा) हुआ मुण्डा वृक्ष को देख कर उसमें यह संदेह होता है कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष है।

२. विपर्यय-लक्षण—'मिथ्याज्ञानं विपर्ययः; यथा शुक्तौ रजतम्'।

(तर्कसंग्रह)

मिथ्याज्ञान विपर्यय कहा जाता है; जैसे शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का ज्ञान।

३. तर्क-लक्षण—इसका विवेचन अनुमान प्रसंग में किया गया है।

स्मृति का स्वरूप

१. 'दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते'। (च० शा० १।१४९)

देखे, सुने एवं अनुभव किये हुए विषयों के स्मरण से स्मृति होती है। अतः देखे, सुने और अनुभूत विषयों का स्मरण स्मृति कही जाती है।

२. 'दृष्टं प्रत्यक्षोपलक्षणम्, श्रुतं त्वागमप्रतीतम्, तेन सर्वपूर्वानुभूतावरोधः'।

(चक्रपाणि)

शास्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखे, सुने तथा पूर्वानुभूत विषयों के स्मरण से स्मृति होती है।

३. 'स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्'। (न्या० द० ३।४३)

ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण तो आत्मा का धर्म है, तात्पर्य यह है कि स्मृति ज्ञान का ही एक प्रकार है और ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के ही रहने से ज्ञान होता है। स्मरण रूप ज्ञान ही स्मृति है। फलतः स्मृति भी आत्मा का ही धर्म है।

४. 'आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः'। (वैशेषिक ९।२।६)

आत्मा और मन के विशेष संयोग और संस्कार से स्मृति–स्मरण का ज्ञान होता है।

५. 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः'। (तर्कसंग्रह)

केवल संस्कार से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है।

स्मृति के प्रकार—'स्मृतिरपि द्विविधा—यथार्था अयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था, अप्रमाजन्या अयथार्था'। (तर्कसंग्रह)

स्मृति दो प्रकार की है—प्रमाजन्य यथार्थ और अप्रमाजन्य अयथार्थ।

स्मृति के कारण—

'वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतियैंरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्॥
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्'॥

(च० शा० १।१४६-१४७)

स्मृति के आठ कारण हैं, जिनसे स्मृति उत्पन्न होती है। वे इस प्रकार कहे गये हैं—

१. निमित्तकारण-ज्ञान—कारण को देखकर कार्य की स्मृति।

२. रूपग्रहण (आकार-ग्रहण)—आकार देखकर तद्वत् अन्य आकार की स्मृति।

३. सादृश्य—सदृश पुरुष देखकर तत्सदृश पुरुष का स्मरण।

४. सविपर्यय—अत्यन्त विपरीत से भी स्मृति होती है। जैसे अत्यन्त कुरूप देखकर अत्यन्त सुरूप का स्मरण।

५. सत्त्वानुबन्ध—मन के प्रणिधान से, अर्थात् स्मरणीय विषय को मन लगा कर स्मरण करना।

६. अभ्यास—अभ्यास किये गये विषय को पुनः अभ्यास करने से।

७. ज्ञानयोग—तत्त्व ज्ञानयोग से।

८. पुनः श्रुत—भूली हुई बातों का कुछ अंश पुनः सुनते ही स्मरण हो जाता है।

भ्रान्ति

किसी वस्तु में (अपने वास्तविक स्वरूप में होते हुए भी) दूसरी वस्तु के होने की प्रतीति होना भ्रान्ति कहलाता है। इसे मिथ्याज्ञान अथवा विपर्यय भी कहा जाता है। जैसे शुक्ति में चाँदी का ज्ञान या रस्सी को सर्प समझना आदि। कहा गया है—

'मिथ्याज्ञानं विपर्ययः, तथा शुक्ताविदं रजतमिति'। (तर्कसंग्रह)

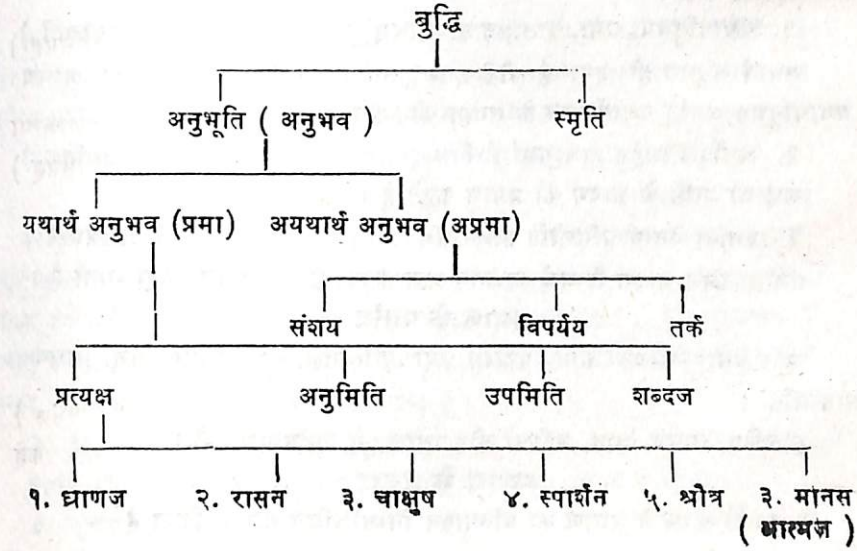

प्रमेय एवं प्रमाता लक्षण

प्रमेय—यथार्थ ज्ञान के विषय को प्रमेय कहते हैं। इसके विषय में द्वितीय अध्याय में विस्तार से कहा गया है।

प्रमाता—प्रमेय पद से गृहीत अथवा ज्ञातव्य जो विषय हैं, उसके ज्ञाता को प्रमाता कहते हैं। कारण यह है कि ज्ञेय अथवा ग्राह्य जो वस्तुएँ होती हैं, उसका ज्ञाता अथवा ग्रहण करने वाला कोई अवश्य होता है, उसी को प्रमाता कहते हैं।

'आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद् वा न वर्तते॥
करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च'।

(च० शा० १।५५-५६)

आत्मा ज्ञानवान् है, करण के योग से इसे ज्ञान होता है, करणों की अविमलता अथवा अयोग से ज्ञान नहीं होता है। करण मन, बुद्धि, बुद्धीन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार जो आत्मा और समनस्क इन्द्रियवान् है, वह प्रमाता है। कारण यह है कि उसी को ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ही प्रमाता है।

प्रमाण-निरूपण

प्रमाण-निरुक्ति—'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्'।

इसके द्वारा यथार्थ अनुभव अर्थात् ज्ञेय विषयों का यथार्थ ज्ञान (सत्य ज्ञान) होता है, अतः यह प्रमाण कहा जाता है।

प्रमाण-लक्षण—

१. 'यथार्थानुभवः प्रमा, तत्साधनञ्च प्रमाणम्'। (उदयनाचार्य)

यथार्थ अनुभव ही 'प्रमा' है और उसका साधन प्रमाण है, इस प्रकार प्रमाण यथार्थानुभव अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन को कहते हैं।

२. 'अर्थोपलब्धिर्हेतुः प्रमाणम्'। (न्यायवार्तिक)

अर्थ की प्राप्ति के कारण को प्रमाण कहते हैं।

३. 'प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्'। (वात्स्यायन)

प्रमाता जिस साधन से अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है, वह प्रमाण कहा जाता है।

प्रमाण के पर्याय

'उपलब्धिः साधनं ज्ञानं परीक्षा प्रमाणानीत्यनर्थान्तरं समाख्यातम्, वचन-सामर्थ्यात्'।

उपलब्धि, साधन, ज्ञान, परीक्षा और प्रमाण, ये पर्यायवाचक हैं।

प्रमाण के प्रकार

१. महर्षि चरक ने प्रमाण का प्रतिपादन निम्नलिखित रूप से किया है—

(क) 'द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च, तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति'। (च० सू० ११।१७)

अर्थात् भावरूप और अभावरूप इस प्रकार सब कुछ दो भागों में विभक्त है। जिसकी सत्ता वर्तमान है, वह सत् भावरूप और जिसकी सत्ता वर्तमान नहीं है, वह असत् अभावरूप है। इनका परीक्षण करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता है। कारण यह है कि परीक्ष्य का परीक्षण प्रमाणों द्वारा किया जाता है। कहा भी है—'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' अर्थात् ज्ञेय विषय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है। फलतः महर्षि चरक ने 'सत्' एवं 'असत्' के परीक्षण के लिए—१. आप्तोपदेश, १. प्रत्यक्ष, ३. अनुमान एवं ४. युक्ति, इस प्रकार चार प्रमाणों का प्रतिपादन किया है।

(ख) 'त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं अनुमानञ्चेति'। (च० वि० ४।३)

'आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यक् विद्याद्विचक्षणः'॥
(च० वि० ४।९)

रोग का विशेष ज्ञान त्रिविध प्रकार से होता है—१. आप्तोपदेश, २. प्रत्यक्ष तथा ३. अनुमान। विद्वान् वैद्य उक्त आप्तोपदेश, प्रत्यक्षकरण और अनुमान द्वारा भलीभाँति रोगों की जानकारी प्राप्त करें।

(ग) 'द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां—प्रत्यक्षमनुमानं च। एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन'। (च० वि० ८।८३)

ज्ञानियों के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान भेद से केवल दो प्रकार की परीक्षा है और उपदेश द्वारा भी परीक्षा है। किन्तु यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि यह द्विविध परीक्षा उन ज्ञानियों के लिए है, जिन्हें आप्तोपदेशरूप शास्त्रजनित ज्ञान है।

२. 'तस्याङ्गवरमाद्यमागमप्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय'। (सु० सू० १।१६)

महर्षि सुश्रुत ने कहा है कि आयुर्वेद का श्रेष्ठ प्रथम अंग शल्यतंत्र आगम, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान द्वारा अविरुद्ध (विरुद्ध नहीं) कहा जाने वाला धारण करो। आगम का अर्थ आप्तोपदेश है। 'आगम्यते ज्ञायते अनेनेत्यागमः'। (हाराणचन्द्र) अर्थात् इसके द्वारा जाना जाता है। 'आगमः आप्तोपदेशः शब्द इत्यनर्थान्तरम्।' आगम, आप्तोपदेश तथा शब्द पर्यावाचक शब्द हैं।

३. 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'। (न्या० द० १।३)

महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण माना है।

४. 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च'। (सांख्यकारिका-४)

महर्षि कपिल ने दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन इस प्रकार त्रिविध प्रमाण माना है।

५. 'तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि'। (योगदर्शन)

योगदर्शन में प्रमाणों के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं।

इस प्रकार महर्षि चरक ने सत् और असत् परीक्षण के लिए चतुर्विध, रोगविज्ञान के लिए त्रिविध और परीक्ष्य विषयों के परीक्षणार्थ ज्ञानियों के लिए द्विविध, महर्षि सुश्रुत तथा गौतम ने चतुर्विध और कपिल तथा पतञ्जलि ने त्रिविध प्रमाण प्रदर्शित किये हैं। महर्षि चरक ने वादमार्गज्ञान-प्रकरण में आप्तोपदेश स्वरूप ऐतिह्य शब्द का उल्लेख किया है, किन्तु ऐतिह्य का आप्तोपदेश में समावेश हो जाने से उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है। अन्य दार्शनिकों के प्रमाणों के सम्बन्ध में निम्नस्थ मत हैं—

'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चापि साङ्ख्याः शब्दञ्च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवं उपमानञ्च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः'॥

(मानसोल्लास २।१७।२०)

दार्शनिक	प्रमाणों की संख्या
१. चार्वाक	१. प्रत्यक्ष
२. वैशेषिक, बौद्ध तथा जैन	१. प्रत्यक्ष एवं २. अनुमान
३. सांख्य तथा योग	१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान एवं ३. शब्द
४. न्याय	१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द एवं ४. उपमान
५. प्रभाकर मीमांसक	१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द, ४. उपमान एवं ५. अर्थापत्ति
६. भट्ट मीमांसक तथा वेदान्ती	१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द, ४. उपमान, ५. अर्थापत्ति एवं ६. अभाव
७. पौराणिक	१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द, ४. उपमान, ५. अर्थापत्ति, ६. अभाव, ७. सम्भव एवं ८. ऐतिह्य
८. तान्त्रिक	उपर्युक्त आठ एवं ९. चेष्टा
९. अन्य	उपर्युक्त नव के अतिरिक्त परिशेष

त्रिविध प्रमाणों में अष्टविध प्रमाणों का समावेश

इनमें उपमान, अर्थापत्ति, संभव तथा अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के अन्तर्गत, चेष्टा का अनुमान और ऐतिह्य का आप्तोपदेश (शब्द) प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाने से मुख्यतः केवल तीन ही प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण अवशिष्ट रह जाते हैं, जो स्वतंत्र रूप से प्रमाणस्वरूप में व्यवहृत होते हैं।

आयुर्वेद में प्रमाण के सन्दर्भ में परीक्षा

शब्द का व्यवहार

आयुर्वेद में प्रमाण को परीक्षा नाम से कहा गया है। सुश्रुत ने प्रमाण के लिए 'विज्ञानोपाय' शब्द का प्रयोग किया है।[1] जिस प्रकार दर्शनशास्त्र में यथार्थ ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आयुर्वेद में रोग, रोगी, औषध एवं वैद्य के सम्यक् ज्ञान के लिए प्रमाण (परीक्षा) की आवश्यकता होती है। इसमें रोग और रोगी की परीक्षा के बिना चिकित्सा नहीं की जाती है। औषधि की परीक्षा के बिना उसका प्रयोग हानिकर सिद्ध हो सकता है।

महर्षि चरक ने कहा है कि सद् एवं असद् की परीक्षा चार प्रकार से करनी चाहिए—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति।[2] चरक ने एक अन्य प्रकरण में ज्ञानवान् व्यक्ति के लिए दो प्रकार की परीक्षा कही है[3]।

प्रमाण ज्ञान का महत्त्व

प्रमाण का अर्थ है—असंदिग्ध ज्ञान। ज्ञान एक व्यक्ति की अपनी चेतना की एक विशेष स्थिति के द्वारा होता है। जितना ही यन्त्र शुद्ध होगा, उतना ही ज्ञान शुद्ध होगा। प्रयोगशालाओं के आधुनिक उपकरण केवल इन्द्रियों की सीमाओं को बढ़ा देते हैं। उसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं करते। यदि इन्द्रिय में दोष है, तो उपकरण जन्य ज्ञान भी दोषपूर्ण होगा। यही बात मन के बारे में समझनी चाहिए। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान की शुद्धता एवं अशुद्धता के बारे में निर्णय अन्तःकरण द्वारा ही होता है। भारतीयों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान को निर्दोष नहीं माना है। आँख निन्यानबे बार सही देख सकती है, लेकिन सौवें बार में ठूँठ में पुरुष की भ्रान्ति पैदा कर देती है। इसलिए गणित की प्रक्रियाओं में सांख्यिकी को ०·९९९ तक शुद्ध माना गया है, किन्तु पूर्णतया

---

१. सु० सू० १०।३।

२. द्विविधमेव खलु सर्वं सच्चासच्च। तस्य चतुर्विधा परीक्षा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं युक्तिश्चेति। (च० सू० ११।१७)

३. द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च। (च० वि० ४।३)

शुद्ध उसको भी नहीं माना जा सकता। आजकल जो अनुसन्धान हो रहा है उसमें अन्वेषणकर्त्ता के Subjective View को पूरी तरह निरस्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा गया है—'Observer is participater' अर्थात् गणित एवं भौतिकी के कोई भी सिद्धान्त व्यक्ति की चेतना के संस्पर्श से अछूते नहीं रखे जा सकते। इसीलिए प्रयोगशालाओं के निष्कर्ष न केवल बाह्य परीक्षणों के आँकड़ों पर आश्रित हैं, अपितु प्रयोगकर्त्ता की चेतना से भी रंगे हुए होते हैं। इसीलिए भारतीयों ने तत्त्व को न केवल बाहर और न केवल अन्दर, परन्तु उभयविध सर्वसामान्य बतलाया है।

वस्तुतः अन्दर बाहर के भेद का निरस्तीकरण ही मोक्ष है। इसीलिए भारतीय दर्शनों में कहा गया है कि शरीर और मन को अधिक से अधिक शुद्ध करो, क्योंकि वही व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ से साध्य है। समष्टि रूप से बाह्य जगत् की सत्ता बनी ही रहेगी। अर्थात् मोक्ष व्यक्तिगत उपलब्धि है। इसीलिए भारतीय दर्शन को आध्यात्म मूलक कहा गया है, जो उचित ही है।

एकादश अध्याय

आप्तोपदेश अथवा शब्द प्रमाण

'त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते'। (च० वि० ४।५)

इस त्रिविध ज्ञान समुदाय में प्रथम ज्ञान आप्तोपदेश से होता है। तदनन्तर प्रत्यक्ष और अनुमान से परीक्षा सम्पन्न होती है। इस प्रकार महर्षि ने प्रमाणों के मध्य आप्तोपदेश को ही प्रथम स्थान दिया है और सूत्रस्थान के ग्यारहवें अध्याय में भी प्रमाणों का उल्लेख करते हुए प्रथम आप्तोपदेश का ही विवेचन किया है।

यथार्थज्ञानी एवं यथार्थवादी पुरुष को आप्त कहते हैं। आप्त पुरुष द्वारा कहा गया वचन आप्तोपदेश कहा जाता है। वह प्रामाणिक होने से प्रमाण माना जाता है। अतः आप्तोपदेश प्रमाण है और यही शब्द प्रमाण है। आप्तोपदेश के निम्नांकित पर्यायवाचक शब्द हैं—

१. आप्तोपदेश।
२. आप्त वचन।
३. आप्त श्रुति।
४. शब्द।
५. आगम।

आप्तस्वरूप तथा आप्तोदेश लक्षण

१. आप्तास्तावत्—

'रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः'॥

(च० सू० ११।१८-१९)

महर्षि चरक ने प्रथम आप्त का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो अपनी तपश्चर्या जनित ज्ञान के बल से रजोगुण एवं तमोगुण इन दोनों दोषों से निःशेषरूप से निर्मुक्त हैं, जिनको भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल विमल हैं, अर्थात् जिन्हें तीनों कालों का ज्ञान है, जो त्रिकालज्ञ हैं एवं जिनका ज्ञान सदा

अव्याहत आकुण्ठित है, वे ही आप्त, शिष्ट तथा विबुद्ध (पण्डित) हैं। उनके वचन निस्संदेह अर्थात् निश्चित रूप से सत्य हैं। कारण यह है कि वे रजोगुण तथा तमोगुण इन दोनों दोषों से निर्मुक्त होने के कारण असत्य भाषण क्यों करेंगे, अर्थात् वे सत्य भाषण ही करेंगे। इस प्रकार आप्त और आप्तोपदेश (शब्दप्रमाण) दोनों के लक्षण प्रतिपादित हुए। आप्तोपदेश जनित जो ज्ञान होता है, वही प्रमाण जानना चाहिए।

'ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्' जिसके द्वारा जाना जाता है, वह ज्ञान है। ज्ञान प्रमाण है। महर्षि चरक ने आप्तोपदेश का निरूपण यद्यपि सूत्रस्थान के ग्यारहवें अध्याय में प्रतिपादित किया है, तथापि प्रकरणवशात् विमानस्थान में उन्होंने पुनः कहा है। रोगों का विशेष ज्ञान प्राप्त करने से लिए आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान, इस प्रकार त्रिविध प्रमाण ही यहाँ माना है।

२. 'तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च। तेषामेवंगुणयोगाद् यद्वचनं तत्प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खरक्तदुष्टादुष्टवचनमिति'। (च० वि० ४।४)

अर्थात् जो निश्चित रूप से समग्रतया सकल पदार्थों को जानते हैं और जो निष्प्रीति तथा निरूपता से किसी विषय को देखते हैं, अर्थात् यथार्थदर्शी हैं, वे आप्त हैं। इन गुणों के होने से उनके जो वचन होते हैं, वे प्रामाणिक होते हैं और वे प्रमाण स्वरूप में व्यवहृत होने से प्रमाण हैं। मत्त, उन्मत्त, मूर्ख तथा रागादि दोषों से युक्त दुष्टादुष्ट पुरुषों के वचन अप्रामाणिक होने से अप्रमाण हैं। दुष्टादुष्ट का अर्थ इस प्रकार है—'दुष्टश्चासावदुष्टश्चेति दुष्टादुष्टः, तेन पिता हि पुत्रस्य दुष्टोऽप्यदुष्टत्वादाप्त एव भवति, किं वा दुष्टो वञ्चकः'। (चक्रपाणि)। दुष्ट है और यही अदुष्ट है, यह दुष्टादुष्ट हुआ। इस प्रकार पुत्र का पिता दुष्ट भी अदुष्ट होने से आप्त ही होता है अथवा दुष्ट अर्थात् वञ्चक।

३. 'स्वकर्मण्यभियुक्तो यः रागद्वेषविवर्जितः।
निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः'॥
(सांख्यकारिका-५ टीका; श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी)

अर्थात् जो अपने कर्म में लगे हों, राग-द्वेष से रहित हों, किसी से शत्रुता नहीं रखते हों और सत्पुरुषों द्वारा पूजित हों, ऐसे लोगों को 'आप्त' समझना चाहिए।

४. 'आप्तश्रुतिः आप्तवचनं तु'। (सांख्यकारिका–५)

'आप्ता चासौ श्रुतिः आप्तश्रुतिः वेदतन्मूलकस्मृतीतिहासपुराणदिज्ञानम्। यद्वा श्रूयते या सा श्रुतिः श्रवणविषयीभूतः शब्दः आप्ता यथार्था श्रुतिः आप्तश्रुतिः आप्तवचनम्'।
(संस्कृत-टीका; श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी)

'आप्तश्रुति' आप्त वचन है। आप्त यह श्रुति आप्तश्रुति हुई। आप्तश्रुति वेद-मूलक स्मृति-इतिहास-पुराण विज्ञान है अथवा जो सुना जाता है, वह श्रुति है। वह श्रवण विषयक शब्द हैं। आप्ता अर्थात् यथार्था श्रुति आप्त वचन है। आप्त पुरुष के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान शब्दप्रमाण है, यही इसका अर्थ है।

५. 'आप्तोपदेशः शब्दः'। (न्या० द० १।७)

आप्तपुरुषों का उपदेश 'शब्द' प्रमाण है।

६. 'आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः, यथा गामानयेति। शक्तं पदम्। अस्मात् पदादयमर्थोः बोद्धव्यः इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः'।

(तर्कसंग्रह)

यथार्थ बोलने वाले 'आप्त' कहे जाते हैं और उनका वाक्य शब्द नामक प्रमाण है। पदों का समूह वाक्य है। जैसे गाय को लाओ। यह कई पदों का समूह एक वाक्य हुआ। पद शक्ति-सम्पन्न होते हैं। जिसमें शक्ति होती है, वह पद कहा जाता है। यह ईश्वर संकेत (इच्छा) है। इस प्रकार 'ईश्वर-संकेत' शक्ति है। यह पद-शक्ति विवेचन आगे किया गया है।

दृष्टादृष्ट एवं लौकिक-अलौकिक भेद

'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्'। (न्या० द० १।८)

यह शब्दप्रमाण दो प्रकार का है। एक दृष्टार्थ और दूसरा अदृष्टार्थ। अर्थात् जिस शब्द का अर्थ इस लोक में दिखलायी पड़े, अर्थात् प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत हो, वह दृष्टार्थ और जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत न हो, जैसे ईश्वर सम्बन्धित विषय, वह अदृष्टार्थ है।

'आप्तोपदेशशब्दस्तु द्विविधः—परमाप्तब्रह्मादिप्रणीता तथा लौकिकाप्तप्रणीताश्च'। (चक्रपाणि)

चक्रपाणि ने आप्तोपदेश 'शब्द' को दो प्रकार का कहा है—

१. परमाप्तब्रह्मादि प्रणीत—जैसे वेदादि; इसे अलौकिक आप्त द्वारा प्रणीत समझना चाहिए।

२. लौकिकाप्त प्रणीत—जो 'रजस्तमोभ्याम्' लक्षण द्वारा प्रतिपादित है। इस प्रकार शब्दप्रमाण लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का माना गया है।

ऐतिह्य (इतिहास) प्रमाण

'अथैतिह्यम्—ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः'। (च० वि० ८।४१)

आप्तों के जो उपदेश हैं, उन्हें ऐतिह्य कहते हैं, जैसे—वेदादि। यहाँ आदि शब्द से स्मृति-पुराणादि गृहीत हैं। आप्तोपदेश अलौकिक-लौकिक भेद से दो प्रकार का

है। वेदादि अलौकिक है। 'अलौकिकाप्तोपदेश ऐतिह्यपदेनोच्यते'। (चक्रपाणि) चक्रपाणि ने जो अलौकिक आप्तोपदेश वेदादि हैं, उसे 'ऐतिह्य' शब्द से कहा है।

ऐतिह्य का अर्थ—इति–ऐसा, हा–निश्चयपूर्वक ऊचुः–कहा है, वृद्धाः–बड़ों ने। अर्थात् बड़ों ने ऐसा निश्चयपूर्वक कहा है। इस प्रकार ऐतिह्य वंशानुवंशक्रम से चली आ रही एक परम्परा है। इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह परम्परा कब से चली आ रही है। इसका कारण किसी को विदित नहीं है। परन्तु यह बात अवश्य है कि बहुत-सी धारणाएँ ऐतिहासिक रूप से चली आ रही परम्पराओं पर ही अवलम्बित रहती हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता है कि वह यथार्थ या अयथार्थ किस रूप की परम्परा है, किन्तु पौराणिक लोग इसे भी प्रमाण रूप में मानते हैं। इस प्रकार ऐतिह्य से उसके तीनों स्वरूप—१. अलौकिक आप्तोपदेश, २. स्मृति-पुराणादि एवं ३. परम्परागत ज्ञान जो यथार्थ अथवा अयथार्थ किसी रूप में हैं, सामने आते हैं ऐतिह्य आप्तोपदेश प्रमाण के अन्तर्गत हैं।

शास्त्र-लक्षण

महर्षि चरक ने विमानस्थान के आठवें अध्याय के आरम्भ में ही—जिस प्रकार का शास्त्र वैद्य होने की इच्छा रखने वाले लोगों को अध्ययन करना चाहिए—बतलाते हुए प्रतिपादित किया है, वह इस प्रकार है—

'तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्विधीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनपूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशब्दमकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं सङ्गतार्थमसङ्कुलप्रकरणमाशुप्रबोधकं लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्'।

(च० वि० ८।३)

लोक में अनेक प्रकार के शास्त्र प्रचलित हैं, किन्तु उनमें जो निम्नस्थ गुणों से युक्त हों, उन्हीं शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए—

१. सुमहद् यशस्विधीरपुरुषासेवितम्—महान् यशस्वी एवं धीर पुरुषों अर्थात् शिष्ट पुरुषों द्वारा आसेवित (परिशीलित)।

२. अर्थबहुलम्—बहुत अधिक विषयों से युक्त।

३. आप्तजनपूजितम्—शिष्ट पुरुषों द्वारा पूजित अर्थात् अनुमत।

४. त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्—उत्कृष्ट, मध्य तथा अल्प बुद्धि भेद से उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के शिष्य होते हैं। उन तीनों प्रकार के शिष्यों के लिए बोधगम्य हो।

५. अपगतपुनरुक्तदोषम्—पुनरुक्तदोष से रहित।

६. आर्षम्—ऋषि-प्रणीत।

७. सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहकम्—जिसमें सूत्र, भाष्य एवं संग्रहक्रम सुष्ठ रूप में किया हो।

८. स्वाधारम्—सुष्ठु आधार युक्त अर्थात् सुन्दर अर्थ युक्त।

९. अनवपतितशब्दम्—अग्राम्य शब्दयुक्त अर्थात् जिसमें टूटे-फूटे-भद्दे एवं निकृष्ट शब्द का प्रयोग न हुआ हो।

१०. अकष्टशब्दम्—जिनके उच्चारण एवं बोध में कष्टकर शब्द न हो।

११. पुष्कलाभिधानम्—जहाँ पुष्कल अर्थात् प्रशस्यतर (श्रेष्ठतर) अभिधान हो, अर्थात् जिसमें विषय का प्रतिपादन विस्तार रूप में किया गया हो।

१२. क्रमागतार्थम्—जहाँ यथाक्रम विषय निर्दिष्ट हो।

१३. अर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानम्—वस्तु तत्त्व के विषय रूप से निश्चय करने में जो प्रधान हो।

१४. सङ्गतार्थम्—जहाँ संगति-पुरस्सर विषय प्रतिपादित हो।

१५. असङ्कुलप्रकरणम्—जिसमें मिश्रीभूत प्रकरण न हो, अर्थात् एक प्रकरण का विषय दूसरे में और दूसरे का अन्य में न कहा गया हो।

१६. आशुप्रबोधकम्—शीघ्र अर्थ बोधजनक।

१७. लक्षणवत्—लक्षणयुक्त।

१८. उदाहरणवत्—उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त युक्त।

चरकोपस्कार में सुमहत् के स्थान पर 'महत्' पाठ है। वहाँ 'महत्' को शास्त्र का एक पृथक् ही लक्षण कहा गया है। महत् अर्थात् बड़ा हो, संक्षिप्त न हो तथा सभी स्थानों से युक्त हो।

निघण्टु

यास्काचार्य ने मन्त्रों की व्याख्या समझाने के लिए निरुक्त की रचना की है। उसमें वेद मन्त्रों में आये हुए प्रत्येक शब्द की सूक्ष्मतया जो व्याख्या की गयी है, वही व्याख्या तथा उस शब्द के लिए तदर्थ वाचक अन्य शब्द जो संगृहीत हुए हैं, वे ही सब निघण्टु हैं। सामान्यतः निघण्टु शब्द पर्यायवाचक शब्दों के लिए ही प्रयुक्त होता है। जैसे आयुर्वेद में भी निघण्टु ग्रन्थ जैसे 'शालिग्राम निघण्टु' आदि हैं। निरुक्त में आचार्य ने प्रदर्शित किया है कि वेदों में जितने शब्द आये हुए हैं, सभी अर्थ पूर्ण हैं। वैदिक शब्द-समुदाय को सामाम्नाय कहते हैं। समाम्नाय का तात्पर्य यह है कि सम्यक्तया मर्यादापूर्वक ज्ञान किया जाना।

निघण्टु के सम्बन्ध में यास्काचार्य के वचन निम्न प्रकार हैं—

'ॐ समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं निघण्टवः इत्याचक्षते। निघण्टवः कस्मात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्वयः'।

समाम्नाय अर्थात् वैदिक शब्दों का समुदाय जिनका सम्यक्तया एवं मर्यादापूर्वक ज्ञानोपार्जन किया जाय, यह व्याख्येय है। इसी समाम्नाय को निघण्टु कहते हैं। यह निगम होते हैं। अर्थात् निश्चयपूर्वक गूढ़ अर्थों के ज्ञानपरक होते हैं। वे छन्दों से संगृहीत निश्चयपूर्वक ही ज्ञानपरक होते हुए निगमन अर्थात् मंत्रार्थ-बोधपरक से निघण्टु कहे जाते हैं। यह औपमन्यव मानते हैं। निगमन के अतिरिक्त आहनन अथवा समाहत अथवा समाहृत भी निघण्टु कहे जाते हैं। यास्काचार्य ने कहा है—

'अपि वा आहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति, यद्वा समहृता भवन्ति'।

'आहननात्' सम्यक्तया मर्यादापूर्वक जो पढ़ा जाये अथवा समाहत अथवा 'समाहृत' वे शब्द जो छन्दों से संगृहीत कर प्रतिपादित किये जाते हैं, निघण्टु कहे जाते हैं।

इस प्रकार यास्काचार्य ने वैदिक शब्दों का संग्रह एवं उनका निर्वचन किया है। सभी शब्द-समुदाय का निरूपण निर्वचन कर ही किया है। उनके विचार से कोई शब्द बिना निर्वचन के नहीं होता। निर्वचन द्वारा ही शब्दों का अर्थपूर्ण परिज्ञान होता है। निघण्टु के संस्कृत व्याख्याकार श्री दुर्गाचार्य कहते हैं—

'निघण्टवः कस्मात्। निगमनात्, निगमाः इमे भवन्ति। निश्चयेन अधिकं वा निष्कृष्य निगूढार्थाः एते (निघण्टवः) परिज्ञाताः सन्तः मन्त्रार्थान् गमयन्ति ज्ञापयन्ति (इति ते निगमाः)'।

निघण्टु किस प्रकार का, क्यों तथा कैसे ? निगमन से, ये निगम होते हैं। निगम क्या हैं ? निश्चयपूर्वक अथवा अधिक निगूढ़ अर्थात् अन्तर्हित अर्थ को निकाल कर यह निघण्टु परिज्ञात होता हुआ मन्त्रार्थ का बोध कराता है, ज्ञापन करता है इसलिए यह निगम है।

शब्द-विवेचन एवं शब्द-प्रकार

शब्द आकाश का गुण है। इसका ज्ञान श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है। ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक भेद से यह दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक शब्द वह है, जिसमें केवल ध्वनि का ज्ञान होता है, जैसे—ढोल आदि वाद्य यन्त्रों की ध्वनि और जिसमें कण्ठ, तालु आदि के संयोग से स्वर और व्यंजनों का स्पष्ट उच्चारण होता है, उसे वर्णात्मक कहते हैं। वर्णात्मक शब्द भी सार्थक और निरर्थक भेद से दो प्रकार का होता है। सार्थक शब्दों में जिस अर्थ के लिए वे प्रयुक्त होते हैं, उसे प्रकट करने की शक्ति होती है, जिससे उसी का ग्रहण होता है। इनमें यह शक्ति किस प्रकार प्राप्त होती है, इस विषय का विवेचन आगे किया गया है।

चरकोक्त शब्द, लक्षण एवं प्रकार

'अथ शब्दः—शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विधः—दृष्टार्थश्च, अदृष्टार्थश्च सत्यश्च, अनृतश्चेति'। (च० वि० ८।३८)

'वर्णसमाम्नाय इति वर्णमेलक इत्यर्थः'। (चक्रपाणि)

शब्द वर्णमेलक है। वर्णमेलक अर्थात् वर्ण को जो मिलाता है। वह शब्द चार प्रकार का है—

१. दृष्टार्थ।
२. अदृष्टार्थ।
३. सत्य।
४. अनृत।

१. दृष्टार्थ—जैसे प्रज्ञापराधादि तीनों कारणों से दोष प्रकुपित होते हैं। लंघनादि षट् उपक्रमों से वे शांत होते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों के रहने पर शब्दादि विषयों का ज्ञान होता है। उक्त वाक्यों में वर्णित विषय देखे जाते हैं। अतः यह दृष्टार्थ हैं।

२. अदृष्टार्थ—मृत्यु पश्चात् जन्म होता है, मोक्ष होता है।

३. सत्य—जो यथार्थ भूत है, जैसे आयुर्वेदोपदेश है। साध्य रोगों की सिद्धि के उपाय हैं। आरम्भ किये गये कार्य का फल होता है।

४. अनृत—यह सत्य के विपरीत है। अर्थात् सत्य से विपरीत जो होता है, उसे अनृत (झूठ) कहते हैं।

वाक्यार्थबोधक वृत्तियाँ

वाक्यार्थबोधक कुल चार वृत्तियाँ होती हैं—

१. अभिधा।
२. लक्षणा।
३. व्यञ्जना।
४. तात्पर्याख्या।

१. अभिधा—अभिधा शब्द अभिपूर्वक 'धा' धातु से बनता है। पद का अपने अर्थ को, जो उसमें निहित है, सीधा प्रकट करना अभिधा है। जैसे—राम आज जाता है। इस वाक्य से राम के आज जाने का सीधा जो अर्थ है, वही प्रकट होता है, अन्य अर्थ नहीं।

२. लक्षणा—'लक्ष्यते अनया इति लक्षणा'।

कभी-कभी ऐसा होता है कि पद का उसकी निरुक्ति से जो अर्थावबोध होना चाहिए, वह न होकर दूसरे अर्थ का अवबोध होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। अर्थात् किसी वाक्य के उच्चारण करने पर उस वाक्य का जो सीधा अर्थ होता है, उसका

अवबोध नहीं होता और श्रोता उसके अर्थ से वंचित रह जाता है और लक्षणा वृत्ति से अवबोध कराया जाता है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' यहाँ गंगा पर कुटी है, यह सीधा वाक्यार्थ है। परन्तु यह अर्थ न होकर 'गङ्गा समीप' तट का अर्थ लिया जाता है। यह शक्ति 'अर्पित' अर्थात् कल्पित (या अमुख्य) है।

३. व्यञ्जना—'व्यञ्ज्यते अनया इति व्यञ्जना'।

वृत्ति नाम सम्बन्ध है। व्यञ्जना यह तृतीय शब्द वृत्ति है। न्यायवेत्ता इसे लक्षणान्तर्भूत मानते हैं। यह व्यङ्ग्यार्थबोधक है। जहाँ अभिधा और लक्षणा दोनों शक्तियों द्वारा श्रोता को वाक्यार्थ का बोध न होकर व्यञ्जना शक्ति द्वारा अर्थावबोध होता है, वह व्यङ्ग्यात्मक व्यञ्जना वृत्ति है। जैसे कोई बालक पूरे दिन खेलने के पश्चात् घर जाकर अपनी माँ से खाने के लिए रोटी माँगता है और उत्तर में माता क्रोधयुक्त हो कहती है 'आ मैं तुझे रोटी दूँगी' इस वाक्य को सुनते ही वह लड़का अपने मन में वाक्य के अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरा ही विचित्र अर्थ समझ माता से दूर भागता है कि माता दिनभर खेलने के कारण रोटी न देकर मुझे मारेगी। इस प्रकार माता के रोटी देने वाले वाक्य से मारने को जो अर्थ निकलता है, वह व्यङ्ग्यार्थ कहा जाता है। यह व्यङ्ग्यार्थ वाक्य की अभिधा शक्ति और लक्षणा शक्ति से प्रकट नहीं होता। यहाँ वाक्यार्थ का अवबोध कराने वाली तीसरी शक्ति 'व्यञ्जना वृत्ति' ही होती है।

४. तात्पर्याख्या वृत्ति—कुछ शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं और वे सभी मुख्य अर्थ होते हैं। किसी अवसर पर जब ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जो अनेकार्थ बोधक हों, वहाँ श्रोता किस अर्थ का अवबोध करे, यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है, क्योंकि यहाँ अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीनों शक्तियों से अर्थावबोध नहीं होता, उस दशा में तात्पर्याख्या नामक वृत्ति से अर्थावबोध किया जाता है। जैसे—भोजन-वेला में 'सैन्धवमानय' यह कहने पर सैन्धव शब्द से घोड़ा न समझ वक्ता के कथन के तात्पर्य की ओर ध्यान देकर सैन्धव लवण ही शब्दार्थ अथवा वाक्यार्थ समझा जाता है।

वाक्य-स्वरूप

'वाक्यं त्वाकाङ्क्षायायोग्यतासन्निधिमतां पदनां समूहः'। (तर्कभाषा)

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्यार्थ ज्ञान हेतु

वाक्यार्थ ज्ञान के लिए तीन प्रकार के हेतु होते हैं—

१. आकांक्षा।

२. योग्यता।

३. सन्निधि।

१. आकांक्षा—वाक्यार्थ बोध के लिए कई पद कहे जाने पर भी जब वाक्यार्थ का ठीक अवबोध नहीं होता है और इस हेतु एक पद को दूसरे पदों से सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता अर्थात् परस्पर अपेक्षा बनी रहती है, उसे आकांक्षा कहते हैं। जैसे—राम और श्याम जाते हैं। यहाँ मात्र राम और श्याम कहने से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता, जब तक कि 'जाते हैं' यह नहीं कहा जाता है।

२. योग्यता—'अर्थस्य अबाधः योग्यता'। (तर्कसंग्रह)

अर्थ की अबाधः योग्यता है, अर्थात् अर्थ का बाधित न होना। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' आग से सींचता है। इस सिंचन क्रिया में आग की यह योग्यता नहीं है कि वह सिंचन करे। यहाँ 'जलेन सिञ्चति' अर्थात् जल से सींचता है, ऐसा वाक्य कहना चाहिए। इस प्रकार पदों में अर्थ प्रकट करने की योग्यता होती है, जो अपना अर्थ प्रकट करते हैं। अतः जिस अर्थ को प्रकट करने में जो पद समर्थ हो, उसका ही वहाँ उपयोग होना चाहिए।

३. सन्निधि—'पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः'। (तर्कसंग्रह)

पदों का बिना विलम्ब किये अर्थात् शीघ्रता से उच्चारण करना ही सन्निधि है। जैसे—श्याम विद्यालय जाता है। जहाँ 'श्याम' कहकर कुछ समय पश्चात् 'जाता है' कहा जाय, तो रुक-रुक कर कहने के कारण व्यवधान पड़ जाता है। इस व्यवधान के कारण असन्निधि होने से सुनने वालों को ठीक-ठीक अर्थ का अवबोध नहीं हो पाता है।

वाक्यार्थ ज्ञान का चौथा कारण तात्पर्य ज्ञान भी मुक्तावलीकार ने माना है। वक्ता की इच्छा तात्पर्य है। प्रकरणवशात् तात्पर्य ज्ञान होता है। जैसे सैन्धव का अर्थ 'अश्व' और 'सेंधा लवण' दोनों है। भोजन के समय सैन्धव प्रयोग से सेंधा लवण समझना चाहिए।

इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से रहित वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते हैं।

शक्तिग्रह

पद अपनी पदनिष्ठ शक्ति के अनुसार किसी निश्चित अर्थ को प्रकट करते हैं। उस पद-शक्ति की प्राप्ति के जो साधन हैं, उन्हीं को शक्तिग्रह कहते हैं।

'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषात् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः'॥

बड़े लोगों का कथन है कि सिद्धपद—१. व्याकरण, २. उपमान, ३. कोष, ४. आप्तवाक्य, ५. व्यवहार, ६. वाक्यशेष, ७. विवृति (विवरण) और ८. सान्निध्य से शक्ति-ग्रहण करते हैं।

१. व्याकरण—धातु, प्रकृति और प्रत्यय का शक्तिग्रह ज्ञान व्याकरण से होता है।

२. उपमान—किसी वस्तु की दूसरी प्रसिद्ध वस्तु से तुलना उपमान है।

३. कोष—समान अर्थ वाले पदों का शक्तिग्रह ज्ञान कोष से होता है।

४. आप्त वाक्य—आप्त पुरुषों के वाक्य से भी शक्तिग्रह का ज्ञान होता है। यह ज्ञान बालकों को अपने बड़ों के मुख से उच्चारित शब्दों के सुनने और उनके व्यवहार से होता है।

५. व्यवहार—अपने बड़ों के व्यावहारिक कार्य को देखकर शक्तिग्रह का ज्ञान होता है।

६. वाक्यशेष—वाक्यशेष उस वाक्य को कहते हैं, जो एक वाक्यगत अज्ञात-शक्तिक पद का अर्थ समझने के लिए अन्यत्र प्रयुक्त होता है। जैसे—

'वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः'॥

इस पिछले वाक्य से जौ ही लिया जाता है, क्योंकि वसन्त में वही फलता है।

७. विवृति—सामान्य अर्थ वाले पद के किसी अर्थ से पद को बतलाना विवरण है। उदाहरणस्वरूप 'पचति' का अर्थ है—'पाकं करोति'। यहाँ पाक करने के अर्थ में शक्तिग्रह है।

८. सान्निध्य—प्रसिद्ध पद के पास रहने से भी शक्तिग्रह होता है। जैसे—'सहकारे मधूनि पिबति' अर्थात् आम के वृक्ष पर मधु पीता है। यहाँ पर मधूनि इस पद से मधुकर भ्रमर के अर्थ में शक्तिग्रह हुआ है।

अनेकार्थक जो पद हैं उनका अर्थावबोध निम्नलिखित आधार पर होता है। ये सब शब्दार्थ के सन्देह होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते हैं।

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः'॥

१. संयोग, २. विप्रयोग, ३. साहचर्य्य, ४. विरोधिता, ५. अर्थ, ६. प्रकरण, ७. लिङ्ग, ८. अन्यशब्दसन्निधि, ९. सामर्थ्य, १०. औचिती, ११. देश, १२. काल, १३. व्यक्ति और १४. स्वर।

१. संयोग—अनेकार्थवाचक शब्दों के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। जैसे—हरि के अर्थ अनेक हैं, परन्तु वह 'सशङ्खचक्रो हरिः' यह कहने पर विष्णु का ही बोधक होता है।

२. विप्रयोग (वियोग)—जहाँ संयोग होता है, वहाँ ही वियोग होता है। जैसे 'अशङ्खचक्रो हरिः' यह कहने पर भी हरिपद वियोग के कारण विष्णु का बोधक है।

३. साहचर्य्य—साहचर्य्य का अर्थ साथ रहना है। जैसे—भीम पद का अर्थ 'भयानक' और अर्जुन पद का अर्थ 'अर्जुन वृक्ष' है। परन्तु 'भीमार्जुनौ' कहने पर पाण्डवों का बोध होता है।

४. विरोधिता—प्रसिद्ध विरोध को विरोधिता कहते हैं। जैसे—'कर्णार्जुनौ' कहने पर कर्ण शब्द से कान का अवबोध न होकर सूतपुत्र कर्ण का बोध होता है।

५. अर्थ—प्रयोजन को अर्थ कहते हैं और चतुर्थी विभक्ति आदि से उसका ज्ञान होता है। जैसे—स्थाणु पद का अर्थ खम्भा और शिव दोनों है, किन्तु 'स्थाणु वन्दे भवच्छिवे' कहने पर स्थाणु शब्द से शिवजी का अवबोध होता है, खम्भा नहीं।

६. प्रकरण—प्रकरण से भी अर्थावबोध होता है। वक्ता और श्रोता की बुद्धिस्थता को प्रकरण कहते हैं। 'सर्वं जानाति देवः' यहाँ देव पद का अर्थ प्रकरण गत राजा है।

७. लिङ्ग—जैसे मकरध्वज का अर्थ समुद्र भी है, परन्तु 'कुपितो मकरध्वजः' यहाँ मकरध्वज से कामदेव का ही ग्रहण होता है, क्योंकि कोपरूप लिङ्ग समुद्र में नहीं रहता।

८. अन्यशब्दसन्निधि—जैसे पुर का अर्थ देह भी है, किन्तु देव के सन्निधान से पुरारि का अर्थ शंकर ही है, न कि देहादि।

९. सामर्थ्य—मधु पद का दैत्य, वसन्त तथा मद्य आदि अनेक अर्थ हैं, परन्तु कोकिल को मस्त करने का सामर्थ्य वसंत में ही है। अतः 'मधुना मत्तः पिकः' यहाँ मधु पद से वसंत का ही ग्रहण होता है।

१०-१२. औचिती, देश एवं काल—औचिती का अर्थ योग्यता है। चन्द्र का अर्थ कपूर आदि भी है, परन्तु 'विभाति गगने चन्द्रः' यहाँ चन्द्रमा का ही बोध होता है, क्योंकि आकाश देश में वही रहता है। 'निशिचित्रभानुः' यहाँ चित्रभानु का अर्थ अग्नि है, सूर्य नहीं, क्योंकि रात्रिकाल में सूर्य नहीं रहता।

१३. व्यक्ति—व्यक्ति का अर्थ स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग आदि व्यक्ति है। 'भाति-रथाङ्गम्' में नपुंसकता के कारण पहिए का ही ग्रहण होता है, चक्रवाक का नहीं।

१४. स्वर—उदात्तादिक वेदों में ही विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं। जैसे वृत्रशत्रु में पूर्वपद प्रकृति स्वर बहुव्रीहि और अन्तोदात्त तत्पुरुष समास का निर्णायक है।

तर्कसंग्रह के अनुसार शाब्दज्ञान

'वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम्। तत्करणं तु शब्दः'। (तर्कसंग्रह)

वाक्यार्थ का ज्ञान शाब्द ज्ञान कहा जाता है। शाब्दज्ञान का पर्याय शाब्दबोध है। शाब्दज्ञान का करण (असाधारण कारण) शब्द है। इस प्रकार शब्द ही शब्द-प्रमाण है।

आप्तोपदेश-प्रमाण के सम्बन्ध में विपक्ष मतावलम्बियों के मत

वैशेषिक, जैन तथा बौद्धमतावलम्बी दार्शनिक आप्तोपदेश को स्वयं प्रमाण न स्वीकार कर अनेक युक्तियों द्वारा उनका खण्डन करते हैं और प्रमेय की सिद्धि अन्य प्रमाणों से करते हैं। इसी प्रकार 'दिङ्नाग' का तर्क है कि आप्त लोगों को जब कभी भी कोई ज्ञान होगा, वह प्रत्यक्ष तथा अनुमानमूलक ही होगा। कारण यह है कि बिना इन दोनों प्रमाणों के कोई भी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होगा। फलतः प्रत्यक्षानुमान से भिन्न किसी अन्य प्रमाण की सत्ता स्वीकार करने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। इस प्रकार शब्दप्रमाण विरोधियों का तर्क है, परन्तु इनका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि संसार में ऐसे बहुत से तत्त्व, ऐसी बहुत सी घटनाएँ तथा सृष्टि के उदय एवं लय की प्रक्रिया में धर्माधर्म, दैव-पुनर्भव, मोक्ष एवं स्वर्ग की सिद्धि आदि हेतु अनेक सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनकी सिद्धि प्रत्यक्ष के ही आधार पर कथमपि सम्भव नहीं है। जहाँ तक अनुमान का प्रश्न है, अनुमान प्रत्यक्ष पर ही आश्रित है, यह प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। अतः यह भी उक्त सिद्धि में सामर्थ्यहीन है। इसके अतिरिक्त अति सूक्ष्म एवं अव्यक्तादि भावों की सिद्धि तथा उनका ज्ञान स्थूल साधनों से किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यह आप्तोपदेश से ही होता है। इस प्रकार आप्तोपदेशप्रमाण प्रमाणों में मुख्य एवं सर्वथा ग्राह्य है। अदृष्ट विषयों का ज्ञान आप्तोपदेश द्वारा ही होता है। न्यायशास्त्र, सांख्यशास्त्र आदि ने शब्द को स्वतंत्र प्रमाण माना है। इसके साथ ही यह तो सर्वथा निर्विवाद है कि वेदशास्त्र के वचन न प्रत्यक्ष में आते हैं और न ही अनुमान में। अतः शब्द-प्रमाण एक पृथक् प्रमाण है।

आयुर्वेद में शब्द-प्रमाण की उपयोगिता

आयुर्वेद एक ऐसा विषय है जिसमें शब्द-प्रमाण का बहुत बड़ा उपयोग है। इसके प्रत्येक विषय के ज्ञान के लिए शब्द प्रमाण आवश्यक है। चार प्रकार की जो आयु है, उसके हिताहित ज्ञान के लिए शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा के संयोग स्वरूप जो आयु है, उसके ज्ञान के लिए इसी प्रकार जीवन-मरण, सुख-दुःख, स्वर्ग, मोक्ष आदि सभी विषयों के ज्ञान के लिए 'आप्तोपदेश' की ही पग-पग पर आवश्यकता है। किसी विषय का आप्तोपदेश द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही मनुष्य उसका प्रत्यक्ष रूप से यथार्थ अनुभव प्राप्त करता है और पुनः उस प्रत्यक्ष के आधार पर ही अनुमान कर अपना कार्य-विस्तार करता है। इसी प्रकार आप्तोपदेश द्वारा ही प्रत्येक रोग की उत्पत्ति का कारण, पूर्वरूप, रोग की दारुणता, साध्या-साध्यता, चिकित्सा एवं पथ्यापथ्य का ज्ञान होता है। फलतः आयुर्वेद में आप्तोपदेश प्रमाण की सर्वात्मना उपयोगिता है।

द्वादश अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण

ज्ञानोत्पत्ति—प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानोत्पत्ति है। यह ज्ञान आत्मा, मन, ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ (इन्द्रिय विषयक) इन चतुर्विध हेतुओं के सम्मेलन से उत्पन्न होता है। ज्ञान आत्मा का गुण है, क्योंकि सुख-दुःखादि का ज्ञान आत्मा में होता है, यह आभ्यन्तरिक ज्ञान है। आत्मा, मन, ज्ञानेन्द्रिय तथा बाह्य विषयों का जब सम्बन्ध होता है, उस समय बाह्य पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह बाह्य ज्ञान है। इस प्रकार आभ्यन्तरिक और बाह्य भेद से ज्ञान दो प्रकार का होता है। आभ्यन्तरिक ज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष और बाह्य ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है। यह ज्ञान सत्य और निर्विवाद होता है। इसलिए प्रमाणों के मध्य में प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रथम स्थान है।

प्रत्यक्ष का अर्थ—'प्रति अक्षणः' आँख के सन्निकट (समीप)। 'अक्षमक्षम्प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्' (प्रशस्तपाद भाष्य) चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा त्वक् इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। वह सत्य ज्ञान होता है। अक्ष शब्द से चक्षु तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण होता है। प्रशस्तपाद भाष्य में मन का ग्रहण इस प्रकार किया गया है—'अक्षाणीन्द्रियाणि घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि।' अक्ष शब्द से चक्षु, जिह्वा, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण तथा मन इन्द्रिय है। इस प्रकार प्रति और अक्ष इन दो शब्दों के योग से प्रत्यक्ष शब्द बनता है। प्रति का अर्थ पहले (पूर्व) समीप होता है। अक्ष शब्द से नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण होता है। संयुक्त प्रत्यक्ष शब्द से नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकट इस अर्थ का बोध होता है। सामान्यतः 'साक्षात्' शब्द प्रत्यक्ष पद का भावार्थ है। यह प्रत्यक्ष शब्द कहीं संज्ञा और कहीं विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

१. महर्षि चरक ने प्रत्यक्ष का लक्षण चरकसंहिता में तीन स्थलों पर किया है, जिसमें प्रथम लक्षण सर्वथा परिपूर्ण है—

(क) 'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते'॥ (च० सू० ११।२०)

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ (इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के सम्बन्ध से उस समय तत्काल जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है और वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम आत्मा का सम्बन्ध मन से, मन का इन्द्रिय से, पुनः इन्द्रिय का विषय से होता है और यह सम्बन्ध होते ही तत्काल विषय का ज्ञान हो जाता है। यही सन्निकर्ष स्वरूप है।

(ख) 'प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रयैर्मनसा चोपलभ्यते'। (च० वि० ४।४)

जो स्वयं साक्षात् इन्द्रिय और मन द्वारा प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष है।

(ग) 'अथ प्रत्यक्षं–प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते, तत्रात्म-प्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः, शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षा'। (च० वि० ८।३९)

प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो आत्मा, मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्वयं अर्थात् साक्षात् प्राप्त होता है। आत्मा कहने से मन का भी ग्रहण हो जाता है। सुख-दुःखादि मानस प्रत्यक्ष हैं। शब्दादि ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार चरक के अनुसार मानस इन्द्रिय भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—१. आत्म प्रत्यक्ष अर्थात् मानस प्रत्यक्ष और २. इन्द्रिय प्रत्यक्ष; इनमें इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह बाह्य ज्ञान तथा मन के साहचर्य से होता है। कहा गया है—'इन्द्रियेणे-न्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते'। (च० शा० १।२२)। मन सहित इन्द्रियों से इन्द्रियार्थ ग्रहण किया जाता है।

'या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा'॥ (च० शा० १।३२)

प्राणी को जो ज्ञान जिस इन्द्रिय के आश्रयण से होता है, वह उसी के नाम से प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। जैसे चक्षु से हुआ ज्ञान चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। मन से होने वाला ज्ञान मानसिक ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान भेद से प्रत्यक्ष ज्ञान षट् प्रकार का होता है।

२. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'। (न्यायदर्शन १।१।४)

इन्द्रियाँ और अर्थ इनके संयोग अर्थात् सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान जो अटल, यथार्थ और निश्चयात्मक रूप हो, वह प्रत्यक्ष है।

३. 'प्रत्यक्षमिति यत्किञ्चिदेवार्थस्य साक्षात्कारिकं ज्ञानं तदेव प्रत्यक्षम्'। (डल्हणाचार्य)

जो कुछ विषय का साक्षात्कारिक ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष है।

४. 'तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्'। (तर्कसंग्रह)

प्रत्यक्ष ज्ञान के करण असाधारण कारण अर्थात् साधकतम कारण नेत्र आदि प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

५. 'चक्षुरादिना इन्द्रियेण प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते, इति इन्द्रियं चक्षुरादि प्रत्यक्ष-प्रमाणम्'। (आयुर्वेदीय-पदार्थविज्ञानम् : काशीकरजी)

चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, अतः चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद

यह दो प्रकार का होता है—

१. निर्विकल्पक।

२. सविकल्पक।

१. निर्विकल्पक प्रत्यक्ष—

'तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्। यथा किञ्चिदिदमिति'। (तर्कसंग्रह)

दूर पर स्थित किसी वस्तु का जब हमें दूरस्थ रहने के कारण उसके नाम, प्रकार, जाति, गुण तथा कर्म आदि का ज्ञान नहीं होता है और उस सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञान होता है कि वहाँ कुछ है, परन्तु वह क्या है? यह कुछ नहीं। इस प्रकार का ज्ञान 'निर्विकल्पक' प्रत्यक्ष कहा जाता है।

२. सविकल्पक प्रत्यक्ष—

'सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथा—डित्थोऽयं ब्रह्मणोऽयं श्यामोऽयमिति'। (तर्कसंग्रह)

जिस ज्ञान में वस्तु के नाम, स्वरूप, जाति, गुण तथा विशेष्य-विशेषण आदि का हमें पूरा ज्ञान हो जाता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष है। जैसे यह डित्थ (लकड़ी का हाथी), यह ब्राह्मण तथा यह श्याम है। इस प्रकार का ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेद

यह दो प्रकार का होता है—

(क) लौकिक। (ख) अलौकिक।

इनमें लौकिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद होते हैं—

(अ) बाह्य लौकिक। (ब) आभ्यन्तर लौकिक।

(अ) बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष—चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित जो पाँच प्रकार के ज्ञान होते हैं, वे ही इसके भेद हैं। पाँचों प्रकार के ज्ञान निम्नलिखित हैं—

१. घ्राणज।

२. रासन।

३. चाक्षुष।

४. स्पार्शन।

५. श्रोत्रिय।

१. घ्राणज—यह घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है और इससे गन्ध का ज्ञान होता है।

२. रासन—यह रसनेन्द्रिय द्वारा होता है और इससे रस का ज्ञान प्राप्त होता है।

३. चाक्षुष—यह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होता है और इससे रूपादि का ज्ञान होता है।

४. स्पार्शन—यह ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा होता है और इससे स्पर्श का ज्ञान होता है।

५. श्रोत्रिय—यह ज्ञान श्रवणेन्द्रिय द्वारा होता है और इसके द्वारा शब्द का ज्ञान होता है।

(ब) आभ्यन्तर लौकिक प्रत्यक्ष—मानस (आत्म प्रत्यक्ष) केवल एक प्रकार का होता है।

इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का स्वरूप

'सन्निकर्षो नाम सम्बन्धः'।

सन्निकर्ष सम्बन्ध को कहते हैं। आत्मा, मन और इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के साथ, विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु जो सम्बन्ध होता है और इसी प्रकार मन का भी अपने विषयों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध सन्निकर्ष कहा जाता है। यह सन्निकर्ष 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष' कहा जाता है। बाह्य लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान इसी सन्निकर्ष से होता है।

इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के प्रकार

यह छः प्रकार का होता है—

१. संयोग।
२. संयुक्तसमवाय।
३. संयुक्तसमवेतसमवाय।
४. समवाय।
५. समवेतसमवाय।
६. विशेषण-विशेष्यभाव।

१. संयोग सन्निकर्ष—चक्षु और घट के संयोग से घट का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि यह घड़ा है, वह संयोग सन्निकर्ष है।

२. संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष—घट एक द्रव्य है और उसमें श्यामादि रूप गुण समवाय सम्बन्ध से है। जब चक्षु घट से संयुक्त होता है, उस समय घट से समवाय सम्बन्ध से रहने वाले श्यामादि रूप गुण का चक्षु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यह संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है।

३ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष—चक्षु इन्द्रिय द्वारा संयुक्त घट होने पर घट के रंग-रूप का सामान्य रूप, जो उसमें समवाय सम्बन्ध से है, प्रत्यक्ष होता है, उसे संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सबकी अपनी एक

जाति होती है। यहाँ घट के श्यामादि रूप में रूपत्व जाति है और वह रूपत्व जाति रूप में समवाय सम्बन्ध से रहती है। जाति और जातिगत का समवाय होता है। यहाँ चक्षु से संयुक्त घट होने पर उसमें समवेत रूप में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली रूप जाति का सन्निकर्ष संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

४. समवाय सन्निकर्ष—शब्द आकाश का गुण है और उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। श्रोत्रविवर आकाश स्वरूप है। आकाशात्मक श्रोत्र में शब्द समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः श्रोत्र द्वारा शब्द का जो साक्षात्कार होता है, वह समवाय सन्निकर्ष कहा जाता है।

५. समवेतसमवाय सन्निकर्ष—शब्द में शब्दत्व जाति होती है। शब्दत्व का शब्द के साथ और शब्द का कर्त्ता के साथ समवाय सम्बन्ध है। कर्ण द्वारा शब्द जाति का प्रत्यक्ष करना समवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

६. विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष—अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होना 'विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष' है। भूतल पर घड़ा नहीं है, उसका अभाव है, ऐसा ज्ञान तब होता है, जब घटाभाव भूतल का विशेषण होता है, जो भूतल चक्षु संयुक्त है। यहाँ घटाभाव विशेषण और भूतल विशेष्य है। यहाँ विशेष्य के साथ-साथ हम विशेषण भी देखते हैं। अतः ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष कहा जाता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष के भेद

यह तीन प्रकार का होता है—

(अ) सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति।

(ब) ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति।

(स) योगज।

(अ) सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति—जिस अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा किसी भी पदार्थ, जाति, वर्ग अथवा विषय के एक अंश का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होने पर उस सम्पूर्ण पदार्थ, जाति, वर्ग अथवा विषय का ज्ञान होता है, उसे सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे एक गौ देखने से विश्व की समस्त गौ अथवा उसके वर्ग व जाति का ज्ञान हो जाता है।

(ब) ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति—जिस अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा किसी भी वस्तु का इन्द्रिय सन्निकर्ष किये बिना वस्तु-दर्शन जनित ज्ञान के आधार पर ही उसके गुणों का ज्ञान हो जाता है, उसे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति कहते हैं। जैसे बर्फ को देखकर उसे स्पर्श किये बिना ही उसकी शीतलता का ज्ञान हो जाता है।

(स) योगज—यह स्पष्ट है कि समस्त ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो पाता है। उदाहरणस्वरूप भूत-भविष्य का ज्ञान, दूरस्थ दीवार एवं पीठ पीछे छिपी वस्तुओं का ज्ञान आदि। इन सभी का ज्ञान योगीजन अपने योगिक बल, समाधि प्रणिधान से

ही करने में समर्थ होते हैं। अतः इस योग जनित ज्ञान को योगज प्रत्यक्ष कहते हैं। योगीजनों को ही यह ज्ञान होने से यह एक प्रकार का असाधारण प्रत्यक्ष है। यह दो प्रकार का होता है—

'योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्ता सहकृतोऽपरः'॥ (कारिकावली)

१. **युक्त**—योगियों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान जिसमें सदा बना रहता है, वह युक्त है।

२. **युञ्जान**—यह चिन्तापरक कहा गया है, क्योंकि इसमें चिन्तन कर समाधि द्वारा किसी वस्तु विशेष का ज्ञान होता है।

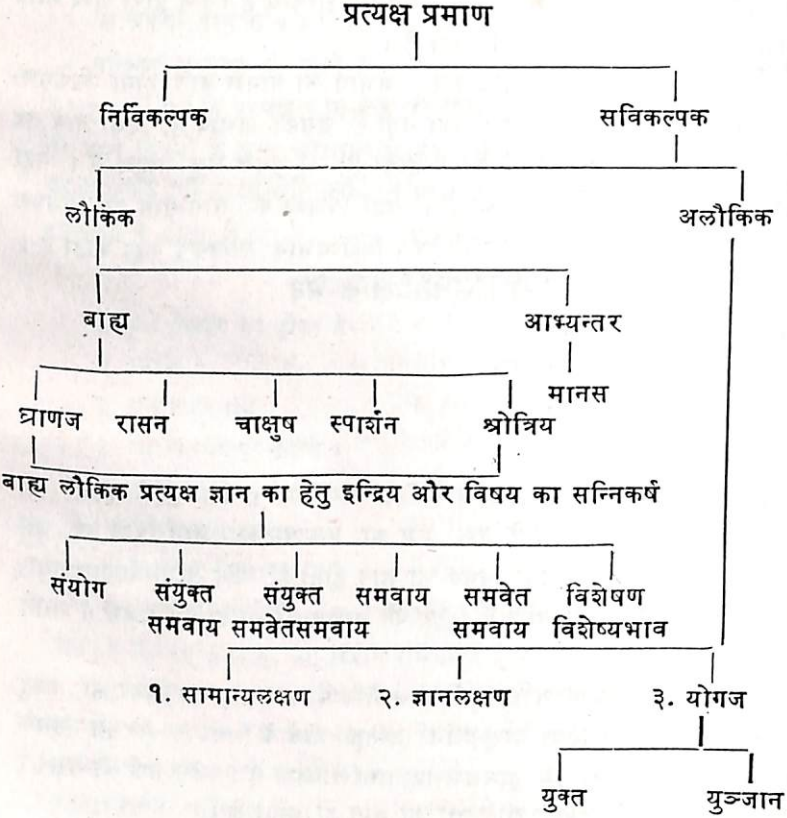

चाक्षुष प्रत्यक्षोत्पत्ति प्रकार

सर्वप्रथम आत्मा का मन से सम्बन्ध होता है, पुनः मन का चक्षु इन्द्रिय से और चक्षु इन्द्रिय का चक्षु इन्द्रिय के विषय के साथ सम्बन्ध होने पर चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान

की उत्पत्ति होती है। यह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कहीं संयोग सन्निकर्ष और कहीं संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष आदि। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषय के ज्ञान की उत्पत्ति होती है और वह ज्ञान उस इन्द्रिय के नाम से उस इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान कहा जाता है। यही इन्द्रियजन्य ज्ञानोत्पत्ति प्रकार है।

विविध यन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण विस्तार

आधुनिक वैज्ञानिक युग में विविध भाँति से अनेकानेक यंत्रादि आविष्कृत हुए हैं, जो हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में सहायक बन प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप विराजमान हो रहे हैं। उदाहरणस्वरूप नेत्रों की दुर्बलता में चश्मे का प्रयोग, अणुवीक्षण यंत्र, एक्स-रे आदि का प्रयोग, कम सुनाई पड़ने पर श्रवण-सहायक यंत्र का उपयोग तथा वाणी की दुर्बलता में ध्वनि-विस्तारक यंत्र का प्रयोग आदि।

अतिसन्निकर्षादि प्रत्यक्ष बाधक भाव

कुछ ऐसे बाधक भाव हैं, जिनके कारण वस्तुओं की प्रत्यक्ष स्वरूप में उपस्थिति होते हुए भी उनका ज्ञान नहीं होता है। वे भाव निम्नलिखित हैं—

'सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोनवस्थानात् समानाभिहारादभिभवादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः'। (च० सू० ११।८)

प्रत्यक्ष वस्तु उपस्थित होते हुए भी उसके अत्यधिक अति सन्निकर्ष (संयोग) अर्थात् अत्यन्त सामीप्य से, अति विप्रकर्ष (अति दूर) से, आवरण (ढँके) रहने से, चक्षु दुर्बलता से, मन नवीन स्थान में चले जाने से, समान राशि से अर्थात् समान राशि मध्य रहने वाले पदार्थ का एक-एक के भेद से, मध्य दिन में उल्कापात से एवं अति सूक्ष्मता से लीख आदि कृमि ग्रहण नहीं होते हैं। जैसे अति समीपता से नेत्र में लगे हुए काजल, अति दूर होने से आकाश में उड़ते हुए पक्षी, ढँके रहने के कारण घटादि, नेत्र-दौर्बल्य से वस्त्र का रंग, नव स्थान अर्थात् कान्तामुखादि निरीक्षण में मन चले जाने आदि से अन्य समीपस्थ का ज्ञान नहीं होने पाता है। सांख्यकारिका में कहा गया है—

'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च' ॥

(सांख्यकारिक ७)

प्रत्यक्ष प्रमाण के सहायक प्रमाण अथवा उसके होते हुए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता

प्रत्यक्ष प्रमाण ही ऐसा प्रमाण है जिसकी सत्ता सभी स्वीकार करते हैं। आस्तिक हो अथवा नास्तिक उसको सभी दार्शनिक मानते हैं। जहाँ ईश्वरवादी दार्शनिक

विद्वानों ने इस प्रमाण को जाना है, वहाँ चार्वाक आदि नास्तिक दार्शनिकों ने भी इसे माना है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है—'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' अर्थात् प्रत्यक्ष रूप में किसी विषय का ज्ञान हो गया, तो उस सम्बन्ध में अन्य साक्ष्य अथवा अन्य प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रमाणों के मध्य में प्रत्यक्ष अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किये हुए है। परन्तु यह सब होते हुए भी कुछ दूर तक देखने से यह प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष तो अल्प ही विषय है, परन्तु अप्रत्यक्ष अनल्प है, जिसकी जानकारी के लिए अथवा यथार्थ ज्ञान के लिए अन्य प्रमाणों के साहाय्य की आवश्यकता है। कहा गया है—

'प्रत्यक्षं ह्यल्पम्, अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते, यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि'। (च० सू० ११।७)

प्रत्यक्ष अल्प है, अप्रत्यक्ष अधिक है, जो आप्तोपदेश, अनुमान तथा युक्ति द्वारा जाना जाता है। जिन इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है, वे ही अप्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी प्रमेय वस्तुओं की सिद्धि केवल प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है। उदाहरणस्वरूप काल तीन भागों में विभक्त है—भूत, वर्तमान एवं भविष्य। भूत का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सम्भव नहीं है। भविष्यत् काल के ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात है। अतः उक्त दोनों काल के ज्ञान के लिए अनुमान, आगम आदि प्रमाणान्तरों की आवश्यकता है। अब तीसरा काल जो शेष रह गया है, वह वर्तमान काल है। यह अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म अथवा अल्पकालिक काल है। इतने अल्पकाल की जानकारी से समस्त विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि समस्त पदार्थों, तत्त्वों अथवा वस्तुओं के ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की सहायता में अथवा उसके साथ अन्य प्रमाण आवश्यक हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण का आयुर्वेद में उपयोग

प्रत्यक्ष प्रमाण का आयुर्वेद में सबसे बड़ा उपयोग व्याधि-विनिश्चय के अवसर पर होता है। कहा है—

'प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुरशरीरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्'। (च० वि० ४।७)

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा रोग का ज्ञान करने की इच्छा करने वाला वैद्य रसनेन्द्रिय को छोड़कर अपनी अन्य सभी इन्द्रियों द्वारा आतुर शरीरान्तर्गत सभी ज्ञातव्य विषयों की परीक्षा करे। रोगी के स्वर आदि का अपने कर्णेन्द्रिय द्वारा, शरीर वर्ण प्रमाण आदि चक्षु द्वारा, आतुर शरीरगत रस को अनुमान द्वारा परीक्षा करे। रस की प्रत्यक्ष द्वारा परीक्षा ठीक नहीं है। इसी प्रकार शरीरगत प्राकृतिक तथा वैकृत गन्ध

घ्राणेन्द्रिय द्वारा तथा प्राकृतिक एवं वैकृत स्पर्श पाणि द्वारा परीक्षा करे। रोगी की परीक्षा के लिए कहा गया है—'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्'।

दर्शन, स्पर्शन एवं प्रश्न द्वारा रोगी की परीक्षा करे। ये सभी परीक्षाएँ प्रत्यक्ष द्वारा ही की जाती है—

'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ निरीक्षयेत्।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती'॥ (योगरत्नाकर)

रोगाक्रान्त शरीर के आठ स्थानों का निरीक्षण करे—१. नाड़ी, २. मूत्र, ३. मल, ४. जिह्वा, ५. शब्द, ६. स्पर्श, ७. दृष्टि एवं ८. आकृति। इन समस्त परीक्षाओं के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का आश्रय ही अनिवार्यतः आवश्यक है। इसी प्रकार चिकित्सा में भी इसकी उपयोगिता अपेक्षित है। अतः आयुर्वेद में प्रत्यक्ष प्रमाण की सर्वात्मना उपयोगिता स्पष्टतया सिद्ध है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जहाँ तक प्रमाणों एवं आयुर्वेद का सम्बन्ध अर्थात् आयुर्वेद में उनकी उपयोगिता का प्रश्न है आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति इन सभी प्रमाणों की 'हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्' आयुर्वेद के शास्त्रीय ज्ञान एवं कार्य रूप परिणति में सर्वत्र सर्वात्मना सर्वथा उपयोगिता एवं उपादेयता है।

त्रयोदश अध्याय

अनुमान प्रमाण

'एवम्प्रमाणज्येष्ठेऽस्मिन् प्रत्यक्षे लक्षिते सति ।
कथ्यतेऽवसरप्राप्तस्यानुमानस्य लक्षणम् ।।
पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद् गृहीतान्नियमे स्मृतेः ।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्प्रचक्षते' ।। (न्यायमंजरी)

ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष ज्ञान और अप्रत्यक्ष ज्ञान । प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष जन्य है । अप्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाण से होता है । शास्त्रीय नियम से प्रमाण ज्येष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण प्रथम हो चुका है । तत्पश्चात् अब अनुमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है । परोक्ष स्थित लिङ्गी का पञ्चलक्षणक लिङ्ग से जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहा जाता है ।

'परोक्षोऽर्थोलिङ्गचते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्, लीनमर्थं गमयन्तीति यत्तल्लिङ्ग-मिति वा व्युत्पत्तिः । इदमेव लिङ्गं हेतुरप्यभिधीयते' ।

परोक्ष अर्थ इसके द्वारा जाना जाता है अथवा यह लीन अर्थ का अवबोध कराता है, अतः लिङ्ग कहा जाता है । यही लिङ्ग हेतु भी कहा जाता है ।

अनुमान-निरुक्ति—अनु और मान दो शब्दों से अनुमान शब्द का निर्माण होता है ।

'अनुपूर्वं हेतुं दृष्टा पश्चान्मीयते इत्यनुमानम् ।'

प्रथम कारण को देखकर पश्चात् उसके आधार पर परोक्ष स्थित विषय का ज्ञान प्राप्त किया जाना अनुमान अर्थात् अनुमान प्रमाण है ।

अनुमान प्रमाण का लक्षण

१. 'अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः' । (च० वि० ४।४)

'तर्कोऽत्राप्रत्यक्षं ज्ञानम् । युक्तिः सम्बन्धोऽविनाभाव इत्यर्थः । तेनाविनाभावजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः' । (चक्रपाणि)

युक्त्यपेक्ष अर्थात् युक्ति के आधार पर जो तर्क किया जाता है, उसे अनुमान कहते हैं । तर्क शब्द का अर्थ यहाँ अप्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् परोक्ष ज्ञान है । परोक्ष ज्ञान और युक्ति का 'अविनाभाव' सम्बन्ध है । किसी युक्ति के बिना परोक्ष ज्ञान नहीं होता है । यह युक्ति की अपेक्षा से ही होता है । अतः युक्ति के अविनाभाव सम्बन्ध से उत्पन्न परोक्षज्ञान अनुमान है ।

तर्क का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्ति-तस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' । (न्या० द० १।४०) किसी तत्त्व के अज्ञात रहने की स्थिति में तद्बोधक कारण की उत्पत्ति से अर्थात् जिस कारण से उस तथ्य का ज्ञान सम्भव है, उसकी उपस्थिति से उस तत्त्व के ज्ञान के लिए जो विचार किया जाता है, उस किये हुए विचार को तर्क कहते हैं। 'तर्कोऽप्रत्यक्षज्ञानम्' (चक्रपाणि) चरक-टीकाकार चक्रपाणि ने अप्रत्यक्ष ज्ञान को तर्क कहा है।

२. अथानुमानम्—अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः, यथा—अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दादिग्रहणेनेत्येवमादि'। (च० वि० ८।४०)

अर्थात् युक्त्यपेक्षित तर्क अनुमान है। जैसे किसी की पाचन-शक्ति के आधार पर उसकी पाचकाग्नि की, व्यायाम-शक्ति के आधार पर बल की और शब्दादि के ग्रहण के आधार पर श्रोत्रादि इन्द्रिय-शक्ति की परीक्षा की जाती है।

३. 'प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एव व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात् फलमनागतम्।
दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः'॥ (च० सू० ११।२१-२२)

अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष हुआ रहता है, उसी का अनुमान होता है। यह तीन प्रकार का तथा त्रैकालिक होता है। जैसे धूम से गूढ़ वह्नि का अनुमान वर्तमानकालिक, गर्भ-दर्शन से मैथुन का अनुमान भूतकालिक तथा बीज से उत्पन्न होने वाले फल का अनुमान भविष्यत्कालीन है। इस प्रकार अनुमान त्रैकालिक होता है।

४. 'वस्तु यत् परोक्षं तदनुप्रत्यक्षात् पश्चाद् यन्मीयते ज्ञायते तदनुमानम्'।
(कविराज गंगाधर)

प्रत्यक्ष पश्चात् परोक्ष स्थित वस्तु का जो ज्ञान किया जाता है, वह अनुमान है।

५. 'अनु पश्चादव्यभिचारिलिङ्गालिङ्गीमीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्।
(डल्हणाचार्य)

पश्चात् अव्यभिचारी (निर्दुष्ट) लक्षण से लिङ्गी का ज्ञान जिससे होता है, वह अनुमान है।

६. 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च'।
(न्या० द० १।५)

प्रत्यक्षपूर्वक् अनुमान तीन प्रकार का होता है।

अनुमान

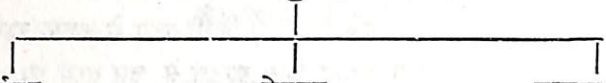

(कारण से कार्य का) (कार्य से कारण का) (एक से तत्समान अन्य का)

(क) **पूर्ववत्**—जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है, जैसे—बादलों को देखने से वर्षा का अनुमान। कार्य रूप वर्षा का कारण बादल ही है।

(ख) **शेषवत्**—जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है, जैसे—बढ़ी हुई नदी को देखकर वर्षा का अनुमान। कार्यरूप नदी की बाढ़ कारण रूप वृष्टि के होने से ही होती है।

(ग) **सामान्यतोदृष्ट**—इसका लक्षण उक्त दोनों से भिन्न है। एक स्थान पर किसी वस्तु को देखने से उत्पन्न तत्समान ही वस्तुओं का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अर्थात् सामान्य अनुमान है। जैसे एक स्थान पर पुष्पित आम को देखकर अन्यत्र भी पुष्पित आम्र का अनुमान।

७. 'मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्'। (वात्स्यायन)
थोड़े लक्षण से विषय का पश्चात् ज्ञान अनुमान है।

८. 'तल्लिङ्गिलिङ्गपूर्वकम्'। (न्यायवार्तिक)
लिङ्ग पूर्वक लिङ्गी का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान है।

९. 'अनुमितिकरणमनुमानम्'। (तर्कसंग्रह)
अनुमिति का करण (साधकतम कारण) अर्थात् साधन अनुमान है।

अनुमिति

'परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः'। (तर्कसंग्रह)
परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है।

परामर्श

'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वत इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमानिति ज्ञानमनुमितिः'। (तर्कसंग्रह)

व्याप्ति सहित पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं। अनुमान प्रमाण द्वारा विषय का यथार्थ ज्ञान करने के लिए न्यायशास्त्र का प्रसिद्ध उदाहरण प्रारम्भ काल से चला आ रहा है, जो यथास्थान प्रयुक्त होता रहता है। जैसे—लोग सदैव अपने महानस (रसोईघर) में यह देखा करते हैं कि रसोईघर में धुँआ है और जहाँ धूम है वहीं अग्नि है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अथवा इस नियम से किसी पर्वत पर धूम देखकर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि जहाँ-जहाँ धुँआ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी होती है। इस पर्वत पर भी धूम है,

अतः यहाँ भी अग्नि है और यह पर्वत अग्नियुक्त है। इस प्रकार धूम-दर्शन के कारण पर्वत-स्थित अदृष्ट वह्नि का ज्ञान धूम हेतु से होता है। यह अनुमिति कही जाती है। इसी प्रकार अनुमान किया जाता है।

पक्ष-सपक्ष-विपक्ष

१. पक्ष-लक्षण—'सन्दिग्धसाध्यवानपक्षः। यथा धूमवत्वे हेतौ पर्वतः'।

(तर्कसंगह)

जिसमें साध्य का सन्देह हो, उसे 'पक्ष' कहते हैं। जैसे धूम हेतु होने पर पर्वत पक्ष है।

'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'।

यहाँ पर्वत में साध्य का सन्देह हुआ, अतः पर्वत पक्ष है; जिसका संदेह हो, वह साध्य है। यहाँ वह्नि का संदेह है, अतः वह्नि साध्य है। जिसमें साध्य का निश्चय हो, वह हेतु है। साध्य रूप वह्नि का निश्चय धूम से होता है, अतः धूम हेतु है।

'यत्र साध्यं साधनीयं तद् अधिष्ठानमाश्रयो वा पक्ष इति पदेन वाच्यः'।

जहाँ साध्य साधनीय है, वह स्थान अथवा आश्रय 'पक्ष' इस पद से कहना चाहिए।

२. सपक्ष-लक्षण—'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। यथा तत्रैव महानसम्'।

(तर्कसंग्रह)

जिसमें साध्य का निश्चय हो, उसे 'सपक्ष' कहते हैं, जैसे—वहाँ ही, अर्थात् 'पर्वतोवह्निमान्' पर्वत अग्नियुक्त है। इसी स्थल में महानस दृष्टान्त है, क्योंकि महानस में अग्नि का होना निश्चित है।

३. विपक्ष-लक्षण—'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। यथा तत्रैव महाह्रदः'।

(तर्कसंग्रह)

जिसमें साध्य के अभाव का निश्चय हो, जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ साध्य जो वह्नि है, उस स्थल में जलाशय आदि विपक्ष है। कारण यह है कि जलाशय आदि में साध्य अग्नि नहीं रहती है।

ज्ञातव्य पारिभाषिक शब्द

१. व्याप्ति—'यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः'।

(तर्कसंग्रह)

जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। इस प्रकार साहचर्य अर्थात् धूम और वह्नि के साथ-साथ रहने के साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। यहाँ धूम व्याप्त है और अग्नि व्यापक है। व्याप्य और व्यापक का नियम से सम्बन्ध ही व्याप्ति है।

व्याप्ति-भेद—व्याप्ति दो प्रकार की होती है—

(क) अन्वय व्याप्ति ।

(ख) व्यतिरेक व्याप्ति ।

(क) **अन्वय व्याप्ति**—'अन्वयेन निरूपिता व्याप्तिः अन्वयव्याप्तिः' ।

अन्वय का अर्थ साथ है । यह भाव स्वरूप है । जैसे एक साथी के रहने पर साथ में दूसरा साथी भी उपस्थित रहे । जैसे—जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है । यह जो व्याप्ति है, वह अन्वय व्याप्ति है ।

(ख) **व्यतिरेक व्याप्ति**—'व्यतिरेकेण या व्याप्तिः निरूप्यते सा व्यतिरेक-व्याप्तिः' ।

व्यतिरेक अभाव है । यह अन्वय से विपरीत है । जैसे यह नहीं तो वह नहीं । जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम नहीं है । अर्थात् जहाँ साध्य का अभाव है, वहाँ साध्य-साधन हेतु का भी अभाव है ।

२. **व्याप्य**—'यः व्याप्यते स व्याप्यः' ।

जो व्याप्त किया जाता है, वह व्याप्य है ।

'वह्निना धूमो व्याप्यते । यतः यत्र धूमस्तत्र वह्निः विद्यते एव । अतः धूमो व्याप्यः' ।

वह्नि से धूम व्याप्त किया जाता है, अतः धूम व्याप्य है । स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ वह्नि रहती है ।

३. **व्यापक**—'यः व्याप्नोति स व्यापकः । वह्निः धूमं व्याप्नोति, अतो वह्निर्व्यापकः' ।

जो व्याप्त होता है, वह व्यापक है । अग्नि धूम में व्याप्त होती है, अतः अग्नि व्यापक है ।

४. **अविनाभाव सम्बन्ध**—व्याप्ति अर्थात् व्याप्य धूम और व्यापक वह्नि के नियत रूप से साथ-साथ रहने के नियमित सम्बन्ध को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं । यह वह सम्बन्ध है, जिसमें एक वस्तु दूसरे के बिना नहीं रह सकती है । वह्नि के बिना धूम कहीं नहीं रह सकता ।

५. **अयुतसिद्ध**—दो वस्तुओं में एक वस्तु ऐसी हो कि जब तक वह नष्ट न हो जाय, तब तक दूसरे के आश्रय पर स्थित रहे । जैसे अवयवी और उसके अवयव, गुणी और उसके गुण, क्रियावान् और उसकी क्रिया, जाति और उसका व्यक्ति ।

अनुमान प्रकार

'अनुमानं द्विविधं—स्वार्थं परार्थञ्च' । (तर्कसंग्रह)

अनुमिति रूप अनुमान स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का है—

१. स्वार्थानुमान।
२. परार्थानुमान।

१. स्वार्थानुमान—'स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः'। (तर्कसंग्रह)

अनुमान-कर्ता को स्वयं जिस अनुमान से अनुमिति हो, वह स्वार्थानुमान है। अर्थात् अपनी अनुमिति का कारण स्वार्थानुमान है। जैसे कोई मनुष्य अपने रसोईघर में धूम और वह्नि को एक साथ देखकर इस निर्णय पर पहुँचता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी रहती है, उसी ज्ञान के आधार पर जब वह किसी पर्वत के समीप पहुँचकर धुआँ को देखता है, तब उस व्याप्ति का स्मरण कर उसे यह ज्ञान होता है कि उस पर्वत पर अग्नि है। इस ज्ञान को लिंगपरामर्श कहते हैं। इस लिंगपरामर्श से ही यह ज्ञान हुआ कि यह पर्वत वह्निमान् है, इसी को स्वार्थानुमान कहते हैं। यह अपने ज्ञान के लिए होता है। इससे अपने को ज्ञान होता है।

२. परार्थानुमान—'यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं प्रति बोधयितुं पञ्चावयव-वाक्यं प्रयुज्यते तत्परार्थानुमानम्'। (तर्कसंग्रह)

जो कि स्वयं धूम स्वरूप हेतु से अग्नि का अनुमान कर दूसरों को जानकारी कराने के लिए पञ्चावयव युक्त वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वह परार्थानुमान है।

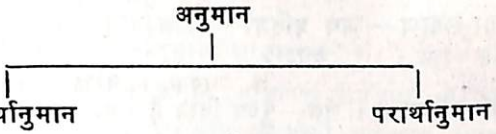

पञ्चावयव-निरूपण

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन—ये पञ्चावयव हैं। इन पञ्चावयवों का प्रयोग परार्थानुमान तथा वाद के अवसर पर स्वपक्ष की स्थापना कर प्रतिज्ञा के विपरीतार्थ स्थापन अर्थात् प्रतिष्ठापन के लिए प्रयुक्त होता है। इनके लक्षण एवं उदाहरण निम्नलिखित हैं—

१. **प्रतिज्ञा**—किसी सिद्धि के लिए जो सिद्धान्त वाक्य कहा जाता है, वह प्रतिज्ञा है। यथा—'पर्वतोऽयं वह्निमान्' यह पर्वत अग्नियुक्त है।

२. **हेतु**—किसी कार्य का कारण हेतु है। जैसे—'धूमात्' धुआँ होने से इस धूम रूप कारण से प्रतिज्ञा वह्नि की सिद्धि होती है।

३. **उदाहरण**—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि रहती है, जैसे—पाकशाला आदि। यहाँ पर्वत स्थित अग्नि की सिद्धि के लिए रसोईघर का उदाहरण दिया गया है।

४. उपनय—यह पर्वत भी पाकशाला की भाँति वह्नि-व्याप्य धूमवाला है। अर्थात् जैसे वहाँ वैसे ही यहाँ।

५. निगमन—'तस्मात्तथा'। उपर्युक्त चारों अवयवों के आधार पर जो निष्कर्ष निकलता है, अर्थात् निर्णय किया जाता है कि इस कारण उसी प्रकार यह भी अग्नि-युक्त है (यहाँ भी अग्नि है)। यह निगमन है।

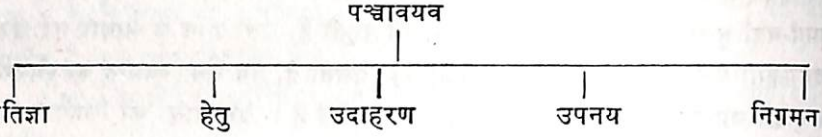

इस प्रकार उक्त पाँचों अवयवों से सिद्ध विषय को परार्थानुमान कहते हैं। तार्किकों के अनुसार उक्त पाँचों अवयवों का परस्पर अन्तर्भाव भी किया जा सकता है। जैसे—निगमन का प्रतिज्ञा में, उदाहरण तथा उपनय का व्याप्ति में। इससे भी प्रतिज्ञा विषय की सिद्धि की जा सकती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु और व्याप्ति या उदाहरण ही सिद्धि के लिए पर्याप्त है। कुछ लोग प्रतिज्ञा और हेतु को पर्याप्त समझते हैं।

पञ्चावयवों का उदाहरण सहित लक्षण महर्षि चरक ने निम्नलिखित रूप में किया है—

१. प्रतिज्ञा-लक्षण—'अथ प्रतिज्ञा—प्रतिज्ञानाम साध्यवचनम्; यथा—नित्यः पुरुष इति'। (च० वि० ८।३०)

साध्य-वचन प्रतिज्ञा है। जैसे—पुरुष नित्य है। यह साध्य-वचन है, यही साध्य-वचन प्रतिज्ञा है। साधनों द्वारा इसी की सिद्धि करनी है।

२. हेतु-लक्षण—'अथ हेतुः—हेतुर्नामोपलब्धिकारणं, तत्प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, ऐतिह्यम्, औपम्यमिति, एभिर्हेतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्त्वम्'। (च० वि० ८।३३)

व्यापक अर्थात् साध्य की उपलब्धि के कारण को हेतु कहते हैं। यहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण ही यथोक्त मूल होने से हेतु शब्द से समझना चाहिए। इन हेतुओं से जो प्राप्त होता है, वही तत्त्व (लिंग) है। हेतु दो प्रकार के होते हैं—एक साध्य के साधर्म्य उदाहरण वाला, दूसरा साध्य के वैधर्म्य उदाहरण वाला।

'उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः'। (न्या० द० ३।१।३४)

उदाहरण के साधर्म्य (तुल्यता) से साध्य के साधनों को हेतु कहते हैं। अर्थात् साध्य विषय को समान उदाहरण देकर जो सिद्ध किया जाता है, वही साधन स्वरूप उदाहरण हेतु है।

'तथा वैधर्म्यात्'। (न्या० द० ३।१।३५)

उदाहरण के वैधर्म्य से भी साध्य के साधनों को हेतु कहते हैं। अर्थात् असमान उदाहरण देकर भी जो साध्य को सिद्ध किया जाता है, वह भी हेतु है।

३. दृष्टान्त-लक्षण—'अथ दृष्टान्तः—दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं यो वर्ण्यं वर्णयति। यथा—अग्निरुष्णो, द्रवमुदकं, स्थिरा पृथिवी, आदित्यः प्रकाशक इति, यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा सांख्यवचनं प्रकाशकमिति'। (च० वि० ८।३०)

जहाँ मूर्ख और विद्वान् दोनों की बुद्धि की समता होती है, अर्थात् जिस विषय को जिस प्रकार जितना एक मूर्ख समझता है, ठीक उसी प्रकार उस विषय को उतना ही एक विद्वान् समझता है। तात्पर्य यह है कि जिसे मूर्ख और पण्डित दोनों की बुद्धि समान रूप से समझती हो, वह दृष्टांत है। साथ ही यह भी है कि जो वर्णन योग्य विषय का वर्णन भी करता हो, अर्थात् साध्य साधन योग्य विषय को सिद्ध करता है। जैसे—उष्ण–अग्नि, द्रव–जल, स्थिर–पृथ्वी तथा आदित्य–प्रकाशक है, अथवा जैसे आदित्य प्रकाशक है, वैसे ही सांख्य-वचन प्रकाशक है।

'लौकिकानां पण्डितानां च योऽर्थोऽविवादसिद्धः स दृष्टान्तो भवति, न पण्डित-मात्रसिद्धः'। (चक्रपाणि)

चक्रपाणि ने कहा है कि जो विषय लौकिक अर्थात् सामान्य जन तथा पण्डित दोनों को बिना किसी विवाद के सिद्ध हो जाता है, अर्थात् समझ में आ जाता है, वह दृष्टान्त है। यह नहीं कि उसे केवल पण्डित ही समझते हों और साधारण लोग न समझते हों।

'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'। (न्या० द० १।२५)

न्याय-दर्शन के अनुसार लौकिक अर्थात् साधारण जन तथा परीक्षक अर्थात् प्रमाणादि द्वारा जो अर्थ की परीक्षा कर सके, इन दोनों का ज्ञान जिस विषय को समझने के लिए समान हो, अर्थात् जिस विषय को जितना ही एक मूर्ख समझता हो, उतना ही एक पण्डित समझता हो, वह दृष्टान्त है।

४. उपनय-स्वरूप—'उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः'। (न्या० द० १।३८)

उदाहरणापेक्षी अर्थात् उदाहरणाधीन 'तथा' अथवा 'न तथा' इस रूप का साध्य का उपसंहार उपनय है।

साधर्म्य और वैधर्म्य दो प्रकार के उदाहरण होते हैं। अर्थात् साध्य विषय को सिद्ध करने के लिए साधर्म्य अर्थात् समान धर्म वाले का उदाहरण देकर उसका जो उपसंहार किया जाता है और कहा जाता है 'तथा' अर्थात् उसी प्रकार उसी उदाहरण की भाँति यह भी है अथवा वैधर्म्य अर्थात् असमान धर्म वाले का उदाहरण देकर कहा जाता है 'न तथा' अर्थात् उसी प्रकार यह नहीं है, यही उपनय है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य दो प्रकार के उदाहरण होने से उपनय भी दो प्रकार का

होता है। साधर्म्य उदाहरण में 'तथा' यह उपनय और वैधर्म्य उदाहरण में 'न तथा' यह उपनय होता है।

५. निगमन-स्वरूप—'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्'। (न्या० द० १।३९)

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण तथा उपनय—ये सब जहाँ एकत्रित रूप से पुनः कहे जाँय, वह निगमन है।

जैसे—घट अनित्य है, यह प्रतिज्ञा है। उत्पत्ति धर्मवान् होने से यह 'हेतु' है। उत्पत्ति 'धर्मवान्' पटादि द्रव्य अनित्य है, यह उदाहरण है। उसी प्रकार यह घट भी उत्पत्ति धर्मवान् है, यह उपनय है। इसलिए उत्पत्ति धर्मवान् होने से घट अनित्य सिद्ध होता है, यह निगमन है।

प्रतिज्ञा—'नित्यः पुरुषः'। पुरुष नित्य है।

हेतु—'अकृतकत्वात्' किया हुआ न होने से।

दृष्टान्त—'यथाऽऽकाशमिति'। जैसे—आकाश।

उपनय—'यथा चाकृतकमाकाशं तच्च नित्यं तथा पुरुष इति'। जैसे—अकृतक आकाश। वह नित्य है, वैसे ही पुरुष।

निगमन—'तस्मान्नित्य इति'। इस कारण नित्य है।

वात्स्यायन ने परार्थानुमान सिद्धि हेतु निम्नस्थ पाँच अवयवों का समुल्लेख किया है—

१. जिज्ञासा।
२. संशय।
३. शक्यप्राप्ति।
४. प्रयोजन।
५. संशयव्युदास।

पूर्वोक्त पञ्चावयव परार्थानुमान की सिद्धि के लिए पर्याप्त साधन हैं। अतः वात्स्यायन समुल्लिखित पञ्चावयवों के विवेचन की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

लिङ्गपरामर्श-विवेचन तथा प्रकार

'स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम्। तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्'। (तर्कसंग्रह)

स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति दोनों का असाधारण कारण रूप करण लिङ्गपरामर्श ('वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः' यह ज्ञान) ही है। इस कारण लिङ्ग-परामर्श ही अनुमान है। यह लिङ्ग तीन प्रकार का होता है—

१. अन्वयव्यतिरेकि ।
२. केवलान्वयि ।
३. केवलव्यतिरेकि ।

अन्वय—अन्वय का अर्थ 'साहचर्य' साथ है। जैसे एक साथी के रहने पर साथ में दूसरा भी साथी उपस्थित रहे। 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वसमन्वयः' उसके होने पर वह भी हो। जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है।

व्यतिरेकि—यह अन्वय से विपरीत है। जैसे यह नहीं तो वह नहीं। जहाँ धूम नहीं वहाँ अग्नि नहीं। 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' उसके अभाव में उसका भी अभाव व्यतिरेक है।

१. अन्वयव्यतिरेकि—'अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि।'
(तर्कसंग्रह)

अन्वयव्यतिरेकि उसे कहते हैं, जिस लिङ्ग में अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकिव्याप्ति दोनों के दृष्टान्त मिलें। जैसे—पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है। जैसे—रसोईघर, यह अन्वय का ही दृष्टान्त है। अतः यह अन्वयव्याप्ति है। जहाँ आग नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है। जैसे—तालाब, यह दृष्टान्त व्यतिरेकि है। अतः यह व्यतिरेकि व्याप्ति (अभावों की व्याप्ति) है।

२. केवलान्वयि—'अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च'।
(तर्कसंग्रह)

जिस (लिङ्ग) हेतु में केवल अन्वयव्याप्ति हो, वह केवलान्वयि है। जैसे—यहाँ घट अभिधेय है, क्योंकि इसमें प्रमेयत्व हेतु केवलान्वयि है।

३. केवलव्यतिरेकि—'व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि'। (तर्कसंग्रह)

जिसके साथ केवल व्यतिरेकिव्याप्ति हो, उसे केवलव्यतिरेकि कहते हैं। जैसे—पृथिवी अन्य तत्त्वों से भिन्न है, क्योंकि इसका गुण गन्ध है। जो अन्यों से भिन्न नहीं, वह गन्धयुक्त भी नहीं, जैसे—जल। यहाँ इस प्रकार का उदाहरण दिया गया है कि जो गन्ध वाला है, वह अन्य तत्त्वों से भिन्न है, क्योंकि गन्ध पृथिवी के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों में नहीं होता है।

सद्हेतु-विवेचन

अनुमान का आधार हेतु ही है, क्योंकि किसी हेतु से ही कोई अनुमान होता है। वह भी 'सद्हेतु' ही है, न कि असद्हेतु। अतः अनुमान करने के लिए हेतु का दोष रहित होना सर्वथा आवश्यक है। हेतु लिङ्ग साधन में समानार्थक है। प्राचीन नैयायिकों ने लिङ्ग शब्द का ही अधिक प्रयोग किया है। हेतु में जब पाँच गुण होते हैं, तब वह 'सद्हेतु' कहा जाता है। यह पाँच गुण निम्नलिखित प्रकार के हैं—

१. पक्षेसत्त्वम्—हेतु के पक्ष में रहना।

२. सपक्षेसत्त्वम्—सपक्ष में भी हेतु का बना रहना।

३. विपक्षे असत्त्वम् अवृत्तित्वम्—पक्ष विपरीत दृष्टान्त में हेतु का अभाव।

४. असत्प्रतिपक्षत्व—साध्य विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव।

५. अबाधित विषयत्व—प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किसी प्रकार बाधित न होना।

इनमें कुछ लोग पूर्वोक्त तीन ही तथा कुछ लोग दो और मिलाकर पाँचों गुणों को 'सद्हेतु' के लिए आवश्यक बतलाते हैं। 'सद्हेतु' के इन्हीं गुणों पर सत्य का अनुमान होता है।

हेत्वाभास

सद्हेतु में जब सद्हेतु के गुणों का किसी प्रकार अभाव हो जाता है अर्थात् उसमें कुछ त्रुटि आ जाती है, उसमें केवल हेतु का आभास मात्र रह जाता है एवं यथार्थ रूप के हेतु न होते हुए भी जो 'हेतुवत्' प्रतीत होता है, उसे अहेतु कहते हैं। इसी अहेतु का दूसरा नाम हेत्वाभास है। यह दुष्ट हेतु है।

हेत्वाभास-प्रकार—'सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षाऽसिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः'।

(तर्कसंग्रह)

निम्नस्थ भेद से हेत्वाभास पाँच प्रकार का होता है—

१. सव्यभिचार।

२. विरुद्ध।

३. सत्प्रतिपक्ष।

४. असिद्ध।

५. बाधित।

१. सव्यभिचार हेत्वाभास-लक्षण—'अथ सव्यभिचारं—सव्यभिचारं नाम यद्व्यभिचरणं, यथा—भवेदिदमौषधमस्मिन् व्याधौ यौगिकमथवा नेति'।

(च० वि० ८।४५)

जो व्यभिचरित होता रहे, निश्चित रूप से साध्य के साथ न रहे, उसे सव्यभिचार कहते हैं। इसका अर्थ अनैकान्तिक है। जैसे किसी व्याधि में किसी औषधि का योग करने पर यह निश्चिन्तता न बनी रहे कि यह योग ठीक है, प्रत्युत वह। औषधि संशय जनक स्वरूप रहे कि इस व्याधि में यह योगयुक्त है अथवा नहीं।

'सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः—साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदात्'।

(तर्कसंग्रह)

अनैकान्तिक हेतु सव्यभिचार कहा जाता है, अर्थात् निश्चित रूप से जो अपने साध्य के साथ सतत न रहे, प्रत्युत कभी साध्य के और कभी असाध्य के साथ रहे, उसे सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—

(क) साधारण।
(ख) असाधारण।
(ग) अनुपसंहारी।

(क) साधारण—'तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा—पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वादिति। अत्र प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्'। (तर्कसंग्रह)

साध्य के अभाव के अधिकरण में भी रहने वाले हेतु को साधारण हेतु कहते हैं। जैसे पर्वत पर अग्नि है, पर्वत ज्ञान का विषय है, परन्तु यहाँ प्रमेयत्व हेतु साध्याभाव के अधिकरण जलादि में भी रहता है, क्योंकि सब प्रमेय हैं।

(ख) असाधारण—'सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः। यथा—शब्दो नित्यः शब्दत्वादिति। अत्र शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति'। (तर्कसंग्रह)

जो सभी सपक्षों और विपक्षों में न रहकर केवल पक्ष मात्र में ही रहता हो, उसे असाधारण हेतु कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि इसमें शब्दत्व रहता है। यहाँ 'शब्द' पक्ष 'नित्य' साध्य और 'शब्दत्व' हेतु है। यहाँ शब्दत्व रूप हेतु नित्य अर्थात् आकाशादि अनित्य घटादि पदार्थों में नहीं रहता, वह शब्दमात्र में रहता है।

(ग) अनुपसंहारी—'अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा—सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति'। (तर्कसंग्रह)

अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के दृष्टान्त से रहित जो हेतु है, वह अनुपसंहारी हेतु कहा जाता है। जैसे सभी पदार्थ प्रमेय होने से अनित्य हैं, क्योंकि सभी में प्रमेयत्व रहता है। यहाँ सब कुछ पक्ष में होने से सपक्ष और विपक्ष दृष्टान्त नहीं मिलता। अतः प्रमेयत्व स्वरूप हेतु अनुपसंहारी हेतु है।

२. विरुद्ध हेत्वाभास-लक्षण—'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा—शब्दो नित्यः कृतकत्वाद् घटवदिति'। (तर्कसंग्रह)

जो हेतु साध्य भाव से व्याप्त हो, वह विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है; घट की भाँति। यहाँ शब्दों का नित्यत्व साध्य है। परन्तु उसकी सिद्धि के लिए जो कृतकत्व हेतु दिया गया है, वह साध्य विरुद्ध है। यह स्पष्ट हैं कि उत्पन्न होने वाला अनित्य होता है। ऐसी स्थिति में घट की भाँति उत्पन्न होने वाला शब्द किस प्रकार नित्य होगा, इस कारण वह कृतकत्व स्वरूप हेतु विरुद्ध साध्यविरोधि हेतु है।

३. सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास-लक्षण—'साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः। यथा—शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दत्ववत्। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवत्'। (तर्कसंग्रह)

जिस हेतु के साध्याभाव का साधन (सिद्ध करने वाला) दूसरा हेतु हो, तात्पर्य यह कि जिस हेतु के जोड़ में दूसरा ऐसा हेतु हो, जो उसके साध्य के अभाव को सिद्ध करता है, जैसे शब्द नित्य है; सुने जाने के कारण। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह घट की भाँति कार्य है। यहाँ कार्यत्व रूप साध्याभाव का साधक है। इस कारण श्रावण हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहा जाता है।

४. असिद्ध हेत्वाभास-लक्षण—'तत्र लिङ्गत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः'। (तर्कभाषा) लिङ्गत्व रूप से अनिश्चित हेतु 'असिद्ध' हेत्वाभास है।

'असिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति'। (तर्कसंग्रह)

असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का होता है—

(क) आश्रयासिद्ध।

(ख) स्वरूपासिद्ध।

(ग) व्याप्यत्वासिद्ध।

(क) आश्रयासिद्ध-लक्षण—'यथा गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्'। (तर्कसंग्रह)

जिस हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष न हो, उसको आश्रयासिद्ध कहते हैं। जैसे—आकाश का कमल सुगन्धित है, क्योंकि तालाब के कमल की भाँति इसमें भी कमलत्व है। परन्तु यहाँ आकाश शून्य स्थान होने से आकाश में कमल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है, आकाश का कोई आश्रय नहीं है। अतः यह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

(ख) स्वरूपासिद्ध-लक्षण—'स्वरूपासिद्धो यथा शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्'। (तर्कसंग्रह)

जिस हेतु का आश्रय तो हो, परन्तु हेतु उस आश्रय अर्थात् पक्ष में न रहता हो; जैसे शब्द गुण है, क्योंकि उसमें चाक्षुषत्व है। यहाँ पर शब्द में चाक्षुषत्व नहीं है, क्योंकि शब्द श्रवण का विषय है, चक्षु का नहीं। वह श्रवणेन्द्रिय से सुनाई पड़ता है, चक्षुरिन्द्रिय से दिखलाई नहीं देता। अतः यह 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास है।

(ग) व्याप्यत्वासिद्ध-लक्षण—'सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः'। (तर्कसंग्रह)

उपाधियुक्त हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। जैसे—'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' अर्थात् पर्वत अग्नि के कारण धूम वाला है। यहाँ अग्निरूप हेतु गीली भीगी लकड़ी के संयोग रूप उपाधि से युक्त है। उपाधि वह है, जो साध्य का व्यापक होकर हेतु का अव्यापक हो। गीले ईंधन का संयोग उपाधि है। जहाँ धुँआ है, वहाँ गीले इन्धन

का संयोग है; यह साध्यव्यापकता है। जहाँ अग्नि है वहाँ गीले इन्धन का संयोग नहीं है; यह साधन की अव्यापकता है।

५. बाधित हेत्वाभास-लक्षण—'यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः न बाधितः। यथा—वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वादिति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम्'। (तर्कसंग्रह)

जिसके साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से पक्ष में सिद्ध हो, उसे बाधित कहते हैं। जैसे 'वह्नि शीतल है' द्रव्य होने से। यहाँ वह्नि का अनुष्णत्व साध्य है, किन्तु उसका अभाव उष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। यहाँ साध्य की सिद्ध के लिए दिया हुआ हेतु प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः इसे 'बाधित हेत्वाभास' कहते हैं।

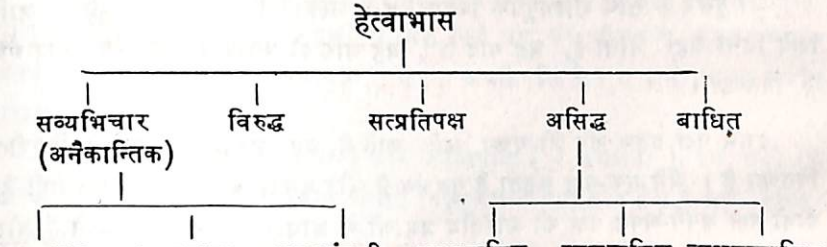

तद्विद्यसम्भाषा विचार

जो व्यक्ति किसी विषय का विद्वान् है और वह उसी विषय के विद्वान् के साथ किसी विषय पर मिलकर अथवा विरुद्ध रूप से वाद-विवाद रूप सम्भाषा करता है, वह वाद-विवाद रूप सम्भाषा तद्विद्यसम्भाषा कही जाती है।

'भिषग् भिषजा सह सम्भाषेत्'। (च० वि० ८।१५)

वैद्य को वैद्य के साथ किसी विषय पर वाद-विवाद रूप से सम्भाषण करना चाहिए। विद्वानों ने तद्विद्यसम्भाषा की प्रशंसा की है। कारण यह है कि इससे ज्ञान की वृद्धि होती है, वाणी की शक्ति बढ़ती है, सुयश का विस्तार होता है एवं अस्पष्ट विषयों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

'द्विविधा तु खलु तद्विद्यसम्भाषा भवति—सन्धायसम्भाषा, विगृह्यसम्भाषा च'। (च० वि० ८।१६)

तद्विद्यसम्भाषा दो प्रकार की होती है—

१. सन्धायसम्भाषा। २. विगृह्यसम्भाषा।

सन्धायसम्भाषा मेल पूर्वक होता है और इसमें विषयों पर विचार-विमर्श होता है। परन्तु विगृह्यसम्भाषा विवाद रूप में होती है और यह कलह का रूप धारण कर लेती है। अतः विद्वानों ने विगृह्यसम्भाषा की प्रशंसा नहीं की है। कहा गया है—

'विगृह्यभाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत्'। (च० वि० ८।२२)

अर्थात् विगृह्यभाषा किसी-किसी के साथ द्रोह रूप हो जाती है।

वाद, जल्प एवं वितण्डा विचार

'तत्र वादो नाम स यत् परेण स शास्त्रपूर्वकं विगृह्य कथयति। स च द्विविधः सङ्ग्रहेण—जल्पः वितण्डा च। तत्र पक्षाश्रितयोर्वचनं जल्पः, जल्पविपर्ययो वितण्डा। यथा—एकस्य पक्षः पुनर्भवोऽस्तीति, नास्तीत्यपरस्य, तौ च स्वस्वपक्षहेतुभिः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्भावयतः, एष जल्पः। जल्पविपर्ययो वितण्डा। वितण्डा नाम परपक्षे दोषवचनमात्रमेव'। (च० वि० ८।२८)

जो दूसरे के साथ शास्त्रपूर्वक विग्रह रूप में जीत की भावना से कलह आदि किये बिना कहा जाता है, वह वाद है। यह वाद दो प्रकार का है—१. जल्प एवं २. वितण्डा।

इसमें पक्ष ग्रहण कर जो वचन कहे जाते हैं, वह जल्प है। जल्प के विपरीत वितण्डा है। जैसे एक पक्ष कहता है पुनर्भव है और दूसरा कहता है पुनर्भव नहीं है, दोनों पक्ष अपने-अपने पक्ष को शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर स्थापित करते हैं और दूसरे पक्ष का खण्डन करते हैं, यह जल्प है। जल्प के विपरीत ही वितण्डा है। केवल दूसरे पक्ष का दोष-दर्शन ही करना और अपनी कोई युक्तिसंगत शास्त्रीय बात न करना वितण्डा है। अर्थात् उत्तरवादी की दृष्टि में पर पक्ष सर्वथा दोषयुक्त पक्ष हैं, इसी को सिद्ध करता है और अपने पक्ष के लिए कोई उपयुक्त साधन वचन नहीं प्रयुक्त करता है।

निग्रह-स्थान

'अथ निग्रहस्थानं—निग्रहस्थानं नाम पराजयप्राप्तिः, तच्च त्रिरभिहितस्य वाक्यस्यापरिज्ञानं परिषदि विज्ञानवत्यां, यद्वा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः। प्रतिज्ञाहानिः, अभ्यनुज्ञा, कालातीतवचनम्, अहेतुः, न्यूनम्, अधिकं, व्यर्थम्, अनर्थकं, पुनरुक्तं, विरुद्धं, हेत्वन्तरं अर्थान्तरं च निग्रहस्थानम्'।

(च० वि० ८।६५)

'निग्रहस्य पराजयस्य स्थानमिव स्थानं कारणमिति निग्रहस्थानम्'।

(चक्रपाणि)

पराजय के स्थान की भाँति जो स्थान अर्थात् कारण है, वे ही पराजय स्थान रूप कारण निग्रहस्थान हैं। तात्पर्य यह है कि तीन बार कहे जाने पर भी विद्वानों की सभा में किसी वाक्य का कुछ परिज्ञान न होना अथवा ऐसे वाक्य जो अननुयोज्य हैं,

उनका अनुयोग और जो अनुयोज्य है उनका अननुयोग निग्रहस्थान है। निग्रहस्थान निम्नाङ्कित हैं—

१. प्रतिज्ञाहानि
२. अभ्यनुज्ञा
३. कालातीतवचन
४. अहेतु
५. न्यून
६. अधिक
७. व्यर्थ
८. अनर्थ
९. पुनरुक्त
१०. विरुद्ध
११. हेत्वन्तर
१२. अर्थान्तर

'विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्'। (न्या० द० १।६०)

प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ प्रवृत्ति और ज्ञान है। विपरीत अथवा निन्दित प्रतिपत्ति को विप्रतिपत्ति कहते हैं। दूसरे से सिद्ध किये पक्ष का खण्डन न करना अथवा अपने पक्ष पर दिये दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। ये दोनों निग्रह अर्थात् पराजय के स्थान हैं।

विप्रतिपत्ति (विरुद्ध समझना) और अप्रतिपत्ति (न समझना), इन दोनों के विकल्प से अनेक पराजय के स्थान अर्थात् निग्रह-स्थान प्राप्त होते हैं। ये सब निग्रह-स्थान निम्न हैं—

१. प्रतिज्ञाहानि
२. प्रतिज्ञान्तर
३. प्रतिज्ञा-विरोध
४. प्रतिज्ञा-संन्यास
५. हेत्वन्तर
६. अर्थान्तर
७. निरर्थक
८. अविज्ञातार्थ
९. अपार्थक
१०. अप्राप्तकाल
११. न्यून
१२. अधिक
१३. पुनरुक्त
१४. अननुभाषण
१५. अज्ञान
१६. अप्रतिभा
१७. विक्षेप
१८. मतानुज्ञा
१९. पर्यनुयोज्योपेक्षण
२०. निरनुयोज्यानुयोग
२१. अपसिद्धान्त

पाँच हेत्वाभास, इस प्रकार कुल मिलाकर छब्बीस निग्रहस्थान हैं।

आयुर्वेद में अनुमान का सर्वाधिक प्रयोग

महर्षि चरक ने त्रिविध रोग विशेष विज्ञान का प्रतिपादन करते हुए अपने प्रमाण क्रम में तीसरा प्रमाण अनुमान कहा है—

'आप्तश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः'॥ (च० वि० ४।९)

आप्तोपदेश, प्रत्यक्षकरण तथा अनुमान प्रमाण द्वारा सम्यक्तया व्याधि को विद्वान् वैद्य को जानना चाहिए अर्थात् व्याधि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अनुमान द्वारा मनुष्य की मन्द, तीक्ष्ण, विषम एवं समभेद से जो चतुर्विध अग्नि है, उसकी परीक्षा उसकी पाचन शक्ति द्वारा करें, इसी प्रकार बल की व्यायाम शक्ति से, श्रवणादि इन्द्रियों की शब्दादि विषयों के ग्रहण से, व्यावसायिक प्रवृत्ति से ज्ञान-विज्ञान की, पर पीड़ा देने की प्रवृत्ति से क्रोध की, रोदनादि से शोक की, नाचने-गाने, बाजा बजाने एवं उत्सवादि करने से हर्ष की, विपत्ति में भी मन की अदीनता से धैर्य की, स्मरण ज्ञान से स्मरण-शक्ति की, लज्जिताकार से लज्जा की एवं अरिष्ट लक्षणों द्वारा आयु की क्षीणता की परीक्षा करें। इस प्रकार अन्य विषयों की भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

चतुर्दश अध्याय

उपमान तथा अन्य प्रमाण

उपमान की निरुक्ति—'उपमीयते अनेनेति उपमानम्'।

किसी प्रसिद्ध वस्तु की उपमा अर्थात् सादृश्य से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमिति कहते हैं।

उपमान प्रमाण-लक्षण

१. 'अथौपम्यम्—'औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनम्, यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुःस्तम्भस्येष्वासेनाऽऽरोग्यस्येति'। (च० वि० ८।४२)

किसी प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से किसी अप्रसिद्ध वस्तु की समानता का मिलान कर उसे प्रकट करना उपमान कहा जाता है। जैसे दण्ड को देखकर दण्डक रोग एवं धनुष से धनुस्तम्भ रोग का ज्ञान होता है। दण्डक रोग में मनुष्य दण्ड की भाँति और धनुस्तम्भ में धनुष की भाँति हो जाता है। इसी प्रकार इष्वास धनुषधारी से आरोग्यदाता वैद्य का अनुमान होता है। जिस प्रकार कुशल धनुषधारी अपने लक्ष्य में असफल नहीं होता है, उसी प्रकार कुशल वैद्य आरोग्य-प्रदान रूप अपने लक्ष्य में भी असफल नहीं होता है। यहाँ कार्य साधक इष्वास की उपमा से आरोग्य-प्रदान रूप कार्य साधक वैद्य का सादृश्य प्रकट किया जाता है।

२. 'प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य साधनम्।
उपमानं समाख्यातं यथा गोर्गवयस्तथा'॥ (षड्दर्शन-संग्रह)

प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध का साधन उपमान कहा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को गवय (नील गाय) का ज्ञान नहीं था और उसने जंगल के किसी व्यक्ति से सुना कि गाय की भाँति ही गवय भी होता है। जंगल में जाने पर जब उसने गो-सदृश जानवर देखा, तो उसे स्मरण हुआ कि गो-सदृश गवय होता है। तदनन्तर यह ज्ञान हुआ कि यह गवय पद वाच्य है। यहाँ 'गवयपद वाच्य' यह ज्ञान उपमिति है। गो-सदृश ज्ञान उपमान है।

३. 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'। (न्या० द० १।६)

प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से साध्य के साधनों को उपमान कहते हैं।

४. 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टार्थस्य साधनमुपमानम्'।
(डल्हणाचार्य)

प्रसिद्ध के साधर्म्य से सूक्ष्मव्यवहित दूरी के अर्थ के साधन को उपमान कहते हैं।

५. 'सादृश्यमधिकृत्य अन्येन प्रसिद्धेन अन्यस्याप्रसिद्धस्य प्रकाशनम्'।

(चरकोपस्कार)

सादृश्य के आधार पर अन्य किसी प्रसिद्ध वस्तु से अन्य किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान कर उसे प्रकाशित करना उपमान है।

६. 'उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्'। (तर्कसंग्रह)

उपमिति का करण (असाधारण कारण) उपमान है। इस प्रकार संज्ञा-संज्ञी अर्थात् पद और अर्थ इन दोनों का जो शक्तिरूप सम्बन्ध है, वह ज्ञान उपमिति है और इस उपमिति का करण सादृश्य ज्ञान है। इस प्रकार सादृश्य ज्ञान ही उपमान कहा जाता है। जैसे गवय का दृष्टान्त यहाँ ऊपर देकर बतलाया गया है।

इस प्रकार उपमान को तीन प्रकार से कहा गया है—

१. सादृश्य से असादृश्य का ज्ञान।

२. प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का ज्ञान।

३. वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान।

उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने वाले दर्शन

वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध तथा जैन दार्शनिकों ने इसकी स्वतंत्र प्रामाणिकता नहीं मानी है। वैशेषिकादि दार्शनिक अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव मानते हैं। सांख्य तथा योग दर्शन उपमान के अस्तित्व को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं। दिङ्नागाचार्य उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते। परन्तु न्यायदर्शन उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानता है और उसका यह तीसरा प्रमाण है। इस सम्बन्ध में नैयायिकों का कथन है—

१. उपमान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि उपमान प्रमाण निरूपण में जो गाय और गवय का उदाहरण दिया जाता है, यहाँ गो का ही प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, गवय का ज्ञान नहीं हुआ है। जब तक प्रमाता को गो-सदृश गवय का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक उपमान की सिद्धि नहीं होती। गाय का प्रत्यक्ष हुआ है और गवय का नहीं। इस प्रकार उपमान अर्धांश का ही ज्ञान है, न कि सर्वांश का ज्ञान। अतः उपमान का प्रत्यक्ष के अन्तर्गत समावेश नहीं हो सकता।

२. अनुमान में भी इसका समावेश सम्भव नहीं है—

(क) क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है और यहाँ गवय का प्रत्यक्षीकरण पूर्व हुआ ही नहीं है।

(ख) व्याप्ति के बिना अनुमान की सिद्धि नहीं होती और उपमान में व्याप्ति की आवश्यकता ही नहीं है।

३. शब्द प्रमाण में भी इसका समावेश इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि शब्द प्रमाण में यह निश्चित नहीं है कि जिस अर्थ का ज्ञान करना है, ज्ञाता को भी उसकी जानकारी हो, साथ ही यह भी है कि शब्द से 'गो-सदृश गवय' यह ज्ञान हो जाता है, किन्तु पिण्ड विशेष में गवय पद वाच्य का नहीं। अतः उपमान प्रमाण तीनों प्रमाणों से भिन्न और स्वतंत्र प्रमाण है।

उपमान प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता

आयुर्वेद में उपमान प्रमाण की एक नहीं अपितु सभी स्थलों पर उपयोगिता अथवा आवश्यकता है—

१. रोगों के कारण रूप निदान ज्ञान में ही प्रथम इसकी आवश्यकता होती है। जैसे किसी कारणवशात् किसी को कोई रोग हुआ और वही रोग जब दूसरे को उत्पन्न हो गया, उस दशा में रोग का कारण निश्चय करने में उपमान का ही आश्रयण करना पड़ेगा और उपमान के ही आधार पर यह निश्चित करना पड़ेगा कि जिस प्रकार उस व्यक्ति को यह रोग उस पदार्थ के सेवन से हुआ था, उसी प्रकार इसके भी रोग का कारण वही पदार्थ है। यह कारण ज्ञान उपमान के ही आधार पर होता है।

२. व्याधि का भी ज्ञान उपमान प्रमाण से होता है। जैसे दण्डक रोग का दण्ड से एवं धनुस्तम्भ का धनुष के सादृश्य से ज्ञान होता है।

३. चिकित्सा में भी उपमान की आवश्यकता पड़ती है। जैसे वैद्य को किसी रोग की चिकित्सा में रोग को दूर करने के लिए इस प्रकार सफल प्रयोग करना चाहिए, जिस प्रकार धनुष चलाने वाला अपना बाण इस प्रकार चलाता है कि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो जाता है, उसी प्रकार वैद्य भी रोगोन्मूलन रूप अपने लक्ष्य में बाण-प्रयोग रूप औषध-प्रयोग से सफल हो जाय।

४. दोषों की साम्यावस्था आरोग्य और वैषम्यावस्था रोग है। यहाँ पर जिन कारणों से दोषों की समता अथवा विषमता होती है, दोषों की समता करने वाले उन द्रव्यों के सदृश द्रव्य का सेवन और विषमता करने वाले द्रव्यों के सदृश द्रव्यों का परिज्ञान आवश्यक है। इस साम्यावस्था लाने वाले तत्सदृश द्रव्यों के उपयोग और वैषम्यावस्था लाने वाले द्रव्य सदृश द्रव्यों के परित्याग के लिए सादृश्य ज्ञान की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

इस प्रकार निदान, व्याधि विज्ञान और चिकित्सा में सर्वत्र उपमान प्रमाण की उपयोगिता है।

युक्ति प्रमाण

यद्यपि यह महर्षि चरक का चौथा प्रमाण है, फिर भी महर्षि चरक ने ही इसे विमानस्थान के चौथे अध्याय में 'अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः' यह कहकर इसे

अनुमान का ही आधार मानते हुए अनुमान का ही एक अंग बना दिया है, जिससे यह स्पष्ट हो गया है कि यह अनुमान के ही अन्तर्गत है। वैशेषिक एवं बौद्ध आदि दर्शनों ने भी युक्ति को कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है।

युक्ति-लक्षण—

१. 'बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया'॥

(च० सू० ११।२५)

जो बुद्धि अनेक कारणों के योग से उत्पन्न हुए भावों को देखती है, उसे युक्ति कहते हैं। यह युक्ति त्रैकालिक होती है, अर्थात् इससे तीनों कालों का ज्ञान होता है और धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों की सिद्धि होती है।

२. 'बहूपपत्तियोगज्ञायमानानर्थान् या बुद्धिः पश्यति, ऊहलक्षणा सा युक्तिरिति प्रमाणसहायीभूता'। (चक्रपाणि)

अनेक उपपत्तियों के योग से जानने योग्य अर्थों को जो बुद्धि देखती है, वह युक्ति कही जाती है।

३. 'युक्तिश्च योजना या युज्यते'। (च० सू० २६।३१)

किसी योजना को युक्ति कहते हैं, जो युक्ति की जाती है।

४. 'या कल्पना यौगिकी स्यात् सा तु युक्तिरुच्यते, अयौगिकी तु कल्पनापि सती युक्तिर्नोच्यते'। (चक्रपाणि)

जो कल्पना यौगिक होती है, वही युक्ति कही जाती है। जो कल्पना अयौगिक है, वह कल्पना होते हुए भी युक्ति नहीं है।

युक्ति प्रमाण का उदाहरण—

'जलकर्षणबीजर्तुसंयोगात् सस्यसम्भवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगाद् गर्भाणां सम्भवस्तथा॥
मथ्यमन्थन(क)मन्थानसंयोगाग्निसम्भवः।
युक्तियुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिवर्हणी'॥

(च० सू० ११।२३-२४)

जैसे—जल, भूमि, कर्षण (कर्षणशब्देन कर्षणसंस्कृतभूमिः), बीज और ऋतु के संयोग से सस्योत्पत्ति होती है तथा षड्धातु, पंचमहाभूत और आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है, यह युक्ति है। मथ्य, मन्थक तथा मन्थान के संयोग से अग्नि की उत्पत्ति होती है। युक्ति से युक्त वैद्य, उपस्थाता, रोगी और भेषजप्रशस्त गुणता अर्थात् सादगुण्य से व्याधि का नाश होता है। इस प्रकार उक्त युक्तियों द्वारा उक्त कार्य होते हैं। यह सब युक्ति है। मथ्य-मन्थन क्रिया के लिए नीचे का काष्ठ मथ्य, मन्थक-पुरुष, मंथान ऊपर का काष्ठ जो घूमता है, होता है।

युक्ति प्रमाण के समर्थकों की युक्ति

१. युक्ति को पृथक् प्रमाण न मानने पर कुछ लोगों का कथन है कि महर्षि चरक ने स्वयं ग्यारहवें अध्याय में सत्-असत् परीक्षण के लिए स्वतन्त्र रूप से युक्ति भी कही है।

२. चरकसंहिता में परादि गुणों में युक्ति बतलायी गयी है।

३. यदि महर्षि चरक को युक्ति प्रमाण न मानना होता, तो इसके समुल्लेख की ही क्या आवश्यकता थी, अन्य किसी ने नहीं कहा है।

४. महर्षि चरक ने जहाँ युक्ति की आवश्यकता नहीं समझी, वहाँ उसे अनुमानान्तर्गत कर दिया है। वैसे इसे प्रमाण समझा है।

युक्ति-प्रमाण का वैशिष्ट्य

यह केवल सत् एवं असत् परीक्षण तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत रोगी, व्याधिपरीक्षा, चिकित्सा तथा भैषज्यकल्पना आदि में इसका विशिष्ट स्थान है।

अर्थप्राप्ति या अर्थापत्ति

वेदान्तियों तथा मीमांसकों का यह 'अर्थापत्ति' पाँचवाँ प्रमाण है। यह अर्थापत्ति महर्षि चरक के शब्दों में 'अर्थप्राप्ति' इस नाम से समुल्लिखित है। नैयायिक इसे स्वतन्त्र प्रमाण रूप में न मानकर अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।

अर्थप्राप्ति का लक्षण—

'अथार्थप्राप्तिः—अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिः, यथा नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—अपतर्पणसाध्योऽयमिति; नानेन दिवा भोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिः—निशि भोक्तव्यमिति'।

(च० वि० ८।४८)

जहाँ एक अर्थ के कहने से दूसरे नहीं कहे हुए अर्थ की भी सिद्धि हो, अर्थात् अपर अर्थ का भी ज्ञान प्राप्त होता हो, उसे अर्थप्राप्ति कहते हैं। जैसे यह संतर्पण साध्य व्याधि नहीं है, यह कहने पर अर्थप्राप्ति होती है कि यह अपतर्पण साध्य है। इसे दिन में नहीं भोजन करना चाहिए, यह कहने पर अर्थप्राप्ति होती है कि इसे रात्रि में भोजन करना चाहिए।

अनुपलब्धि या अभाव

कुमारिल भट्ट के मतावलम्बी मीमांसक एवं वेदान्ती लोग अनुपलब्धि को भी स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं और यह उनका छठा प्रमाण है। इसके द्वारा वस्तु के अभाव का ज्ञान होता है। जैसे लेखनी होती, तो अवश्य उपलब्ध होती, किन्तु दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। यहाँ लेखनी का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। यद्यपि

यह अभाव रूप ज्ञान कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु अभाव रूप का ही ज्ञान होना 'अनुपलब्धि रूप' प्रमाण है।

इस सम्बन्ध में नैयायिकों का कथन है कि जिस इन्द्रिय से जिस विषय का ज्ञान होता है, उसी से उसके अभाव स्वरूप का भी ज्ञान होता है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः अनुपलब्धि स्वतन्त्ररूपेण प्रमाण न होकर प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत है। महर्षि चरक ने भी कहा है—

'स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः'। (च० शा० १।३०)

'सविपर्यय इति स्पर्शाभाव इत्यर्थः। यदिन्द्रिय यद्गृह्णाति तत्तस्याभावमपि गृह्णाति'। (चक्रपाणि)। स्पर्श और उसका विपर्यय स्पर्शाभाव स्पर्शनेन्द्रिय का विषय है। इसका ज्ञान इसके द्वारा ही होता है। जो इन्द्रिय जिस विषय को ग्रहण करती है, वह उसके अभाव को भी ग्रहण करती है। इस प्रकार यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जन्य ज्ञान होने से स्पष्टतया प्रमाण के अन्तर्गत है।

सम्भव प्रमाण

यह वह प्रमाण है, जहाँ किसी वस्तु के कहने पर उसके एक देश का ज्ञान न होकर उसके समग्र स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जैसे—चाकू कहने पर उसमें लगे बेंत का भी ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार राजयक्ष्मा कहने पर उसके एकादश तथा षड् सभी रूपों का ज्ञान हो जाता है। परन्तु दार्शनिकों ने इसे स्वतंत्र रूप से प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना है।

चेष्टा प्रमाण

मनुष्य की चेष्टा एवं आकृति द्वारा भी उसके हर्ष, विषाद, क्रोध तथा चिन्ता आदि शारीरिक स्थिति का परिज्ञान होता है। जैसे गूंगे की चेष्टाओं द्वारा उसके भूखेपन का पता चल जाता है। अतः इसे भी प्रमाण माना गया है। परन्तु वह सब चेष्टा जनित ज्ञान एक प्रकार के अनुमान का ही स्वरूप है। अतः नैयायिक इसे स्वतंत्र प्रमाण न मान कर अनुमानान्तर्गत ही मानते हैं। आयुर्वेद में इसकी बड़ी उपयोगिता है। इसके द्वारा व्याधि-विनिश्चय में बड़ी सहायता मिलती है। रोगी के साध्यासाध्यता के ज्ञान का तो यह एक प्रमुख साधन है।

परिशेष प्रमाण

किसी वस्तु-समुदाय विशेष से उसमें अवाञ्छित वस्तुओं को पृथक् कर वाञ्छित वस्तु को खोजकर प्राप्त कर लेना परिशेष प्रमाण कहा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह जानकारी होने पर कि वह इसी समुदाय में है, उस समुदाय विशेष से अनभीप्सित अर्थात् अवाञ्छित लोगों को पृथक् कर उस वाञ्छित पुरुष को

उस समुदाय में से जो शेष रह जाता है, खोजकर बाहर निकाल लेना परिशेष प्रमाण है।

इतिहास प्रमाण

इतिहास अतीत की घटनाओं की समीक्षा प्रस्तुत कर विचारधाराओं का क्रम-बद्ध प्रकाशन करता है, जिससे अतीतकालीन प्रवृत्तियों का परिज्ञान एवं वर्तमान तथा भविष्य की गतिविधि का विनिश्चय होता है। कहा गया है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। अर्थात् इतिहास एवं पुराणों से उपबृंहण का कार्य होता है। इतिहास स्मृति-सम्मत अस्तित्व-परम्परा का सूचक है, जब कि इतिहाह ज्ञान-परम्परा का बोधक है। वाङ्मय (वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, पुराण-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, रामायण, महाभारत, कौटिल्य का अर्थशास्त्र एवं पाणिनी की अष्टाध्यायी आदि), शिलालेख, मुद्रा, उत्खनन एवं यात्रा-विवरण आदि इतिहास के ज्ञान के लिए साधन है।

स्वतः प्रामाण्य, परतः प्रामाण्य

स्वतः प्रामाण्य का अर्थ है, जिस वस्तु की प्रामाणिकता किसी अन्य पर आश्रित न हो और इस दृष्टि से वेद स्वतः प्रमाण है। सांख्य-न्याय-वैशेषिक अपनी प्रामाणिकता को बतलाने के लिए वेदमन्त्रों का उद्धरण देते हुए अपने को वेदानुसारी मानते हैं। मीमांसा के अनुसार सद्-असद् विवेक अर्थात् धर्म का लक्षण विधि एवं निषेध के आधार पर होना चाहिए। शास्त्र जिस काम को करने योग्य कहे, वह धार्मिक होता है—'चोदनालक्षणो धर्मः'। (जैमिनी सूत्र)

मनु ने सद्-असद् विवेक अर्थात् धर्म के बारे में कहा है—

'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातः यो धर्मस्तं निबोधत ॥'
'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ॥' (मनुस्मृति २।१,१२)

अपने को उचित प्रतीत होने वाली बात या सिद्धान्त और सदाचार (Code of conduct आचार-संहिता) तभी धर्म बनते हैं, जब वह वेदानुयायी हो। इस प्रकार आयुर्वेद में वेद को ही स्वतः प्रामाण्य मानना चाहिए। अन्य सभी परतः प्रामाण्य हैं।

पञ्चदश अध्याय

पुरुष

यह आयुर्वेद जिस पुरुष के लिए प्रकाशित हुआ है, सर्वप्रथम उस पुरुष का ही सर्वात्मना परिज्ञान सभी को होना आवश्यक है। एतदर्थ इस विषय पर प्रारम्भ में ही लिखा जाना चाहिए था, किन्तु सर्वप्रथम पुरुष के अस्तित्व, स्वरूप, प्रकार एवं कार्य विस्तार की ज्ञान प्राप्ति के लिए साधन-स्वरूप पूर्व प्रतिपादित अध्यायों का ज्ञान होना अनिवार्यतः आवश्यक है। उसके विशेष ज्ञानार्थ तत्पश्चात् ही इस अध्याय का क्रम उपस्थित होता है। अतः अब 'पुरुष' नाम से यह अध्याय लिखा जाता है। वेद, उपनिषद् तथा शास्त्र सभी ने अपने-अपने शब्दों में 'पुरुष' का निरूपण किया है। आयुर्वेद के प्रवर्त्तकों ने भी अपने-अपने ढंग से पुरुष का विवेचन किया है। महर्षि चरक एवं महर्षि सुश्रुत ने पुरुष-निरूपण के सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट प्रकाश डाला है, जो सर्वथा शास्त्रसम्मत है। हमें उन्हें समझने का प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय के यथेष्ट ज्ञान से हमें इस लोक तथा परलोक में सर्वत्र सुख की प्राप्ति होती है।

सृष्टि का विकास-क्रम अथवा उत्पत्ति-क्रम

यह कार्य ईश्वर की कार्य करने की इच्छा से होता है। इसका प्रारम्भिक क्रम यह है कि यह परमाणुओं में प्रारम्भ होती है। परमाणु द्रव्य का अन्तिम अवयव है। इससे सूक्ष्म अवयव नहीं होते हैं तथा परमाणु नित्य है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु होते हैं, ऐसा वैशेषिक मत है। सर्वप्रथम इन्हीं परमाणुओं से क्रिया होती है और दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक उत्पन्न होते हैं, ऐसे ही तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक बनता है। तत्पश्चात् चतुरणुकादि क्रम से महती पृथ्वी, महत् जल, महत् तेज तथा महत् वायु उत्पन्न होता है।

विज्ञानभिक्षु का कथन है कि ईश्वर जगत् का साक्षी है, जिसके सन्निधान मात्र से प्रकृति संसार की रचना में प्रवृत्त होती है। जिस प्रकार चुम्बक के सन्निधान मात्र से लोहे में गति उत्पन्न हो जाती है, ठीक वैसे ही ईश्वर के सन्निधान से ही प्रकृति में कर्तृत्व आ जाता है। यहाँ पर शंका होती है कि यह साक्षी किसका है, इसके पूर्व सृष्टि का कोई दूसरा कर्त्ता नहीं था। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक ने कहा है—

'ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा यतः स्मृतः।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः' ॥ (च० शा० १।८३)

संसार में ज्ञानवान् 'साक्षी' कहे जाते हैं, कोई अज्ञ-पाषाणादि साक्षी नहीं कहा जाता है। अतः ज्ञानवान् होने के कारण संसार में अन्य कर्त्ता न होते हुए भी यह साक्षी कहा जाता है। समस्त आकाशादि भूतों के समस्त भाव दर्शन योग्य आत्म-साक्षिक हैं, उसी द्वारा उपलभ्यमान हैं।

इस प्रकार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। सांख्यशास्त्र का यह सिद्धान्त है और आयुर्वेद में भी इसी प्रकार प्रतिपादन किया गया है। प्रकृति एवं पुरुष के संयोग का विवेचन इस अध्याय में आगे विस्तरशः किया गया है। संक्षिप्त में यहाँ समझ लेना चाहिए कि प्रकृति और पुरुष का संयोग ही सृष्टि के उदय और संयोग-निवृत्ति ही सृष्टि-प्रलय का कारण है।

'रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्धया निवर्तते' ॥ (च० शा० १।३६)

रजोगुण और तमोगुण के योग से यह चतुर्विंशति राशि रूप संयोग अनन्त है, सत्त्वगुण की वृद्धि तथा रजोगुण और तमोगुण की निवृत्ति से पुरुष रूप यह संयोग निवर्तित होकर मोक्ष हो जाता है। तात्पर्य यह है कि बढ़ा हुआ सत्त्वगुण विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न करने के कारण संसार का कारण जो रजोगुण एवं तमोगुण है, उसे जीतकर प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से मोक्ष कर देता है।

'ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते' ॥
(च० शा० १।६७-६८)

तत्पश्चात् सम्पूर्ण सर्वाङ्ग अर्थात् अव्यक्त से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्रा, पंचतन्मात्रा से पंचमहाभूत एवं एकादश इन्द्रियाँ, इस प्रकार सभी तत्त्वयुक्त सृष्टि के आदि में पुरुष उत्पन्न होता है। प्रलयकाल में अव्यक्तरूप प्रकृति में व्यक्त रूप बुद्धयादि तत्त्व लय को प्राप्त हो जाते हैं।

अर्थात् अव्यक्त रूप प्रकृति से व्यक्त रूप महदादि महाभूतपर्यन्त प्रपंचरूपता को तथा व्यक्त से अव्यक्त अर्थात् महाभूत प्रपञ्चादि अवस्था से पुनः अव्यक्तरूपता को प्राप्त होता है। महाप्रलय में पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राओं में तन्मात्रा तथा इन्द्रियाँ, अहंकार में अहंकार और बुद्धि, बुद्धि में मूलप्रकृति तथा अव्यक्त लय को प्राप्त हो जाते हैं। मोक्ष में भी यही लय होता है।

इस प्रकार अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त का यह क्रम रजोगुण और तमोगुण से मुक्त होकर पुनः-पुनः उदय-प्रलय रूप में चक्र की भाँति घूमता रहता है। यही सृष्टि के विकास अर्थात् उदय, महाप्रलय और मोक्ष का क्रम शास्त्रसम्मत है।

महर्षि चरक का सृष्टि के सम्बन्ध में विवेचन परमाणु एवं चतुर्विंशति तत्त्ववाद के समन्वय की ओर इंगित हुआ प्रतीत होता है।

चरक-मतानुसार सर्ग-क्रम

'जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धेराऽहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते'॥

(च० शा० १।६६)

महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम 'अव्यक्त' तत्त्व, पुनः उससे बुद्धि तत्त्व, बुद्धि तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अहंकार से जो त्रिविध होता है, पञ्चतन्मात्राएँ और एकादशेन्द्रियाँ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सर्वाङ्ग की उत्पत्ति आदि सृष्टि के प्रारम्भकाल में अभ्युदित होती है।

अव्यक्त (पुरुष संसृष्ट अव्यक्त नाम मूल प्रकृति)
|
महान् वा बुद्धितत्त्व
|
अहंकार
|
सूक्ष्म पञ्चमहाभूत (पञ्चतन्मात्राएँ)
|
पञ्चमहाभूत
|

एकादश इन्द्रियाँ (इन्द्रियाँ पञ्चमहाभूत से युक्त हैं। चरकानुसार पाञ्चभौतिक हैं।

इन्द्रिय-लक्षण एवं इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति

'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा।'

(पाणियीय-सूत्र ५।२।९३)

इस शब्द से 'घन्' प्रत्यय करने से इन्द्रिय शब्द बनता है। जो लिङ्ग, दृष्ट, सृष्ट, जुष्ट और दत्त अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन्द्र की लिङ्ग (लक्षण), इन्द्र से देखा गया, सर्जन किया गया, इन्द्र से युक्त होने से तथा इन्द्र द्वारा दिये जाने से इन्द्रिय कहलाता है।

ये इन्द्रियाँ सांख्य के अनुसार सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं, इसलिए सात्त्विक अहंकारोपादनत्व इन इन्द्रियों का सामान्य लक्षण है। आयुर्वेद इन्द्रियों को पाञ्चभौतिक मानता है।

'इन इति विषयाणां नाम तान् इनः विषयान् प्रतिद्रवन्तीति इन्द्रियम्। यद्वा इन्द्रियस्य आत्मनः लिङ्गं चिह्नमुपभोगसाधनमिन्द्रियमिति'।

इन्द्रियाँ विषयों के प्रति द्रवित होती हैं अथवा आत्मा के लिङ्ग, चिह्न, उपभोग, साधन अथवा 'इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्ग ज्ञापकम्' के अनुसार ये आत्मा (चैतन्य) के लिङ्ग (ज्ञापक) होने के कारण इन्द्रिय कहलाते हैं। 'इन्द्रशब्देन प्राण उच्यते·····। यदुक्तं व्याकरणे—इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग' (चक्रपाणि)। इन्द्र शब्द से प्राण कहा गया है। इन्द्रिय इन्द्रलिङ्ग अर्थात् प्राण (जीव) लक्षण है।

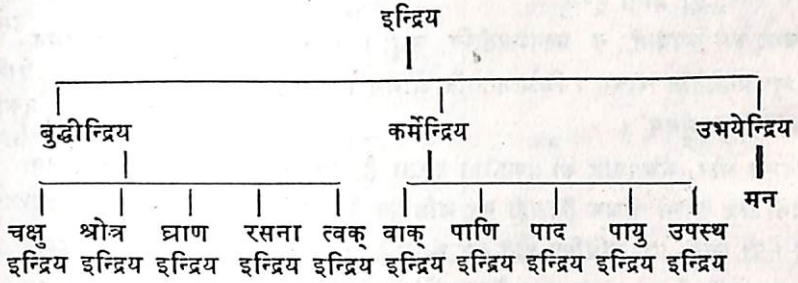

बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) निरूपण

'एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु।
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्त्तते'॥

(च० शा० १।२४)

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन तथा घ्राण पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनमें बुद्धि अर्थात् ज्ञान होता है। आकाश, वायु, अग्नि, अप तथा क्षिति, ये जो पञ्चमहाभूत हैं, प्रत्येक इन्द्रिय यथाक्रम प्राप्त उपर्युक्त एक अधिक भूत से युक्त हैं। अर्थात् ये पाँचों इन्द्रियाँ यद्यपि पाञ्चभौतिक हैं, तथापि प्रत्येक इन्द्रिय में एक-एक भूत और अधिक है। ये अपने-अपने कार्य से ही अनुमान किये जाने योग्य हैं। इन इन्द्रियों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान हेतु महर्षि चरक ने पञ्चपञ्चक का प्रतिपादन किया है।

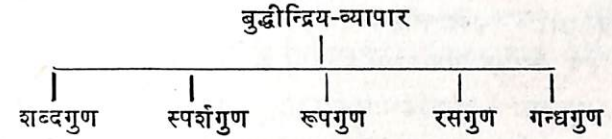

इन्द्रिय पञ्चपञ्चक

'इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियार्थाः, पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्तीत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे'। (च० सू० ८।३)

महर्षि चरक ने चरकसंहिता-सूत्रस्थान के इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय में इस प्रकार पञ्चपञ्चक प्रतिपादित किया है—१. पञ्चेन्द्रिय, २. पञ्चेन्द्रिय द्रव्य, ३. पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान, ४. पञ्चेन्द्रियार्थ एवं ५. पञ्चेन्द्रिय बुद्धि।

१. पञ्चेन्द्रियाणि—'तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि'। (च० सू० ८।८)

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन ये पाँचों पञ्चेन्द्रिय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का नाम उसके कार्य के अनुसार ही रखा गया है, जो चक्रपाणि द्वारा किये शाब्दिक विग्रह से स्पष्ट हो जाता है—

'चष्टे रूपं रूपवन्तं च प्रकाशयतीति चक्षुः। तच्चोभयनयनगोलकाधिष्ठानमेकमेव। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्। जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्। रसत्यास्वादयत्यनेनेति रसनम्। स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनम्'। (चक्रपाणि)

स्वरूप और स्वरूपवान् को प्रकाशित करता है, इसीलिए नेत्र को चक्षु कहा गया है। दोनों नेत्र के जो गोलक हैं, वहीं वह अधिष्ठित है, उसमें जो अधिष्ठित है, वही चक्षु है। दो स्थान पर अधिष्ठित होते हुए भी वह चक्षु एक ही है। इसी प्रकार इसके द्वारा सुना जाता है, अतः यह श्रोत्र है। इसके द्वारा सूंघा जाता है, अतः यह घ्राण है। इसके द्वारा रसज्ञान का आस्वादन होता है, अतः यह रसन है और इसके द्वारा स्पर्श किया जाता है, अतः यह स्पर्शन इन्द्रिय है।

२. पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—'खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति'। (च० सू० ८।९)

उक्त पाँच आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पञ्चेन्द्रिय द्रव्य हैं। द्रव्य पाँचों इन्द्रियों के निर्माता हैं।

३. पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—'अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति'। (च० सू० ८।१०)

दोनों आँख, दोनों कान, दोनों नाक, जीभ तथा त्वचा पाँचों इन्द्रियों के पाँच इन्द्रिय आश्रय अर्थात् स्थान हैं। आँख, कान, नाक दो होते हुए भी एक हैं। इन्द्रिय के अधिष्ठान होने से एक ही करके कहा गया है।

४. पञ्चेन्द्रियार्थाः—'शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः'। (च० सू० ८।११)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध पाँचों इन्द्रियों के पाँच इन्द्रिय विषय हैं।

५. पञ्चेन्द्रियबुद्धयः—'चक्षुर्बुद्ध्यादिकास्ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः, क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च, इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्'। (च० सू० ८।१२)

चक्षु आदि जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उन इन्द्रियों का उन इन्द्रियों के विषय के साथ संयोग होने से तत्-तत् इन्द्रियजन्य जो पाँच प्रकार का ज्ञान होता है, वही पञ्चेन्द्रिय ज्ञान, पञ्चेन्द्रिय बुद्धि है। वह पञ्चेन्द्रिय ज्ञान आत्मा, मन, इन्द्रिय और

इन्द्रिय विषय के सम्बन्ध से होता है। वह क्षणिक एवं निश्चयात्मक दो प्रकार का होता है। यह पञ्चपञ्चक है।

इन्द्रिय-पञ्चपञ्चक तालिका

पञ्च-इन्द्रिय	पञ्च-इन्द्रिय द्रव्य	पञ्च-इन्द्रिय-अधिष्ठान	पञ्च-इन्द्रिय-अर्थ	पञ्च-इन्द्रिय-बुद्धि
१. श्रोत्र	आकाश	दोनों कान	शब्द	श्रोत्र बुद्धि
२. स्पर्शन	वायु	त्वचा	स्पर्श	स्पर्शन बुद्धि
३. चक्षु	अग्नि	दोनों आँख	रूप	चक्षु बुद्धि
४. रसन	जल	जिह्वा	रस	रसन बुद्धि
५. घ्राण	पृथ्वी	दोनों नाक	गन्ध	घ्राण बुद्धि

पञ्चकर्मेन्द्रिय-निरूपण

'हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्मणि॥
पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वागिन्द्रियं वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता'॥

(च० शा० १।२५-२६)

हस्त, पाद, गुदा, उपस्थ तथा वाक् इन्द्रिय, ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनमें हस्त का कार्य ग्रहण एवं धारण, पाद का गमन कर्म, पायु तथा उपस्थ का कार्य मल-मूत्र-विसर्जन एवं जिह्वा (वागिन्द्रिय) का कार्य वाक् (वाणी) है। सत्य वाणी ज्योति-स्वरूप उभयलोक-प्रकाशक और अनृत वाणी अन्धकार-स्वरूप है।

'वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्'। (सां० का० २८)

सांख्य के अनुसार वागिन्द्रिय का कार्य वचन, हस्त का आहरण, पाद (पैर) का विहरण, पायु (गुदा) का उत्सर्ग (मल-उत्सर्जन) तथा उपस्थ (लिङ्ग) का आनन्द है।

कर्मेन्द्रिय-व्यापार

वचन	आहरण (आदान)	विहरण (गमन)	मलोत्सर्ग	आनन्द (रमण)

इन्द्रियों की वृत्तियाँ

'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्' ॥
(सां० का ० २८)

रूपादि पाँचो अर्थों का आलोचन करना मात्र ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ है । वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द, ये वृत्तियाँ कर्मेन्द्रियों की है ।

इन्द्रियों का विषय

'बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि' ॥ (सां० का० ३४)

दश बाह्येन्द्रियों में से पाँच चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष (स्थूल) और अविशेष (सूक्ष्म) विषयों को ग्रहण करती हैं । जिनमें योगियों की ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म और स्थूल दोनों विषयों को ग्रहण करती हैं और साधारण लोगों की ज्ञानेन्द्रियाँ केवल स्थूल शब्दादि का ही ग्रहण करती हैं और पाँच वागादि कर्मेन्द्रियों में से वागिन्द्रिय शब्द का जनक होने से केवल स्थूल शब्द को ही ग्रहण करती है । सूक्ष्म वागिन्द्रिय का विषय नहीं होता, क्योंकि वागिन्द्रिय और सूक्ष्म शब्द (शब्दतन्मात्र) दोनों एक ही अहंकार से उत्पन्न होते हैं । शेष पाणि, पाद, पायु (गुद) और उपस्थ, इन चार कर्मेन्द्रियों के पाँच-पाँच विषय होते हैं, क्योंकि पाणि, पाद, गुद और उपस्थ से ग्रहण करने योग्य पदार्थ पञ्च शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वरूप है, इसलिए ये इनके परिणाम स्थूल घट-पटादि विषयों को ग्रहण करते हैं ।

इन्द्रियों का भौतिकत्व

चरकसंहिता में इन्द्रियों को भौतिक कहा गया है, जब कि ईश्वरकृष्ण इन्द्रियों को आहंकारिक मानते हैं । चिकित्साशास्त्र में पाञ्चभौतिक द्रव्यों के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से पाञ्चभौतिक इन्द्रियों के विकारग्रस्त होने पर पाञ्चभौतिक द्रव्यों से संशोधन एवं शमनकारी आदि द्रव्यों के सम्यक् योग से चिकित्सा होती है । इस प्रकार भी इन्द्रियाँ पाञ्चभौतिक सिद्ध होती है । सुश्रुतसंहिता भी इन्द्रियों को भौतिक मानता है—'भौतिकानीन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्णयन्ते, तथेन्द्रियार्थाः' । (सु० शा० १।१४)

अव्यक्त एवं व्यक्त निरूपण

यहाँ महर्षि चरक ने तीसरे प्रकार के पुरुष का, जो कर्मपुरुष है, वर्णन करते हुए चतुर्विंशति तत्त्वमय पुरुष का ही प्रतिपादन किया है । परन्तु महर्षि सुश्रुत ने पञ्चविंशति तत्त्वात्मक कर्मपुरुष कहा है । सांख्यदर्शन ने भी पञ्चविंशति तत्त्वमय पुरुष का ही निरूपण किया है, जो इसी अध्याय में सुश्रुतानुमत पुरुष-विवेचन स्थल

पर सविस्तार कहा गया है। इस प्रकार आचार्यों एवं दर्शनकारों में विरोध प्रकट होता है। इस पर चक्रपाणि ने कहा है—

'तथाऽपीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादिव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्यते, तेन चतुर्विंशतिकः पुरुषः इत्यविरुद्धम्'।

(चक्रपाणि)

प्रकृति से भिन्न जो उदासीन पुरुष है, उसको अव्यक्त के साधर्म्य से अव्यक्त प्रकृति में ही प्रक्षिप्त कर अव्यक्त शब्द से ही उस पुरुष को ग्रहण करते हैं। इससे 'चतुर्विंशतिक पुरुष' इस कथन से कोई विरोध नहीं पड़ता है। सारांश यह है कि मूल प्रकृति जो 'अव्यक्त' है, उसको मूल प्रकृति तथा उसी में पुरुष को प्रक्षिप्त कर अव्यक्तातिरिक्त कोई पचीसवाँ पुरुष न मानकर अव्यक्त को ही आत्मरूप पुरुष मान लिया गया है। अतः कहा भी है—

'अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः।
तस्माद्यदन्यत्तद्व्यक्तं वक्ष्यते चापरं द्वयम्॥
व्यक्तमैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत् पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्'॥

(च० शा० १।६१-६२)

अव्यक्त, आत्मा, क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु तथा अव्यय पर्यायवाचक शब्द हैं। अव्यक्त नित्य अचिन्त्य है। अव्यक्त मूल-प्रकृति है, इसके अतिरिक्त प्रकृति का अन्यतम कार्य महदादिक अनित्य है। उदासीन पुरुष तो नित्य ही है और अव्यक्त शब्द से कहा गया है। उस आत्मा से अन्यत् जो कुछ है, वह सब आत्मव्यतिरिक्त व्यक्त है। इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त दो भाग में सब विभक्त हैं। इनके जानने के दो और प्रकार कहे गये हैं, जो इन्द्रियों के ग्रहण योग्य हैं, वह ऐन्द्रियक अर्थात् व्यक्त हैं। एतदतिरिक्त जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण योग्य नहीं हैं, वह अतीन्द्रिय अव्यक्त है। 'लिङ्गग्राह्यम्' लक्षणों द्वारा अनुमान योग्य है।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ निरूपण

'इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्।
अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः'॥ (च० शा० १।६५)

अव्यक्त वर्जित सब महदादिक क्षेत्र कहा गया है और महर्षियों ने इस क्षेत्र का 'क्षेत्रज्ञ' अव्यक्त को बतलाया है। गीता में भी कहा गया है—

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'। (गीता १३।१)

राशिपुरुष

'बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः'॥ (च० शा० १।३५)

बुद्धि, बुद्धि कथन से अहंकार, इन्द्रियाँ, मन एवं अर्थ के योगधर को 'परम' अर्थात् अव्यक्त जानना चाहिए। सारांश यह है कि मूल प्रकृति, महदादि सप्त प्रकृति एवं षोडश विकार यह चतुर्विंशति तत्त्व 'राशिपुरुष' संज्ञक है।

विभु (व्यापक) आत्मा होने पर पर्वतादि से छिपी वस्तुओं के अज्ञान का कारण

'विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान्।
मनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम्' ॥
(च० शा० १।८०)

आत्मा सर्वगत एवं महान् है। इसी कारण इसका विभुत्व है। आत्मा सर्वगत होते हुए भी तत्तत् शरीर में नियत होने से सर्व शरीर के ज्ञान में समर्थ नहीं है, क्योंकि ज्ञान के साधन करण (इन्द्रियाँ) हैं, वे प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् हैं। प्रत्येक शरीर की आत्मा अपने शरीर के ज्ञान साधनों द्वारा अपने शरीर के ही ज्ञान में सक्षम है। इसी कारण शैल, कुड्य (पर्वतादि) का ज्ञान उसे नहीं हो पाता है। मनस के समाधान अर्थात् समाधि में तिरोहित वस्तु का भी ज्ञान होता है। योगियों को यह ज्ञान मन की समाधि से होता है। वह तिरोहित वस्तु को भी मन की समाधि से देखते हैं।

वेदनाधिष्ठान

'वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना' ॥ (च० शा० १।१३६)

वेदना के अधिष्ठान केश, लोम, नख का अग्रभाग, अन्न का मल (पुरीष), द्रव (मूत्र) तथा गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध) को छोड़कर मन तथा इन्द्रिय सहित देह है।

वेदनानाशहेतवः

'योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः' ॥
(च० शा० १।१३७)

योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष में आत्यन्तिक वेदनाओं का नाश होता है। योग मोक्षप्रवर्तक अर्थात् मोक्ष का कारण है। चिकित्सा द्वारा आंशिक रूप से वेदनाओं का नाश होता है।

सुख-दुःख के कारण

'नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः ॥

सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक् ।
न सुखं, कारणं तस्माद् योग एव चतुर्विधः' ॥
(च० शा० १।१३०-१३१)

सुख-दुःख के कारण न इन्द्रियाँ हैं, न अर्थ 'विषय' है, किन्तु सुख-दुःख के कारण चतुर्विध योग हैं। इन्द्रियाँ तथा विषय के होते हुए भी योग बिना सुख-दुःख नहीं होता है। इसलिए चतुर्विध योग सुख-दुःख कारण है। सारांश यह है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ समयोग सुख, अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग दुःख के कारण हैं।

सुश्रुतानुमत पुरुष-निरूपण

'आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु सञ्चरन्ति धर्माधर्मनिमित्तम् । त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहित-रेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति । स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः' । (सु० शा० १।१७)

आयुर्वेदशास्त्र में जो क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष कहे गये हैं, वे सर्वगत नहीं हैं। परन्तु वह सर्वगत न होते हुए भी नित्य हैं और वे अपने धर्माधर्म, शुभाशुभ एवं सत्-असत् कर्म के अनुसार तिर्यग्-योनि, मानुष-योनि तथा देव-योनि में संचरण करते हैं। इनमें देव-योनि तो कदाचित् ही कोई प्राप्त करता है, क्योंकि यह बड़े धार्मिक कार्य से प्राप्त होती है। अतः महर्षि ने भी देवयोनि पश्चात् ही कहा है। अधिकतर जन अधर्म निमित्त तिर्यग्-योनि तथा धर्माधर्म निमित्त मानुष-योनि को ही प्राप्त करते हैं। अब यहाँ पर यह भी शङ्का उत्पन्न होती है कि वे चैतन्यस्वरूप जीवात्मा परम सूक्ष्म है, किस प्रकार उनकी सत्ता प्रतीत होती है। इसके लिए महर्षि ने कहा है कि वे अनुमान ग्राह्य हैं। वे परम सूक्ष्म, चैतन्यस्वरूप तथा नित्य हैं। पाञ्चभौतिक शुक्रशोणित संयोग में प्रकट होते हैं। इसी कारण सूक्ष्म पुरुष और पञ्च महाभूत का संयोग 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष' कहा गया है।

'एष एव च सूक्ष्मपुरुषाणां पञ्चमहाभूतानाञ्च संयोगो वैद्यके षड्धातुकः पुरुषः परिभाषितः' । (डल्हण)

ऐसा ही डल्हण ने भी कहा है कि यही सूक्ष्म पुरुष और पञ्चमहाभूतों का संयोग आयुर्वेद में 'षड्धातुकपुरुष' कहा है। यही कर्मपुरुष है, जो कर्मफल को भोगता है, यही चिकित्साधिकृत है, अर्थात् इसी की चिकित्सा होती है और यही चिकित्सित कर्मफल को प्राप्त करता है। महर्षि सुश्रुत ने प्रारम्भ में ही क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष को नित्य एवं असर्वगत कहा है और वह स्वकर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करता है।

'न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्रज्ञा नित्याश्च'। (सु० शा० १।१६)

इसी प्रकार भोज ने भी कहा है—

'शुभाशुभाभ्यां कर्माभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः।
देहाद् देहान्तरं याति कृमिवत् शाश्वतोऽव्ययः॥
नित्य इत्युच्यते सद्भिः सन्नकारणवान् यतः'।

शुभाशुभ कर्मानुसार मन की गति से एक देह से दूसरी देह को कृमिवत् जाता है। यह शाश्वत, अव्यय तथा विद्वानों द्वारा नित्य कहा गया है। यह नित्य इसलिए है कि यह सत् तथा अकारणवान् है। इसका कोई कारण नहीं है। इस सम्बन्ध में सांख्यदर्शन का कथन है—

'शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्'। (सां० द० १।१३९)

शरीर (मन) बुद्धि से पुरुष भिन्न है।

'अधिष्ठानाच्चेति'। (सां० द० १।१४२)

पुरुष देहादि पर अधिष्ठाता है। अधिष्ठाता होने से भी वह देहादि से भिन्न है। इसी प्रकार आगे भी सांख्यदर्शनकार ने कहा है कि वह भोक्ता होने तथा देह छोड़कर मोक्ष की इच्छा करने से देहादि पर अधिष्ठाता है, अतः वह स्वयं भिन्न है।

'जन्मादि व्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्'। (सां० द० १।१४९)

जन्मादि व्यवस्था अर्थात् पुरुष के जन्म-मरण से एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर में जाने से यह सिद्ध होता है कि यदि पुरुष एक, विभु, सर्वव्यापक होता तो देह से निकलना, आना-जाना आदि व्यवस्था न होती। इससे यह सिद्ध है कि पुरुष अनेक (असंख्य) हैं, एक नहीं है।

'पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः'। (सां० द० ६।४५)

यहाँ भी कहा है—व्यवस्था से पुरुष का बहुत होना सिद्ध है। यदि पुरुष एक होता, तो जन्म-मरण व्यवस्था दृष्टिगोचर न होती। किन्तु व्यवस्था तो ऐसी है कि कोई जन्म लेता है, तो कोई मृत्यु को प्राप्त होता है। इससे पुरुष का बहुत होना पाया जाता है।

'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'। (न्या० द० १।१९)

मर कर फिर जन्म लेना प्रेत्यभाव कहा जाता है। इससे एक देह को त्याग कर अन्य देह में जाना अर्थात् जन्मान्तर माना है। इससे जीव अनेक सिद्ध होते हैं, क्योंकि जो एक विभु है, वह कहीं जाता नहीं है।

'सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्।
... ...व्यवस्थातो नाना'॥ (वै० द० ३)

सुख, दुःख और ज्ञान की सिद्धि में विशेष न होने से आत्मा एक ही जान पड़ता है। जैसा सुख-दुःख ज्ञान एक शरीर में है, वैसा ही सभी शरीर में है। कुछ विशेष

नहीं है। इस कारण सभी शरीर में एक ही आत्मा प्रतीत होती है। परन्तु इसका उत्तर दूसरे सूत्र से हो जाता है। व्यवस्था के भेद से नाना अर्थात् अनेक हैं। सुख-दुःख-ज्ञानादि लिङ्ग यद्यपि सब शरीर में पाये जाते हैं, तथापि एक काल में एक ही प्रकार का सुख और दुःख का ज्ञान सबके शरीर में नहीं पाया जाता है। जैसे—जिस समय मोहन सुख का अनुभव करता है, उस समय में सोहन दुःख का अनुभव करता है और धनञ्जय दोनों के सुख-दुःख को जानता है। इसलिए सुख और दुःख का ज्ञान सब में समान होने पर भी एक काल में सबको ज्ञान नहीं होता, एक को ज्ञान होने पर भी सबको ज्ञान नहीं होता, एक को सुख व दुःख होने पर भी सबको सुख व दुःख नहीं होता। अतः सुख, दुःख और ज्ञान की व्यवस्था होने से सभी शरीर में एक आत्मा नहीं है, अपितु अनेक हैं। यदि यह कहा जाये कि आत्मा का अनेकत्व युक्ति से सिद्ध किया जाता है, न कि शास्त्र से। ऐसी स्थिति में शास्त्रकार का यह वचन इसे और स्पष्ट कर देता है—

'शास्त्रसामर्थ्याच्च'। (न्या० द० ३)

शास्त्र के सामर्थ्य से भी आत्मा अनेक सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र ४८ में कहा गया है—"जीवा जीवेषु मामकाः।"

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम्'। (कठोपनिषत् २।२।१३)

इस प्रकार वेद, उपनिषद् आदि प्रमाणों से जीवात्मा का अनेक होना पाया जाता है।

'नाद्वैत श्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्'। (सां० द० १।१५४)

सांख्यदर्शनाचार्य ने कहा है कि जो श्रुति आत्मा के अद्वैत का प्रतिपादन करती है, उनसे विरोध इसलिए नहीं होता कि जीव अनेक होने पर भी उनकी जाति एक है। उसी का वर्णन वे श्रुतियाँ करती हैं। पुनः कहा गया है—

'नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः'। (सां० द० ५।६१)

आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) से उसका भेद प्रतीत होता है, इस कारण अद्वैत (केवल एक आत्मा) नहीं है।

'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्'। (वै० द० २।३।१९)

देह छोड़ना अर्थात् शरीर से निकलना, गति करना अर्थात् चलना, जाना, आगति अर्थात् पुनः आना, यह गमनागमन जीव में होता है। इससे भी जीवों का अणुत्व और बहुत्व सिद्ध है।

'नाऽणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्'। (वै० द० २।३।२१)

यदि यह कहा जाय कि आत्मा अणु नहीं है, क्योंकि श्रुति उसको विभु कहती है तो ऐसा नहीं है, क्योंकि जिन श्रुतियों में आत्मा को विभु (व्यापक) कहा गया है, वहाँ परमात्मा का प्रकरण है, जीवात्मा तो अणु है।

'अंशो नानाव्यपदेशात्.....'। (वे० द० २।३।४३)

नाना अर्थात् बहुत अनेक इस कथन से जीवात्मा अंश है। यहाँ स्पष्टतया जीवात्मा को 'नाना' संख्या वाला बतलाया गया है।

आत्मा अर्थात् पुरुष प्रति शरीर में एक ही है अथवा भिन्न-भिन्न अर्थात् अनेक, इस सम्बन्ध में ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका के वचन तथा उस पर पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी की टीका इस प्रकार है—

'जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव'॥

(सांख्यकारिका १८)

१. 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्'—जन्म, मृत्यु और इन्द्रियाँ प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न हैं। यदि सभी शरीर में एक ही पुरुष होता, तो एक के जन्म लेने पर सभी जन्म ग्रहण करते, एक के मरने पर सभी मर जाते, किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे यह सिद्ध है कि प्रत्येक शरीर में पुरुष भिन्न-भिन्न है।

२. 'अयुगपत् प्रवृत्तेश्च'—यदि सभी शरीर में एक ही पुरुष होता, तो एक पुरुष की धर्म में प्रवृत्ति होने से सभी पुरुष धार्मिक हो जाते। परन्तु देखा यह जाता है कि एक साथ सबकी एक ही ओर प्रवृत्ति नहीं होती। किसी की धर्म में, तो किसी की वैराग्य में, किसी की ज्ञान में, किसी की भक्ति में। इस प्रकार विभिन्न कर्मों में प्रवृत्ति देखने से प्रत्येक शरीर में पुरुष भिन्न-भिन्न है, यह सिद्ध होता है।

३. 'त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव'— अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के परिणाम भेद से भी पुरुष का बहुत्व सिद्ध होता है। जैसे—एक पुरुष के तीन पुत्र एक ही भार्या से उत्पन्न हुए। उनमें एक सात्त्विक, पवित्र, सुखी, मेधावी, तो दूसरा दुर्मेधा तथा दुःखी और तीसरा तमोगुणी, मूर्ख तथा नास्तिक होता है। यदि एक ही पुरुष है, तो एक के सात्त्विक, राजस अथवा तामस होने पर सभी को वैसा ही होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे भी पुरुष का बहुत्व सिद्ध होता है।

पुरुष ही सबका कारण क्यों कहा गया है ?

'भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्।
न स्युः कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद् यदि॥
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद् यदि।
कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः॥

न चेत् कारणमात्मा स्याद्भावादयः स्युरहेतुकाः ।
न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात् प्रयोजनम्' ॥
(च० शा० १।३९-४२)

यदि पुरुष न हो, तो भाः (प्रतिभा), तमः (मोह), सत्य-असत्य, ज्ञान, शुभा-शुभ कर्म, कर्त्ता (करने वाला) और बोद्धा (ज्ञाता) न हो। यदि पुरुष न हो, तो आश्रय (शरीर), सुख, अर्ति (पीडा-दुःख), गति (गमन), आगति (आगमन), वाक् (वाणी), विज्ञान (शास्त्रार्थ-ज्ञान), शास्त्र, जन्ममरण तथा बन्ध-मोक्ष (जीवन्मुक्ति) आदि कुछ भी न हो। इन सबका कारण पुरुष ही है। पुरुष के होने से ही ये सब होते हैं। भाः, तम आदि सबका कारण आत्मा ही है। भाः, तम सभी धर्माधर्म-जन्य होते हैं। धर्माधर्म आत्मा न होने पर निराश्रय हो जाने से नहीं हो सकते हैं। सत्य धर्ममूलक होने से उपादेय और असत्य अधर्ममूलक होने से अनुपादेय है। ये सब आत्मा के स्थित न होने पर नहीं होंगे। इसी प्रकार आत्मा का भोगायतन शरीर भी आत्मा के न होने पर नहीं होगा। विज्ञान, शास्त्र आदि का ज्ञाता आत्मा बिना ज्ञान ही नहीं होगा। इन सब अनेक कारणों से कारणज्ञों ने पुरुष को ही सबका कारण माना है। यदि आत्मा कारण न हो, तो 'खादि' सब बिना कारण हो जायेंगे। न उनमें ज्ञान होगा और न उनसे कोई प्रयोजन होगा। इसलिए सबका कारण वह पुरुष 'आत्मा' ही है।

सारांश यह है कि जिस प्रकार मिट्टी, दण्ड और चक्र के रहते हुए कुम्भकार के बिना घट नहीं बन सकता है; मिट्टी, तृण तथा काष्ठ रहते हुए भी गृहकार के बिना घर नहीं बन सकता, ठीक उसी प्रकार यह शरीर भी उस पुरुष के बिना सम्भव नहीं है। अतः आगमादि सभी प्रमाणों द्वारा पुरुष ही सबका कारण माना गया है। यह सर्वथा निर्विवाद एवं निर्णीत है। (च० शा० १।४३-४४)

सुश्रुत एवं सांख्य-सम्मत सृष्टि-विकासक्रम

'सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भव-हेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्'।

'तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लिङ्ग एवाह-ङ्कार उत्पद्यते। स च त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति'।

'तत्र वैकारिकादहङ्कारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि उभयात्मकं मनः'।

'भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः। एवमेषा तत्त्वचतु-र्विंशतिर्व्याख्याता'।

'तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः। कर्मेन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि। अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः'। (सू० शा० १।२-७)

'अव्यक्त' नाम की प्रकृति है। मूल प्रकृति इसका अपर पर्याय है। सभी प्राणियों का कारण, स्वयं अकारण (कारण रहित), सत्त्व, रज, तम स्वरूप, आठ रूपों वाला (अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्ररूप), सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति का कारण 'अव्यक्त' नाम की प्रकृति है। यह एक, अनेक, क्षेत्रज्ञ कर्मपुरुष का अधिष्ठान उसी प्रकार है, जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जलवाहिनी अर्थात् नदियों का स्थान है। उस अव्यक्त से उन्हीं लक्षणों वाला अर्थात् सत्त्व, रज, तम स्वरूप महान् उत्पन्न होता है, उस महान् अर्थात् महत् तत्त्व से सत्त्व, रज, तम लक्षणों वाला अहङ्कार उत्पन्न होता है। वह अहङ्कार तीन प्रकार का है—१. वैकारिक (सात्त्विक), २. तैजस (राजस) एवं २. भूतादि (तामस)। इनमें वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्कार से तैजस (राजस) अहङ्कार की सहायता से इन्हीं लक्षणों वाली (सात्त्विक-राजस) एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वे इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं—१. श्रोत्र, २. त्वक्, २. चक्षु, ४. रसन एवं ५. घ्राण (ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ); १. वाक् (वाणी), २. हस्त, ३. उपस्थ (शिश्न-भग), ४. गुदा एवं ५. पाद (ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तथा एक मन, जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है। भूतादि (तामस) अहंकार से भी तैजस (राजस) अहंकार की सहायता से इन्हीं लक्षणों वाले (तामस-राजस) पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। ये तन्मात्र हैं—१. शब्दतन्मात्र, २. स्पर्शतन्मात्र, ३. रूपतन्मात्र, ४. रसतन्मात्र एवं ५. गन्धतन्मात्र। इन तन्मात्राओं के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध विशेष हैं। इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी—ये पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। इस प्रकार ये कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व कहे गये हैं।

इनमें पञ्चबुद्धीन्द्रिय के विषय यथाक्रम शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध और पञ्चकर्मेन्द्रिय के विषय वचन, आदान, आनन्द, विसर्ग तथा विहरण हैं। इस प्रकार अव्यक्त, महान्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ, ये कुल आठ प्रकृति और शेष षोडश विकार हैं। विकारों का भी वर्णन प्रसङ्गवश यहाँ प्रकृति के साथ ही किया गया है।

पञ्चतन्मात्र

भूतादि (तामस) अहङ्कार से तैजस (राजस) अहङ्कार की सहायता से सूक्ष्म तत्त्व रूप पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं, जो क्रमशः पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति के बीजभूत अर्थात् कारणस्वरूप हैं। ये अहङ्कार से उत्पन्न होकर महाभूतों को उत्पन्न करती हैं, इसलिए प्रकृति विकृति है। ये अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। तन्मात्र

ही ऐसा तत्त्व है, जिसमें केवल मात्र अपना धर्म होता है। ये पाँच होते हैं, पाँचों तन्मात्राएँ नित्य, सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय होती हैं। 'तन्मात्राणि अविशेषाः'। सांख्यदर्शन ने सुख-दुःख-मोहादि धर्म से युक्त न होने के कारण इसे अविशेष कहा है। वैशेषिकों ने इसी को परमाणु कहा है। चरक ने इसी को सूक्ष्मभूत कहा है। इस प्रकार वैशेषिकों का परमाणु, सांख्य की तन्मात्रा तथा चरक का सूक्ष्मभूत एक ही तत्त्व है। इन एक, दो, तीन, चार, पाँच तन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनका उत्पत्ति-क्रम इस प्रकार है—

१. आकाश —सर्वप्रथम शब्द तन्मात्र से शब्द गुणात्मक आकाश महाभूत उत्पन्न होता है।

२. वायु—शब्द तथा स्पर्श तन्मात्र से शब्द और स्पर्श गुण युक्त वायु महाभूत उत्पन्न होता है।

३. अग्नि—शब्द, स्पर्श तथा रूप तन्मात्र से शब्द, स्पर्श तथा रूप गुण युक्त अग्नि महाभूत उत्पन्न होता है।

४. जल—शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस तन्मात्राओं से शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस गुणात्मक जल महाभूत उत्पन्न होता है।

५. पृथिवी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्राओं से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध गुणात्मक पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति होती है। (सारणी पृष्ठ १९६ पर देखें)

सांख्यदर्शनानुसार प्रकृत्यादि तत्त्व एवं पुरुष-निरूपण

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च-तन्मात्राण्युभयेन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः'।

(सा० द० १।६१)

सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ एवं दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्च-कर्मेन्द्रियाँ) एवं मन तथा पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चस्थूल महाभूत, इस प्रकार कुल ये चौबीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है, यही पञ्चविंशति गण कहा गया है।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'॥

(सांख्यकारिका ३)

ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति, विकृति एवं पुरुष को चार भागों में विभक्त कर वर्णन किया है—१. प्रकृति, २. प्रकृति-विकृति, ३. केवल विकृति एवं ४. न प्रकृति, न विकृति।

यहाँ जो मूल प्रकृति है, जिसका अपर नाम अव्यक्त है, प्रधान प्रकृति है। यह किसी से न उत्पन्न होने के कारण विकार रहित है। यही समस्त संसार का कारण है। इसी से महदादि तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। महान्, अहङ्कार तथा पञ्च-तन्मात्राएँ ये सातों तत्त्व प्रकृति-विकृति उभय रूप हैं। कारण यह है कि महान्

सांख्य-सम्मत सृष्टि-विकासक्रम

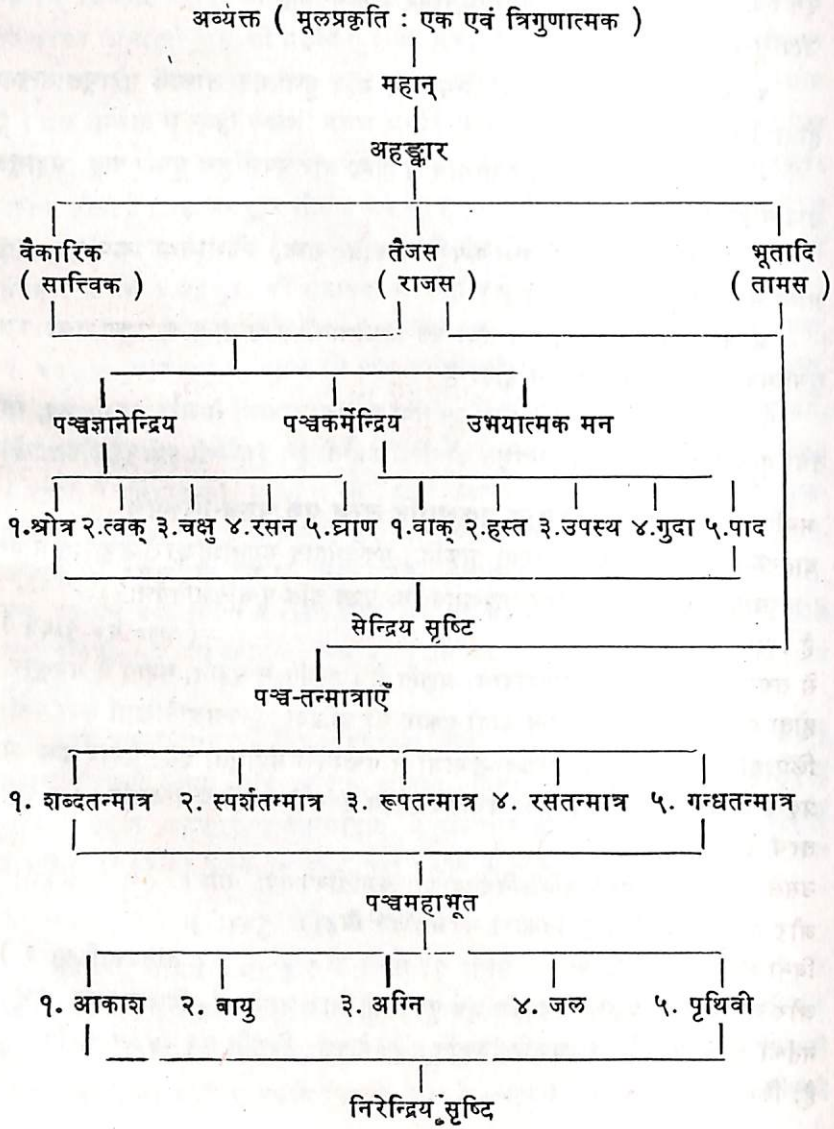

अव्यक्त से उत्पन्न होता है और अहङ्कार को उत्पन्न करता है। पञ्चतन्मात्राएँ अहङ्कार तत्त्व से उत्पन्न होती हैं और पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करती हैं। मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत ये सोलह विकार हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है, जो न प्रकृति है और न विकृति है। अर्थात् पुरुष न किसी को उत्पन्न करता है और न किसी से उत्पन्न ही होता है। यह कार्य-कारण रहित है।

सांख्यदर्शन सम्मत पञ्चविंशति तत्त्व

१. अव्यक्तनाम मूलप्रकृति	केवल प्रकृति एक
२. महान् अहङ्कार पञ्चतन्मात्रा	प्रकृति-विकृति उभयरूप सात
३. पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय उभयात्मक मन पञ्चमहाभूत	केवल विकृति सोलह
४. पुरुष	प्रकृति-विकृति दोनों से भिन्न, एक

अचेतन प्रकृति होते हुए भी प्रकृति के साथ पुरुष के संयोग का हेतु

'तत्र सर्वं एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्था प्रवृत्तिमुपदिशन्ति। क्षीरादीश्च हेतूनुदाहरन्ति'। (सु० शा० १।८)

यहाँ समस्त अव्यक्तादि चतुर्विंशति तत्त्व का जो यह वर्ग है, वह अचेतन (जड़) है। पुरुष पचीसवाँ तत्त्व है, वह पुरुष कार्य अर्थात् कार्यस्वरूप महदादि विकार-गण से तथा कारण अर्थात् मूलप्रकृति से संयुक्त होकर इस अचेतन वर्ग का चैतन्यकारक होता है। अचेतन होते हुए भी प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिए होती है, ऐसा आचार्यों का उपदेश है। जैसे—अबोधवत्स की वृद्धि के लिए दूध प्रवृत्त होता है। चैतन्य युक्त पुरुष और प्रकृति के संयोग से उससे उत्पन्न हुए सभी तत्त्व चेतना युक्त हो जाते हैं। जब तक प्रकृति पुरुषाधिष्ठित नहीं होती, तब तक उससे महदादि तत्त्व उत्पन्न नहीं होते। पुरुष सचेतन होते हुए निष्क्रिय (अकर्त्ता) और प्रकृति क्रियावर्ती (कर्मी) होते हुए भी अचेतन के कारण दोनों संयुक्त हुए बिना स्वतन्त्र रूप से सर्गोत्पत्ति नहीं कर सकते हैं। सृष्टि का कार्य सचेतन पुरुष और जड़ प्रकृति के संयोग से ही प्रारम्भ होता है। नाना प्रकार के हावभाव से युक्त नर्तकी की भाँति प्रकृति उपभोग्य वस्तुओं द्वारा पुरुष को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु पुरुष को जब ज्ञान हो जाता है, तब वह अपना पृथक्त्व समझने लगता है

और प्रकृति उससे पृथक् हो जाती है, उस अवस्था में पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है। कहा भी गया है—

'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य'।

(सा० द० ३।५९)

सांख्यदर्शन में कहा गया है कि दूध अचेतन है, तथापि बछड़े को पुष्ट करता और बल देता है, उसके लिए प्रवृत्त होता है। वैसे ही प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष के भोग के लिए चेष्टा करती है।

'नर्तकीवत्प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात्'।

(सा० द० ३।६९)

नृत्य करने वाली नर्तकी (नटनी) नाच पूरा हो जाने पर शान्त होकर बैठ जाती है। ठीक उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति करती हुई प्रकृति भी अपना काम पूरा कर चुकने पर निवृत्त अर्थात् उपरत हो जाती है।

प्रकृति-पुरुष का साधर्म्य-वैधर्म्य

समान धर्म साधर्म्य और असमान धर्म वैधर्म्य कहा जाता है। यहाँ प्रकृति और पुरुष में कितना समान और कितना असमान धर्म है, उसका महर्षि सुश्रुत ने वर्णन किया है—

साधर्म्य—

'उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यपरौ, उभौ च सर्वगताविति'।

(सु० शा० १।९)

प्रकृति एवं पुरुष दोनों अनादि, अनन्त, अलिङ्ग (निराकार), नित्य, अपर ('न विद्यते अपरो याभ्यां तौ अपरौ' अर्थात् जिनसे अपर न हो) तथा सर्वगत (सर्वव्यापक) है।

वैधर्म्य—

प्रकृति—'एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति'।

(सु० शा० १)

प्रकृति एक, अचेतन, त्रिगुणात्मिका सत्त्वरजस्तमोरूप, बीजधर्मिणी, प्रसवधर्मिणी तथा अमध्यस्थधर्मिणी है।

बीजधर्मिणी—सभी महदादि विकारों के बीजभाव से अवस्थित अर्थात् 'बीजस्य धर्मो बीजधर्मः, सोऽस्या अस्तीति बीजधर्मिणी'। बीज में जैसे वृक्षोत्पत्ति का धर्म होता है, ठीक उसी प्रकार सर्गोत्पत्ति का धर्म जिसमें हो, वैसी।

प्रसवधर्मिणी—महदादि तत्त्वों की समस्त चराचर सृष्टि को जन्म देने का धर्म जिसमें उपस्थित हो, वैसी।

अमध्यस्थधर्मिणी—अर्थात् सत्त्वादि गुणों की राशि सुखादि रूप होने से सुख की अभिलाषा करती हुई एवं दुःख से द्वेष करती हुई अमध्यस्थ होती है। प्रकृति सत्त्वादि रूप होने से मध्यस्थ नहीं है।

पुरुष—'बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थ-धर्माणश्चेति'। (सु० शा० १)

पुरुष शब्द से महदादि कृत सूक्ष्म लिङ्गशरीर कहा जाता है, जो योगियों को ही दृश्य है, उस पुर शरीर में सोने से पुरुष कहा जाता है। पुरुष बहुत, चेतनावान्, अगुण अर्थात् सत्त्वादि गुण रहित, अबीजधर्मा, अप्रसवधर्मा (अर्थात् पुरुष निर्गुण होने से न बीजधर्म वाला न प्रसवधर्म वाला है) तथा मध्यस्थधर्मा (जैसे—कोई मध्यस्थ सुख-दुःखादि धर्म से विचलित नहीं होता है, उसी प्रकार का धर्म जिसमें हो, वह मध्यस्थधर्मा है) अर्थात् निर्विकार। जैसा कि चरक ने कहा है—'निर्विकारः परस्त्वात्मा' इत्यादि।

जीवात्मा और परमात्मा भेद से पुरुषपञ्चक

'भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्।
जीवात्मा परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्मृतः'॥ (विष्णुपुराण)

हे परमात्मन्! आप एक हैं, परन्तु उपाधि भेद से—१. भूतात्मा, २. इन्द्रियात्मा, ३. प्रधानात्मा, ४. जीवात्मा एवं ५. परमात्मा। इस प्रकार पाँच प्रकार के भेद कहे गये हैं। वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर एक है, परन्तु सारा संसार उससे व्याप्त है, अर्थात् संसार में जो कुछ है, सब में वह व्याप्त है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का एकमात्र कर्त्ता, विधाता एवं संहर्ता वही है। देहधारियों में अन्तरात्मा रूप से वही परब्रह्म परमेश्वर व्याप्त है और विभिन्न देहधारियों में विभिन्न रूप से वही दृश्यमान है। पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूत से बने पाञ्चभौतिक शरीर में रहने से वह भूतात्मा कहा जाता है। चरकसंहिता के अनुसार निर्विकार वह परमात्मा सत्त्व, मन, भूतगुण शब्दादि एवं इन्द्रिय, इनके संयोग से शरीर को चैतन्यस्वरूप प्रदान करने का कारण है, अतः वही इन्द्रियात्मा है। पञ्चविंशति तत्त्वात्मक शरीर की समस्त क्रियाएँ जब तक शरीर में वह रहता है, तभी तक होती हैं, अन्यथा यह शरीर अचेतन—शून्य घर की भाँति हो जाता है। अतः वही प्रधानात्मा है। समस्त जीवधारियों में 'जीवनदाता' रूप से विद्यमान होने के कारण वही जीवात्मा है। इस प्रकार वह परमात्मा एक होते हुए भी उपाधि भेद से भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा तथा जीवात्मा होने से पाँच प्रकार का कहा जाता है।

अद्वैतवाद का सिद्धान्त है कि वह परब्रह्म परमात्मा एक है और निर्विकार है। जब वह सृष्टि करता है, तो वही एक परमात्मा विभिन्न देहधारियों में स्थित होकर

उपाधि भेद से विभिन्न नामधारी हो जाता है और मनुष्य की तरह शरीर (गुफा) में स्थित होकर 'जीवात्मा' यह संज्ञा ग्रहण कर लेता है, परन्तु उसी एक के सभी रूप होने से सब उसी की माया समझी जाती है और सबमें चैतन्य स्वरूप वही एक समा जाता है। जैसे विभिन्न पात्र-स्थित जल में चन्द्र-प्रतिबिंब विभिन्न प्रकार का होने से अनेक चन्द्र समझे जाते हैं, परन्तु चन्द्रमा वस्तुतः एक ही रहता है, ठीक यही स्थिति उस परब्रह्म, परमात्मा, परमपिता परमेश्वर की है, किंतु दूसरा जो द्वैतवाद सिद्धान्त है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। उसका कथन है कि यदि समस्त देहधारियों का जीवात्मा अथवा भूतात्मा एक ही ब्रह्म का रूप है, तो एक के मरने से सभी को मर जाना चाहिए, परन्तु दूसरा नहीं मरता है। एक को दुःख होने से सभी को दुःखी एवं एक को सुख होने से सभी को सुखी हो जाना चाहिए। इसी प्रकार एक को ज्ञान होने से सभी को ज्ञान हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। संसार की व्यवस्था भिन्न-भिन्न है। जीव एक नहीं अनेक अर्थात् असंख्य हैं। स्वकर्मफलानुसार जन्म ग्रहण करते और मरते हैं। इससे यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमेश्वर एक है और शरीरगत जीव अनेक हैं। अपने कर्मों के फल को भोगकर ही जीव जीवन्मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा में लीन होता है। कर्म-वैचित्र्य से ही सृष्टि भी वैचित्र्य है और धर्म सभी जीवों के विचित्र-विचित्र हैं। अतः सभी जीव विभिन्न हैं। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दो पृथक्-पृथक् हैं। एक सविकार और दूसरा निर्विकार है। सविकार कर्मफल भोग कर ही निर्विकार के समीप पहुँच पाता है। आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों कहे जाते हैं। परमात्मा सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वथा स्वतन्त्र, अमर, नित्य, सबका कारण, स्वयं अकारण, अजन्मा, अमरणशील एवं सर्वव्यापक है। 'जीवात्मा' धर्माधर्म शुभाशुभ कर्माधीन है।

महाप्रलय तथा उदय-प्रलय

'पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥
अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्त्तते ॥
येषां द्वन्द्वे पराऽऽसक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा' ॥

(च० शा० १।६७-६९)

पुरुष प्रलयकाल में इष्टभाव अर्थात् बुद्धयादि से वियुक्त हो जाता है, यही मरण है। पुरुष बन्धन हेतु रज और तम से आविष्ट होता हुआ अव्यक्त रूप कारण से कार्य रूप व्यक्तता को प्राप्त होता है, पुनः व्यक्त से अव्यक्तता को प्राप्त होता है। इस प्रकार जब तक पुरुष का मोक्ष नहीं हो जाता, तब तक चक्र की भाँति अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त—इस प्रकार परिवर्तित होता रहता है। यह उदय-प्रलय

उन्हीं का होता है, जिनकी द्वन्द्व और तम में परासक्ति रहती है, जो अहङ्कारपरक अर्थात् मिथ्याज्ञानपरक होते हैं। जो इससे भिन्न होते हैं, उनका उदय-प्रलय नहीं होता है। महाप्रलयकाल में महाभूत तन्मात्र में, तन्मात्र तथा इन्द्रियाँ अहङ्कार में और अहङ्कार बुद्धि में तथा बुद्धि मूलप्रकृति में लय को प्राप्त हो जाती है। यही लय-क्रम मोक्ष में भी होता है, किन्तु वहाँ प्रकृति पुनः सृष्टि का निर्माण नहीं करती है।

मोक्ष-कारण

'मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसङ्क्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भाव उच्यते'॥ (च० शा० १।१४२)

रजोगुण एवं तमोगुण के अभाव, अवश्य भोक्तव्य बलवत्कर्म के संक्षय एवं सर्वसंयोग अर्थात् शरीर बुद्ध्याहङ्कार के वियोग से मोक्ष अर्थात् अपुनर्भव होता है। पुनः शरीरादि सम्बन्ध नहीं होता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष के अन्य उपाय इस प्रकार बतलाये गये हैं—सत् की उपासना, असत् का परित्याग, ब्रह्मचर्य, उपवास, नाना प्रकार से नियम, धर्मशास्त्रों का परिशीलन, आत्म आदि विषयों का ज्ञान, एकान्त स्थान में अनुरक्ति, विषय में अनासक्ति, मोक्ष-प्राप्त्यर्थ चेष्टा, धैर्य, काम्य कर्म का न करना, अर्थात् अभिलषित कर्मों का परित्याग, किये हुए कर्मों का फल भोगादि से परीक्षण, निष्कर्म होना, अहङ्कार न करना, शरीरादि संयोग में भयदर्शन, मन और बुद्धि का आत्मा में समाधान, वस्तुओं का तत्त्व से परीक्षण एवं तत्त्वज्ञान आदि महर्षि चरक के अनुसार मोक्षोपाय प्रतिपादित किये गये हैं।

पुनर्जन्म

मनुष्य की तीन एषणाएँ होती है—(१) प्राण-एषणा, (२) धन-एषणा तथा (३) परलोक-एषणा। परलोक से तात्पर्य मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग-मोक्ष अथवा सद्गति पाकर उत्तम योनि में जन्म लेने की इच्छा है। यह तीसरी इच्छा परलोकैषणा कही जाती है। इसमें सद्गति पाकर उत्तम योनि में जन्म लेने की इच्छा 'पुनर्जन्म' होने पर पूरी होती है।

चार प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि बतलायी गयी है, अतएव उन्हीं के द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि प्रस्तुत की जा रही है—

१. आप्तोपदेश—आप्त द्वारा प्रणीत शास्त्र को वेद कहा जाता है। इन शास्त्रों में बतलाया गया है कि दान, तपस्या, यज्ञ, सत्य बोलना, अहिंसा-भाव रखना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, ये अभ्युदय (उन्नति) एवं निःश्रेयस् (कल्याण) करने वाले होते हैं। अभ्युदय से ऐहलौकिक उन्नति और निःश्रेयस् से मोक्ष-प्राप्ति समझना चाहिए। आप्त पुरुषों ने दिव्य दृष्टि से 'पुनर्भव' का उपदेश किया है।

२. प्रत्यक्ष प्रमाण—माता-पिता के समान सन्तानों का न होना और उत्पत्ति का कारण समान होने पर भी वर्ण, स्वर, आकृति, बुद्धि, भाग्य में भिन्न होना, उत्तम एवं हीन कुल में जन्म होना, नौकर और मालिक होना, सुखायु एवं असुखायु होना, आयु की विषमता आदि। अशिक्षित शिशु का रोना, दूध पीना, हँसना, भयभीत होना, कर्म समानता होने पर भी फल में विशेषता होना, जाति-स्मरण आदि पुनर्जन्म में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

३. अनुमान प्रमाण—प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अनुमान किया जाता है कि पूर्व शरीर द्वारा किये गये कार्य के आधार पर इस जन्म में उसका फल भोगा जा रहा है।

४. युक्ति प्रमाण—पुनर्जन्म की सिद्धि में यह युक्ति है कि कर्म का फल होता है, जो कर्म नहीं किया जाता, उसका फल नहीं होता है, बिना बीज के अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। एक बीज से किसी दूसरे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

षोडश अध्याय

कार्य-कारण भाव एवं विविध वाद

दार्शनिक क्षेत्र में कार्यकारणवाद एक प्रमुख सिद्धान्त है। प्राचीन काल से ही दर्शन एवं विज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में कार्यकारणवाद की विस्तृत व्याख्या मिलती है। विश्व की घटनाओं की उत्पत्ति एवं विकास की व्याख्या के प्रसंग में कार्यकारणवाद को विशेष महत्त्व दिया जाता है। कार्यकारणवाद के समर्थक यह बतलाते हैं कि विश्व में जितनी भी घटनाएँ घटती हैं, उनका कुछ न कुछ कारण अवश्य है। बिना सूक्ष्म या स्थूल कारण के कोई भी घटना उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

करण-लक्षण

'करणं पुनस्तत्, यदुपकरणायोपकल्पतेः कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य।'

(च० वि० ८।७०)

किसी कार्य की अभिनिवृति के उद्देश्य से यत्न करते हुए कर्त्ता के उस सम्पाद्य कार्य में जो उपकरण उपकल्पित किया जाता है, वह करण है।

'यत्तु कर्त्रधीनव्यापारे साधकतमं, तत् करणम्'। (चक्रपाणि)

कर्त्ता के अधीन जो व्यापार है, उसमें जो साधक है, वह करण है। तात्पर्य यह है कि सम्पाद्य कार्य का उपकरण स्वरूप साधक करण है।

'असाधारणं कारणं करणम्'। (तर्कसंग्रह)

कार्य के प्रति असाधारण (विशेष) कारण करण कहा जाता है। सभी कार्यों की उत्पत्ति का असाधारण कारण ईश्वर, काल आदि है।

करण-भेद—'तत्करणमपि चतुर्विधं—प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दभेदात्'।

(तर्कसंग्रह)

प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द भेद से चार प्रकार के जो यथार्थानुभव हैं, उसके करण (असाधारण कारण) भी चार प्रकार के होते हैं—(क) प्रत्यक्ष, (ख) अनुमान, (ग) उपमान एवं (घ) शब्द।

(क) प्रत्यक्ष स्वरूप करण—हमारी पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, कारण यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से होता है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का करण इन्द्रियाँ होती हैं।

(ख) अनुमान स्वरूप करण—अनुमिति अनुमान से होती है, अतः अनुमिति का करण अनुमान है।

(ग) उपमान स्वरूप करण—सादृश्य ज्ञान है।

(घ) शब्द स्वरूप करण—आप्तोपदेश है।

कारण-निरूपण

कारण-लक्षण—'तत्र कारणं नाम तद् यत् करोति स एव हेतुः स कर्त्ता'।

(च० वि० ८।६९)

जो स्वतन्त्र रूप से किसी कार्य को करता है, उसे कारण कहते हैं। वही हेतु और वही कर्त्ता है।

'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। (तर्कसंग्रह)

कार्य से पूर्व निश्चित रूप से रहना अर्थात् किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व, जिससे उस कार्य की उत्पत्ति होती है, उसका निश्चित रूप से रहना, उस कार्य का 'कारण' कहा जाता है। जैसे घटोत्पत्ति के पूर्व मृत्तिका, दण्ड तथा कुलाल (कुम्हार) आदि का रहना।

'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता।
कारणत्वं भवेत् तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम्॥
समवायिकारणत्वं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्।
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीयमुक्तं निमित्तहेतुत्वम्॥
यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत्।
तत्रासन्नं जनकं द्वितीयमाभ्यां परं तृतीयं स्यात्'॥

(कारिकावली)

कार्योत्पत्ति से पूर्व, अन्यथासिद्धि से रहित, यथासिद्ध रूप से जिसका रहना अनिवार्यतः निश्चित हो, अर्थात् जो रहे, वही कारण कहा जाता है।

कारण के प्रकार तथा उसके लक्षण

कारण तीन प्रकार के होते हैं—

१. समवायि कारण।

२. असमवायि कारण।

३. निमित्त कारण।

१. समवायि कारण—समवायि कारण वह कारण है, जिसके संयोग से कार्य होता है, अर्थात् जो उत्पादक रूप से अपने को संयुक्त कर (मिलाकर) कार्य उत्पन्न करता है, वह समवायि कारण कहा जाता है। इसी प्रकार चक्रपाणि ने कहा है—

'समवायिकारणञ्च तद्यत्स्वसमवेतं कार्यं जनयति।'

समवायि कारण वह है, जो अपने को मिलाकर कार्य उत्पन्न करता है। जैसे पट का समवायि कारण तन्तु और घट का समवायि कारण कपाल है।

२. असमवायि कारण—'समवायिकारणे आसन्नं प्रत्यासन्नं कारणं द्वितीय-मसमवायिकारणमित्यर्थः'। (कारिकावली)। कार्य की सम्पन्नता में उत्पादक रूप से समवायि कारण में जो आसन्न अर्थात् समीप में कारण रूप से वर्तमान हो, वह उस कार्य का साधक दूसरा कारण असमवायि कारण कहा जाता है। जैसे कपालद्वय के संयोग से घट उत्पन्न होता है। घट के कपालद्वय का संयोग असमवायि कारण है।

३. निमित्त कारण—किसी उत्पन्न कार्य का समवायि और असमवायि दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप घट के प्रति दण्ड, चक्र तथा कुम्हार निमित्त कारण हैं।

रोगों की उत्पत्ति में दोष एवं दूष्य को विकृत करने वाले अभिघात, जीवाणु एवं मिथ्याहार-विहार निमित्त कारण (निदान), दोषों का वैषम्य समवायि कारण तथा दोष-दूष्यों का संयोग असमवायि कारण है।

कार्य-लक्षण

'कार्यं तु तद् यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय कर्त्ता प्रवर्तते'। (च० वि० ८।७२)

कार्य को करने वाला कर्त्ता जिस कार्य को करने के लिए अपनी कर्त्तव्यता बुद्धि को स्थिर कर प्रवृत्त होता है, वह कार्य है।

कार्य की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व कारण में रहती है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रमुख हैं—(क) सत्कार्यवाद एवं (ख) असत्कार्यवाद।

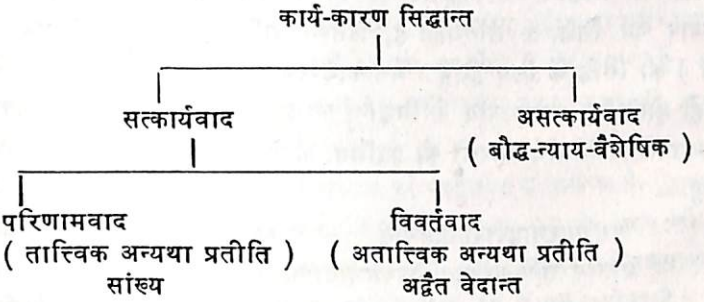

सत्कार्यवाद

सत् से सत् का उत्पन्न होना ही 'सत्कार्यवाद' है। इस सम्बन्ध में गीता का स्पष्ट वचन है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'। (गीता २।१६)

असत् अर्थात् जो नहीं है, अभाव रूप है, उससे सत् अर्थात् भाव रूप पदार्थ की

उत्पत्ति तथा सत् जो भाव रूप है, उससे 'असत्' अभाव रूप पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है। उपनिषद् में भी कहा गया है कि अवस्तु से वस्तु की सिद्धि नहीं होती—

'नाऽवस्तुनोवस्तु सिद्धिः'। (उपनिषद्)

सारांश यह कि कोई भी कार्य किसी कारण से ही सम्पन्न होता है। कार्य की जो अव्यक्त अवस्था है, वही कारण है और कारण की जो व्यक्त अवस्था अर्थात् कारणानुरूप अपने स्वरूप की प्राप्ति की अवस्था है, वही कार्य है। महर्षि सुश्रुत के निम्न वचन से यह और स्पष्ट हो जाता है—

'तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति'। (सु० शा० १।११)

कारण के अनुसार ही कार्य होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ये सभी विशेष अर्थात् महदादि सत्त्वरजस्तमोमय होते हैं।

'तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः'। (सु० शा० १।८)

'सर्व एवैष वर्गोऽव्यक्तादिकोऽचेतनत्वेन तत्कार्यस्य महदादेरचेतनत्वात्'।

(डल्हण)

यह अव्यक्तादिक सभी अर्थात् उससे उत्पन्न होने वाला पूरा वर्ग अचेतन है। कारण यह है कि कारणभूत अव्यक्त नाम मूलप्रकृति अचेतन है। अतः उसके अचेतन होने से उससे उत्पन्न होने वाले महदादि भी सभी 'कारणानुरूपकार्य' इस सिद्धान्त के अनुसार अचेतन हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि यह सभी वर्ग अचेतन है। यही सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है। सांख्य-दर्शन सत्कार्यवाद को ही मानता है। आयुर्वेद का भी सिद्धान्त सत्कार्यवाद का ही सिद्धान्त है। सांख्यशास्त्र में जो 'सत्कार्यवाद' का सिद्धान्त सन्निहित है, उसका अभिप्राय यही है कि यह प्रधान (प्रकृति) की सिद्धि के लिए ही है। असत्कार्यवाद अथवा विवर्तवाद से प्रधान की सिद्धि नहीं होती है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सम्यक्तया ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका में पाँच कारणों को प्रदर्शित करते हुए किया गया है, जो निम्न लिखित है—

'असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्'॥

(सांख्यकारिका ९)

१. असदकरणात्—सत्ता रहित वस्तु असत् होती है। असत् अर्थात् अविद्यमान वस्तु जो सत्ताहीन है, कारण रहित है, उससे कभी सत् की उत्पत्ति नहीं होती है। जो सद् रूप कार्य सम्पन्न होता है, वह बीज रूप से अपने उत्पादक सद् रूप कारण में पूर्व रूप से वर्तमान रहता है। महत् सत्त्वादि कार्य हैं, क्योंकि वह अपने सद् रूप कारण में उत्पत्ति के पूर्व से ही अव्यक्त रूप से रहता है। जो वस्तु असत् है, वह सत्

नहीं होती। इसी प्रकार घट अपने कारण रूप मिट्टी में पूर्व रूप से ही वर्तमान रहता है। यदि न रहे, तो अनेक प्रयत्न करने पर भी वह 'सत्' रूप अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः यह निश्चित सिद्धान्त है कि जो पदार्थ पूर्व में ही अपने कारण में अव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है, वही उससे व्यक्त रूप में आविर्भूत होता है, जैसे—तिल से तैल, दही से घी आदि। यहाँ तिल में तैल का अंश और दही में घृत का अंश पूर्व रूप से ही वर्तमान रहता है। जहाँ वर्तमान नहीं रहता है, वहाँ कार्य सम्भव नहीं होता है, जैसे—बालू से तैल। यहाँ तेल का अंश बालू में वर्तमान नहीं है।

२. उपादानग्रहणात्—उदापान कारण होता है। कारण से ही कार्य कारणानुरूप होता है, यह सिद्धान्त है। किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसके उपादान कारण को जिससे उस कार्य की सम्पन्नता होती है, ग्रहण किया जाता है। 'सत्' कार्य के लिए 'सत्' रूप कारण भी होता है। जैसे—दही बनाने की इच्छा होने पर जल को ग्रहण न कर दूध को ही ग्रहण किया जाता है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्टतया सिद्ध है कि कार्य और कारण का एक निश्चित सिद्धान्त है।

३. सर्वसम्भवाभावात्—कार्य-कारण का एक निश्चित सम्बन्ध है। जिस कार्य का जो कारण, उसी से उसकी उत्पत्ति होती है। एक कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति हो, यह सम्भव नहीं है अथवा सभी कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति हो, यह भी सम्भव नहीं है। जैसे सभी कारणों से सभी रोग उत्पन्न होने लगे, ऐसा नहीं होता। सबके कारण नियत हैं। इस प्रकार होने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जायेगा।

४. शक्तस्य शक्यकरणात्—शक्त अर्थात् शक्तिमान् शक्ति-सम्पन्न कारण से ही शक्य वस्तु की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे यह सिद्ध है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से पूर्व से ही विद्यमान है। तभी उससे तद्रूप कार्य की सम्पन्नता होती है।

५. कारणभावात्—कार्य और कारण का वस्तुतः एक सम्बन्ध है, इनका ऐक्य भाव वास्तविक है। स्पष्ट तो यह है कि कार्य और कारण एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। व्यक्त स्वरूप का नाम कार्य और अव्यक्त स्वरूप का नाम कारण है। कारण ही परिस्थितियों के अनुसार कार्य रूप में प्रकट होता है। जैसे—बीज से वृक्ष, विकृत दोष से तज्जनित रोग एवं यव बोने से यव होता है। इस प्रकार कारण एवं कार्य की एकरूपता है। उनमें भेद व्यावहारिक है, परन्तु अभेद तात्त्विक है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सत्कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है, न कि असत् कारण से। इसी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद भी कहते हैं।

इसी को कार्यकारणवाद भी कहते हैं। यह सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है, जिसकी संसिद्धि के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी गई हैं। मूल प्रकृति अव्यक्त रूप है, सबका कारण है और उससे उत्पन्न महदादि कार्य व्यक्त रूप है। कार्य सत् होने से कारण भी सत् है, क्योंकि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से वर्तमान रहती है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

आयुर्वेद में सत्कार्यवाद (कार्य-कारण) का महत्त्व

रोगोत्पत्ति, गर्भावक्रान्ति, निदानार्थकर रोग, गर्भ के पूर्व के सभी संस्कार, आहार के परिणाम से ही सभी धातुओं का निर्माण, किये हुए कर्म का फल एवं स्वस्थवृत्त के नियम-पालन से रोगों की अनुत्पत्ति आदि आयुर्वेद में सत्कार्यवाद का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं।

परिणामवाद

किसी कारण का कार्य रूप में परिणत हो जाना, उस कारण का कार्य रूप परिणाम कहा जाता है। जैसे दूध से दही बनता है। दही को दूध का परिणाम कहते हैं। पहले दूध रूप में प्रतीति होती है, तत्पश्चात् दूध के स्थान पर दही की प्रतीति होने लगती है। यहाँ पर केवल प्रतीति में भेद नहीं होता, दुग्ध के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए इस प्रतीति को 'तात्त्विक अन्यथा प्रतीति' कहते हैं। इसी को विकार या परिणाम भी कहते हैं। सांख्य दर्शन ने सृष्टि के सम्बन्ध में परिणामवाद का प्रतिवादन किया है। अव्यक्त नाम मूल प्रकृति सृष्टि उत्पत्ति का मूल कारण है, कार्यरूप सृष्टि उसी मूल कारण का परिणाम है। वेदान्त मत से परिणाम विवर्त्तवाद है।

आयुर्वेद वाङ्मय में परिणामवाद के सिद्धान्त पदे-पदे मिलते हैं, जिसमें कतिपय निम्नलिखित हैं—

१, 'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतं तथा।
परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः'॥ (सु० शा० १।१२)

२. 'रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः'॥ (सु० सू० १४।१०)

३. 'जाठरेणाऽग्नि योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः'॥ (अ० ह० सू० ९।२०)

४. 'स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामाभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन'।
(च० वि० ५।३)

विवर्तवाद

जिस वस्तु से जिस तत्त्व का परिज्ञान होना चाहिए, वह न होकर मिथ्या ज्ञान होना ही विवर्तवाद है। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति। इसमें रज्जु बदल कर

सर्प नहीं बन जाता, परन्तु उसमें सर्प की प्रतीति होती है। इसी 'अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति' को अर्थात् तत्त्व परिवर्तन हुए बिना होने वाली अन्यथा प्रतीति को विवर्त कहते हैं। सर्प रज्जु का परिणाम नहीं अपितु विवर्त है। शाङ्कर-वेदान्त विवर्तवाद का प्रतिपादक है, उनके मत में जगत् ब्रह्म का विवर्त है—

'ब्रह्मैव सज्जगदिदं तु विवर्तरूपम्।
मायेशशक्तिरखिलं जगदातनोति'॥

ब्रह्म ही सत्य है और यह जगत् विवर्त रूप है। माया को शक्ति के कारण सम्पूर्ण जगत् सत् स्वरूप दिखलाई पड़ता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है और संसार मिथ्या है। ऊपर दिये रज्जु और सर्प के उदाहरण की भाँति यह मिथ्या ज्ञान है, जिससे संसार सत् स्वरूप दिखलाई पड़ता है। अतः सत्य स्वरूप ब्रह्म है और यह संसार रूप कार्य उस कारण रूप ब्रह्म का विवर्तरूप है। यह असत् इसलिए है कि इसकी सत्ता ब्रह्म की भाँति न होकर ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती है। फलतः यह ब्रह्म का कार्य और ब्रह्म इसका कारण है। इस प्रकार ब्रह्म सद्रूप होने से नित्य और संसार असद्रूप होने से अनित्य सिद्ध होता है।

आयुर्वेद के मनीषियों ने विवर्तवाद को स्पष्ट रूप से कहीं उल्लिखित नहीं किया है, किन्तु मानसिक चिकित्सा में इसका उपयोग किया जाता है—

'धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्'। (अ० हृ० सू० १।२६)

मानसिक दोष की श्रेष्ठ औषध धी, धैर्य और आत्मादि विज्ञान है।

असत्कार्यवाद

नैयायिकों एवं वैशेषिकों के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व नहीं रहती। उनका कहना है कि यदि उत्पत्ति के पूर्व ही कार्य की सत्ता विद्यमान थी, तब फिर उत्पन्न होने का मतलब ही क्या रह जाता है तथा उसमें कर्ता और निमित्त कारणों का प्रयोजन ही क्या रह जायेगा? यदि मिट्टी में पहले से घड़ा विद्यमान था, तो कुम्हार को परिश्रम करने की क्या आवश्यकता थी? इसके अतिरिक्त यदि कार्य पूर्व से उपादान कारण में विद्यमान था, तो हम कारण और कार्य में भेद किस प्रकार कर सकते हैं? मिट्टी और घड़ा दोनों के लिए एक ही नाम क्यों नहीं प्रयोग करते हैं? यदि यह कहा जाय कि मिट्टी और घड़े में आकार को लेकर भेद है, तब तो यह स्वीकार करना होगा कि कार्य में कोई वस्तु-विशेष आकृति है, जो कारण में नहीं थी। अर्थात् कार्य वास्तविक रूप से कारण में विद्यमान नहीं था। यही असत्यकार्यवाद है।

कार्य असत् (अविद्यमान) होते हुए भी उत्पन्न (आरम्भ) किया जाता है। अतः इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद अथवा आरम्भवाद कहते हैं।

क्षणभंगुरवाद

यह सिद्धान्त है कि भावों की एक क्षण में उत्पत्ति, दूसरे में स्थिति और तीसरे क्षण में विनाश हो जाता है। बौद्ध-दर्शन का यह मान्य सिद्धान्त है—'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' अर्थात् संसार में जो कुछ भी है, वह क्षण-क्षण में परिवर्तनशील है। एक क्षण उत्पन्न वस्तु उसी क्षण रहती है। जिस क्षण जिस वस्तु को हम देखते हैं, वह उसी क्षण रहती है। किसी भी द्रव्य की सत्ता क्षणिक होती है। कारण द्रव्य-कार्य द्रव्य को उत्पन्न कर दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है। अतः क्षण-क्षण में विनष्ट होने के कारण किसी भी वस्तु का स्थायित्व नहीं है। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक ने कहा है—

'न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः।
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः॥
निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च॥
मतं तत्त्वविदामेतद् यस्मात्तस्मात् स कारणम्।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः'॥

(च० शा० १।४६, ५०-५१)

अर्थात् संसार की प्रत्येक वस्तु प्रति क्षण क्षय को प्राप्त होती रहती है और उसके स्थान पर सत्सदृश तत्काल ही पुनः आरूढ़ हो जाती है। जैसे—समुद्र में तरंगे प्रति क्षण परम्परा से उत्पन्न, नष्ट तथा तुरन्त ही तत्सदृश पुनः उत्पन्न होती तथा आती रहती है, ठीक यही स्थिति शारीरिक तत्त्वों की है। ये परम्परागत नये-नये उत्पन्न होते रहते हैं और जो नष्ट हो जाते हैं, वे पुनः नहीं रहते। जो उत्पन्न होते हैं, वे तत्सदृश ही होते हैं। निमेष काल से भी शीघ्र शारीरिक भावों का विनाश होता है और नष्ट हुए भावों का पुनरागमन नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर से जो किया गया है, शरीर उसका फल नहीं भोगता है। ऐसी स्थिति में तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि प्राणियों के लिए कर्म का फल भोग जो नित्यपुरुषसंज्ञक है, वह करता है। यही क्षणभंगुरवाद है।

अद्वैतवाद

शंकराचार्य ने वेदान्त-दर्शन में अद्वैतवाद माना है। उनका कथन है कि एक-मात्र ब्रह्म तत्त्व ही सत्, चिद्, आनन्द और ज्ञान रूप है। यह जो दृश्यमान जगत् है, वह प्रपञ्चमात्र है। यह अविद्या अर्थात् अज्ञान के कारण सद्रूप दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः यह संसार अनित्य है। उनका सिद्धान्त है—'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' आदि। ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर गमनागमन रूप सांसारिक जीवन

से मनुष्य मुक्त हो जाता है। इस प्रकार द्वैतवाद का भी भारतीय दार्शनिकों के विचार में प्रमुख स्थान है।

आयुर्वेद में अनेकान्तवाद

विभिन्न आचार्यों का भिन्न-भिन्न मत होना, किसी के मत से कुछ तो किसी के मत से कुछ, पर किसी निश्चयात्मक मत पर सबका स्थिर न होना अनेकान्तवाद है। किसी पदार्थ की सिद्धि के समय सिद्धि हेतु अस्ति कह देना अथवा नास्ति कह देना, परन्तु अस्ति-नास्ति में कुछ विरोध की स्थिति उत्पन्न न होना अर्थात् यह भी सम्भव है और वह भी सम्भव है। सारांश यह है कि किसी भी सिद्धान्त की निश्चयात्मक स्थिति नहीं, प्रत्युत् अनिश्चयात्मक स्थिति में उसका बना रहना अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद अर्थात् किसी भी ज्ञान का एकान्तरूप निश्चित रूप से न होना।

आयुर्वेद में अनेकान्तवाद की स्थिति नहीं है। चरकसंहिता के अनुसार कई स्थलों पर किसी सिद्धान्त के निश्चितीकरण हेतु महर्षियों का सम्मेलन हुआ और उसमें महर्षियों ने अपने-अपने विभिन्न मत प्रकट किये हैं, परन्तु अन्त में एक निर्णीत सिद्धान्त स्थिर हुआ है। उदाहरणस्वरूप रस के सम्बन्ध में विवाद होने पर कि कुल कितने रस हैं, एक सिद्धान्त निश्चित हुआ है। जैसा कहा गया है—

'षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः'।

(च० सू० २६।९)

रस की संख्या के सम्बन्ध में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने निश्चयात्मक वचनों द्वारा निर्णय दिया कि षड् रस ही होते हैं। जो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त तथा कषाय हैं। इसमें कोई सन्देह अथवा विवाद का प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार यज्जःपुरुषीय अध्याय (चरक सूत्र० २५) में भी पुरुषोत्पत्ति तथा रोगोत्पत्ति का उदाहरण है। इससे यह सिद्ध है कि आयुर्वेद में अनेकान्तवाद की स्थिति नहीं है।

साम्य-वैषम्य सिद्धान्त

'साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्। (सां० द० ६।४२)

साम्य-वैषम्य-सिद्धान्त सांख्यदर्शन का है। सांख्यदर्शनकार का यह कहना है कि साम्य (समता) और वैषम्य (विषमता) से दो कार्य होते हैं। जब प्रकृति में तीनों गुण सत्त्व, रज एवं तम साम्यावस्था में हो जाते हैं, तो उस समय प्रलय एवं जब विषम रूप में हो जाते हैं, उस समय विचित्र सृष्टि होती है।

आयुर्वेद में यह ऐसा सिद्धान्त है, जिस पर आरोग्य, रोग तथा चिकित्सा आश्रित है। कहा भी है—

'विकारो धातुवैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते'। (च० सू० ९।४)

सम का भाव साम्य और विषम का भाव वैषम्य है। धातु-वैषम्य ही विकार

(रोग) है और धातु-साम्य ही प्रकृति अर्थात् आरोग्य है। अर्थात् साम्यावस्था प्रकृति एवं वैषम्यावस्था विकृति है। पुनः कहा है—

'जायन्ते हेतुवैषम्याद्विषमा देहधातवः।
हेतु साम्यात् समाः तेषां स्वभावोपरमः सदा'॥

(च० सू० १६।२८)

महर्षि चरक ने बतलाया है कि हेतुओं की विषमता अर्थात् अहित आहार-विहार से शरीर की धातुएँ—वात, पित्त एवं कफ (शरीर धारण करने से ये भी धातु हैं) तथा रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र भी विषम अर्थात् अपने परिमाण से क्षीण तथा वृद्ध हो जाते हैं, जिससे विकार उत्पन्न होते हैं, किन्तु हेतुओं के सम होने पर शारीरिक धातुएँ भी साम्यावस्था में रहती हैं, जिससे मनुष्य स्वस्थ रहता है; और भी कहा गया है—

'न समा यान्ति वैषम्यं विषमा समतां न च।
हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः'॥

(च० शा० १।९२)

समधातु वैषम्यावस्था को और विषमधातु साम्यावस्था को प्राप्त नहीं होते हैं। देहधातु नित्य कारणों से तत्सदृश उत्पन्न होते है। आरोग्य की भाँति चिकित्सा जो साम्य-वैषम्य सिद्धान्त पर आश्रित है, वह निम्न प्रकार है—

'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्साविकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥
कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥
त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः'॥

(च० सू० १६।३४-३६)

चिकित्सा क्या है ? इस सम्बन्ध में बतलाया गया है कि जिस क्रिया से शरीर में समधातुएँ उत्पन्न हों, उसी क्रिया का नाम चिकित्सा है और यही वैद्य का कर्म भी है, क्योंकि शरीर में धातु विषमता को प्राप्त न हो और सम धातुओं का सम्बन्ध बना रहे, इसीलिए क्रिया की जाती है। विषम हेतुओं से त्याग तथा सम हेतुओं के सेवन से विषमता का सम्बन्ध नहीं होता है तथा धातुएँ सम उत्पन्न होती हैं, यही क्रिया चिकित्सा है। इस प्रकार आयुर्वेद में साम्य और वैषम्य एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिस पर आरोग्य, रोग तथा चिकित्सा सभी आश्रित हैं। इससे कार्य-कारण विचार भी आयुर्वेद में दृष्टिगोचर होता है।

स्वभावोपरमवाद

साम्य-वैषम्य सिद्धान्त के साथ ही 'स्वभावोपरमवाद' भी है, क्योंकि साम्य और वैषम्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय कहा गया है—'तेषां स्वभावोपरमः सदा'। अर्थात् देह धातुओं के सदा स्वभाव (प्रकृति) से ही उपरम अर्थात् विनाश होता है, यह नित्यग स्वभाव होने से नित्य क्षय को प्राप्त होती है, परन्तु यह क्षय यथाकाल सम्यग् आहार-विहार के उपयोग करते रहने से परिलक्षित नहीं होता है। जैसे किसी झरने से पानी गिरते हुए भी ऊपर के स्रोत से पूरित होते रहने से वह सूखा झरना प्रतीत नहीं होता है। कहा गया है—

'प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्।
केचित् तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्' ॥ (च० सू० १६।२८)

भावों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) में हेतु है। सभी भाव उत्पत्ति में हेतु की अपेक्षा करते हैं, परन्तु निरोध अर्थात् उनके विनाश के कारण नहीं हैं, क्योंकि विनाश स्वाभाविक है, यह स्वभावतः होता रहता है। स्वाभाविक कार्य में कारण की अपेक्षा नहीं होती है। कुछ आचार्य यहाँ निरोध में हेतु का अवर्तन हेतु मानते हैं। अर्थात् उत्पादक कारणों का अभाव हो जाने पर विनाश हो जाता है। अतः अभाव ही विनाश का कारण है। यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि स्वभाव से ही नाश होता है, तो वैद्य क्या करता है और उसका क्या कर्म है? वैद्य किन विषम धातुओं को सम करता है और चिकित्सा किस निमित्त की जाती है? इत्यादि अनेक प्रश्न स्वभावोपरमवाद सिद्धान्त स्वीकार करने पर उत्पन्न हो जाते हैं। महर्षि पुनर्वसु आत्रेय ने इसका निम्न प्रकार से समाधान किया है—

'न नाशकारणाभावाद्भावानां नाशकारणम्।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्॥
शीघ्रगत्वाद् यथा भूतस्तथा भावो विपद्यते।
निरोधे कारणं तस्य नास्ति नैवान्यथाक्रिया॥
याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्'॥

(च० सू० १६।३२-३४)

इस सम्बन्ध में युक्तिपूर्वक बतलाया गया है कि नाशकारण के अभाव से उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थों के नाश के कारण नहीं जाने जाते हैं। जिस प्रकार नित्य चलने वाले काल का नाश-कारण नहीं जाना जाता है। शीघ्रगामी स्वभाव होने से ही जैसे भूत अर्थात् अतीत अत्यय को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार भाव भी नित्यग स्वभाव होने से विनष्ट होता है। इनके नाश में कोई कारण नहीं है, न कोई अन्यथा क्रिया है। जिस क्रिया से शारीरिक धातुएँ सम होती हैं, वही विकारों की चिकित्सा है और वही वैद्य का कर्म है।

सारांश यह है कि यहाँ पर नित्यग अर्थात् शीघ्रगामी काल का उदाहरण देकर प्रस्तुत विषय को समझाया गया है। जैसे प्रत्येक क्षण उत्पन्न होते ही वह भूतकाल हो जाता है और अगला क्षण उत्पन्न हो जाता है, जो वर्तमान कहा जाता है तथा आगे आनेवाला काल भविष्यत् काल होता है। इनमें प्रथम क्षण बीतने का काम नहीं होता, क्योंकि काल नित्यग तथा शीघ्रगामी है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण में अतीत काल की उत्पत्ति होती रहती है। यही दशा शारीरिक धातुओं की भी है। शारीरिक धातुएँ भी काल की भाँति उत्पन्न, स्थित तथा नष्ट होती रहती हैं।

पीलुपाक तथा पिठरपाक

पार्थिव तत्त्वों में पाकज रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श उत्पन्न होते हैं। इसमें तेज संयोग कारण है। पाक की प्रक्रिया के सम्बन्ध में दो मत हैं—१. पीलुपाक और २. पिठरपाक। पिलुपाकवादी वैशेषिक और पिठरपाकवादी नैयायिक हैं, जो पिण्ड-पाकवादी भी कहे जाते हैं।

पीलुपाक—पीलु शब्द का अर्थ परमाणु है। इनका मत है कि घड़ा जब आँवा (भट्ठी) में पड़ता है, तो अग्नि के सम्बन्ध से अभिघात या नोदन द्वारा अर्थात् इधर-उधर चलाने से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है और उससे क्रमशः घड़े में विभाग होने लगता है। इस विभाग से घड़े के परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश और संयोग नाश से घट द्रव्य का नाश हो जाता है, अग्नि की अधिक तीव्रता से परमाणुओं में पाकज रूप इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार घट के विनष्ट हो जाने पर उसके परमाणुओं में अलग-अलग तेज संयोग से पूर्व रूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् उन परमाणुओं में अदृष्टवश क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से परमाणु परस्पर संयुक्त होने लगते हैं और द्वयणुक, त्रसरेणु आदि क्रम से पुनः घट उत्पन्न हो जाता है। कारण परमाणु के रूप में आधार पर घट के रूप की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति का विधिवत् अध्ययन एवं दोषों के अंशांश कल्पनानुसार निदान कर रोगों की चिकित्सा में इस सिद्धान्त का उपयोग है।

पिठरपाक—नैयायिक लोग उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि इस प्रकार परमाणु पाक मानने से नवीन घट की उत्पत्ति में कारणान्तर मानना पड़ेगा, जो गौरव अर्थात् अधिक है। इसलिए घट के भीतर तथा बाहर समस्त अवयवों में अग्नि के संयोग से घट-पिण्ड का पाक होता है, परमाणुओं में नहीं होता है, जो पिण्ड कहा जाता है।

इस प्रकार पाकजोत्पत्ति भी एक विषय है, इसे भलीभाँति समझ लेना चाहिए। पृथ्वी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श, ये चार ही गुण 'पाकज' अर्थात् अग्नि के संयोग से उत्पन्न माने जाते हैं। जैसे—कच्चा फल हरा होता है, किन्तु पक

जाने पर वह पीला, लाल आदि वर्ण वाला हो जाता है। कच्चे फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सब ही भिन्न होते हैं। फलों के पकने का कारण गर्मी अथवा तैजस् संयोग ही स्पष्ट है। अतएव पके फल में जो विशेष रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श होते हैं, वे पाक अर्थात् तेज संयोग से होते हैं। उनके पहले रूप, रस आदि नष्ट होकर पाक से उनमें नये रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे सब पाकज कहलाते हैं। यह पाकज गुण केवल पृथ्वी में ही रहते हैं, अन्य में नहीं।

त्वचा निर्माण में दूध से मलाई का उदाहरण (सु० शा० ४।३), सामूहिक संस्कार, शमन एवं संशोधन चिकित्सा आदि इसके उदाहरण आयुर्वेद में अवलोकनीय हैं।

परमाणु लक्षण

तर्कसंग्रह में मान (नाप-तौल) के लिए परिमाण शब्द का प्रयोग किया गया है। वह परिमाण चार प्रकार का बतलाया गया है—अणु (अत्यन्त छोटा), महत् (बड़ा), दीर्घ (लम्बा) तथा ह्रस्व (छोटा)। इसी अणु की अल्पतम अवस्था को परमाणु कहते हैं।

'परमाणुत्वं परिमाणवान् परमाणुः'। (वै० द० ३।१)

जो परम अणु परिमाण वाला हो, उसे परमाणु कहते हैं।

'यत्रोत्तरोत्तरं गच्छन्नवयवावयवी प्रवाहस्तावदुपरमते यतश्च नापरं किञ्चदल्पतमं विद्यते, यः खलु परमोऽल्पीयान् स परमाणुरिति परिभाष्यते'। (प्रशस्तपाद)

अर्थात् जहाँ अवयवगत क्रिया द्वारा लोष्ठादि अवयवी द्रव्य के अवयवों का उत्तरोत्तर विभाग होने के कारण अवयव और अवयवी विभाग का प्रवाह उपरम (विनाश) होता है, जिससे कोई अन्य सूक्ष्म से सूक्ष्म नहीं हो सकता तथा जो परम अल्प परिमाण वाला होता है, वह परमाणु कहा जाता है।

'न प्रलयोऽणु सद्भावात्'। (न्यायदर्शन)

अणु के सत्तावान् होने से उसका विनाश नहीं होता है।

'अणुद्वौ परमाणु स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्'॥

(श्रीमद्भागवत् ३।११।५)

दो परमाणु मिलकर एक अणु होता है। तीन अणुओं के मिलने से एक 'त्रसरेणु' होता है, जो झरोखे में से होकर आयी हुई सूर्य की किरणों के प्रकाश में आकाश में उड़ता हुआ देखा जाता है।

वैशेषिकदर्शन के मतानुसार विश्व के सभी कार्य-द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु) से निर्मित होते हैं। परमाणुओं में संयोग एवं विभाग जीवों के धर्माधर्म (अदृष्ट) कर्मफल एवं ईश्वरेच्छा के अनुसार होता है। अणुओं के संयोग से कार्य-द्रव्यों की उत्पत्ति एवं उनके वियोग से कार्य-द्रव्यों का

विनाश होता है। इन्हीं अनित्य द्रव्यों के सृष्टि एवं लय का क्रम निर्दिष्ट करना 'परमाणुवाद' है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार अनादि काल से अनन्त आकाश में असंख्य परमाणुओं के विभिन्न दिशाओं में घूमने के कारण उनके आकस्मिक संयोग के पश्चात् संसार बनता एवं परिवर्तित होता रहता है। परमाणुओं की गति का नियामक कोई चेतन शक्ति नहीं है, अपितु प्राकृतिक नियम है, जिसके फलस्वरूप परमाणुओं में संयोग एवं वियोग हो जाता है। अतः आधुनिक परमाणुवाद भौतिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित है, जब कि वैशेषिक का परमाणुवाद आध्यात्मिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। वैशेषिक का परमाणुवाद अनित्य द्रव्यों के बारे में है, जो किसी समय उत्पन्न एवं विनष्ट होते हैं। संसार के नित्य द्रव्य जैसे आकाश, दिक्, काल, मन एवं आत्मा उत्पन्न एवं विनष्ट नहीं होते हैं।

भागवतीय परमाणु लक्षण एवं नित्यता विचार

'चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः'॥

(श्रीमद्भागवत् ३।११।१–२)

'सतः कार्यस्य विशेषाणामंशानां यश्चरमोन्त्यो यस्यांशो नास्ति। अनेकः कार्यावस्थामप्राप्तः। असंयुतः समुदायावस्थां चाप्राप्तः। अत एव सदा कार्यसमुदायावस्थयोरपगमेऽप्यस्ति स परमाणुर्विज्ञेयः। किं तत्र प्रमाणमत आह। यतो येभ्यः समुदितेभ्यो नृणां व्यवहर्तृणामैक्यभ्रमोऽवयवीबुद्धिः। तथा च पञ्चमेऽवयविनिराकरणे वक्ष्यति। येषां समूहेन कृतो विशेष इति। कार्यानुपपत्त्या कल्प्यत इति भावः। सूक्ष्ममुक्त्वा स्थूलमाह—सत एवेति। यस्य चरमोंऽशः परमाणुस्तस्यैव सतः कार्यमात्रस्य स्वरूपावस्थितस्य परिमाणान्तरमप्राप्तस्य यत्कैवल्यमैक्यं स परममहान्। पुंस्त्वं तु परमाणुप्रतियोगित्वात्। ननु नानाविशेषवान् परस्परं भिन्नश्च सर्वः पदार्थः कथमैक्यं तस्य तत्राह। अविशेषो विशेषविवक्षारहितो निरन्तरो भेदविवक्षारहितश्च सर्वोऽपि प्रपञ्चः परममहानित्यर्थः'।

(श्रीधरी-व्याख्या)

सत् कार्य के विशेष अंशों का जो चरम या अन्त्य अंश हो, अर्थात् जिसका फिर दूसरा अंश न हो, जो अनेक अर्थात् कार्यावस्था को प्राप्त न हो और असंयुत अर्थात् समुदायावस्था को प्राप्त न हो, इसलिए सदा जो रहता हो अर्थात् कार्य एवं समुदायावस्था के न रहने पर भी जो रहता हो, उसे परमाणु कहते हैं। जिन समुदितों से व्यवहार करने वाले मनुष्यों को ऐक्य का भ्रम हो, अर्थात् अवयवी होने की बुद्धि हो तथा जिनमें समूह के द्वारा विशेषता पैदा की गयी हो, उनको परमाणु कहते हैं।

सूक्ष्म बतलाकर स्थूल रूप में कहते हैं। जिसका अन्तिम अंश परमाणु होता है, उसी सत् कार्यमात्र का अपने स्वरूप में स्थित अर्थात् जिसके परिणाम न हुए हों, उसका जो कैवल्य अर्थात् ऐक्य हो, वह परम महान् होता है। परम महान् में पुंल्लिङ्ग है, जो कि परमाणु के प्रतियोगी होने का कारण माना गया है। इस विषय में यह शंका होती है कि नाना प्रकार के विशेषों वाले तथा परस्पर भिन्न सभी पदार्थ होते हैं, तो उस पदार्थ का ऐक्य कैसे होगा ? इस सम्बन्ध में कहते हैं—अविशेषः अर्थात् विशेष विवक्षा रहित और निरन्तर भेद की विवक्षा से रहित सभी जगत् का प्रपंच परम महान् कहा जाता है।

अवयव तथा अवयवी

अवयव समुदाय प्रभाव विचार

'अवयवोऽस्यास्तीति अवयवी' अर्थात् जिसके अवयव हों, उसे अवयवी कहते हैं। भिन्न-भिन्न अवयवों अर्थात् अंगों के मिलने से जो एक संयुक्त द्रव्य निर्मित होता है, वह अवयवी अथवा अवयव-समुदाय कहा जाता है। इस प्रकार अवयवी एक संयुक्त द्रव्य होता है और अवयव उसका भिन्न-भिन्न अर्थात् पृथक्-पृथक् अंग अथवा भाग होता है। भिन्न-भिन्न अवयवों के एक ही अथवा भिन्न-भिन्न गुण होते हैं और अवयवों का जो एक संयुक्त स्वरूप अर्थात् समुदाय होता है, उसका गुण उन्हीं अवयवों के गुणों के अनुसार होता है। जैसे हरड़, बहेड़ा और आँवला। इन भिन्न-भिन्न द्रव्यों के एक में मिलने से एक 'त्रिफला' संज्ञक संयुक्त द्रव्य निर्मित होता है। त्रिफला संयुक्त द्रव्य 'अवयवी' और हरड़, बहेड़ा तथा आँवला ये तीनों त्रिफला के अवयव द्रव्य हैं। अवयव के रसादि गुणों के अनुसार समुदाय अर्थात् अवयवी के गुणों को भी जानना चाहिए। परन्तु द्रव्यों के समुदाय (संयुक्त द्रव्य) दो प्रकार के होते हैं— १. प्रकृति अनुगुण एवं २. प्रकृति अननुगुण।

प्रकृति नाम कारण है। प्राकृतिक अर्थात् कारण गुणों के अनुरूप कार्य होता है। जहाँ कारणानुरूप कार्य होता है, वहाँ प्रकृति-सम-समवाय होता है। समवाय नाम समुदाय है, अर्थात् प्रकृतिमूलावयवानुरूप समुदाय 'प्रकृति-सम-समवाय' है।

जहाँ प्रकृति भूत अवयवों के गुण परस्पर विरुद्ध होने से परस्पर उपहनन कर देते हैं, वहाँ विसदृश अवयवों से संजात समुदाय प्रकृति अननुगुण होता है। प्राकृत गुणों के उपमर्द से अपूर्व गुण ही समुदाय उत्पन्न होता है। यह 'विकृत-विषम-समवाय' कहा जाता है। विकृति-विषम-समवेत योगों का कर्म अवयव प्रभवानुमान से जानने योग्य नहीं होता है। वहाँ इस समुदाय के उपयोग से ही समुदाय प्रभाव तत्त्व जानना चाहिए। यह विषम समवाय विकृति से होता है। यह 'विकृति-विषम-समवाय' है।

सप्तदश अध्याय

तन्त्रयुक्तियाँ

तन्त्रयुक्ति-विवेचन

यह पूर्व में ही कहा जा चुका है कि 'तन्त्र' शास्त्र का ही पर्यायवाचक शब्द है, और 'युक्ति' का अर्थ योजना होता है। अतः 'तन्त्रयुक्ति' का अर्थ तन्त्र (शास्त्र) की योजना होती है।

'त्रायते शरीरमनेनेति तन्त्रं शास्त्रं चिकित्सा च, तस्य युक्तयो योजनास्तन्त्रयुक्तयः।
(आचार्य डल्हण)

इससे शरीर की रक्षा होती है, इसलिए यह तन्त्र है। इसे शास्त्र तथा चिकित्सा भी कहते हैं। उसकी युक्ति अर्थात् योजना 'तन्त्रयुक्ति' कही जाती है।

तन्त्रयुक्ति-प्रयोजन—'वाक्ययोजनमर्थयोजनञ्च'। (सु० उ० ६५।३)

वाक्य-योजना और अर्थ-योजना में तन्त्रयुक्ति के प्रयोजन कहे जाते हैं। उनमें योगोद्देश निर्देश आदि वाक्य-योजना तथा अधिकरण पदार्थादि तन्त्र-योजना है। पुनः कहा है—

'असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।
स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः॥
व्यक्ता नोक्ताश्च ये ह्यर्था लीना ये चाप्यनिर्मलाः।
लेशोक्ता ये च केचित् स्युस्तेषाञ्चापि प्रसाधनम्॥
यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोधस्य प्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः'॥
(सु० उ० ६५।४)

तन्त्रयुक्ति द्वारा असद्वादि प्रयुक्त वाक्यों का प्रतिषेध एवं स्ववाक्य की सिद्धि भी की जाती है। जो अर्थ व्यक्त और उक्त नहीं हैं, जो लीन और अनिर्मल हैं एवं जो कोई लेशमात्र कहे गये हैं, उन सभी का साधक तन्त्रयुक्ति है। जिस प्रकार कमल-वन का प्रकाशक सूर्य तथा घर का प्रकाशक दीपक है, ठीक उसी प्रकार बोध योग्य विषयों के प्रकाश के लिए तन्त्र की युक्तियाँ हैं।

'एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात् प्रबुध्यते॥

अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विना भिषक् ।
नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा' ॥
(च० सि० १२।४७-४८)

यहाँ एक भी शास्त्र का जिसका परिज्ञान बुद्धि को हो गया है, वह युक्ति ज्ञान के आधार पर अन्य शास्त्रों का भी शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वैद्य तन्त्रयुक्ति बिना शास्त्र-अध्ययन करता हुआ भी शास्त्र के अर्थ को ठीक उसी प्रकार नहीं ग्रहण कर पाता है, जैसे मनुष्य भाग्य-क्षय में धन को नहीं प्राप्त करता है। सारांश यह कि सम्यक्तया शास्त्र-ज्ञान प्राप्ति के लिए तंत्रयुक्ति का ज्ञान होना परमावश्यक है। इस-लिए महर्षि सुश्रुत और महर्षि चरक दोनों ने तन्त्रयुक्ति का पूर्णतया निरूपण किया है।

तन्त्रयुक्ति-संख्या—महर्षि सुश्रुत ने बत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ बतलायी हैं। वे इस प्रकार हैं—

'अधिकरणं योगः, पदार्थो हेत्वर्थ, उद्देशो निर्देश उपदेशोऽपदेशः प्रदेशोऽतिदेशो-ऽपवर्गो वाक्यशेषोऽर्थापत्तिविपर्ययः। प्रसङ्ग एकान्तोऽनेकान्तः पूर्वपक्षो निर्णयोऽनुमतं विधानमनागतावेक्षणमतिक्रान्तावेक्षणं। संशयो व्याख्यानं स्वसंज्ञा निर्वचनं, निदर्शनं नियोगो विकल्पः समुच्चय ऊह्यमिति'। (सु० उ० ६५)

१. अधिकरण, २. योग, ३. पदार्थ, ४. हेत्वर्थ, ५. उद्देश, ६. निर्देश, ७. उपदेश, ८. अपदेश, ९. प्रदेश, १०, अतिदेश, ११. अपवर्ग, १२. वाक्यशेष, १३. अर्थापत्ति, १४. विपर्यय, १५. प्रसङ्ग, १६. एकान्त, १७. अनेकान्त, १८. पूर्वपक्ष, १९. निर्णय, २०. अनुमत, २१. विधान, २२. अनागतावेक्षण, २३. अतिक्रान्तावेक्षण, २४. संशय, २५. व्याख्यान, २६. स्वसंज्ञा, २७. निर्वचन, २८. निदर्शन, २९. नियोग, ३०. विकल्प, ३१. समुच्चय एवं ३२. ऊह्य।

'तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च ।
प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् ॥
उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ।
प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः ॥
पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः ।
अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः ॥
निदर्शनं निर्वचनं सन्नियोगो विकल्पनम् ।
प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः सम्भवस्तन्त्रयुक्तयः ॥
तन्त्रे समासव्यासोक्ते भवन्त्येता हि कृत्स्नशः ।
एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहिते तथा' ॥
(च० सि० १२।४१-४५)

यहर्षि चरक के अनुसार छत्तीस तंत्रयुक्तियाँ हैं। ये कुल छत्तीस तंत्रयुक्तियाँ तंत्रों में सम्पूर्ण रूप से संक्षेप तथा विस्तार से पायी जाती हैं। किन्तु जो शास्त्र संक्षेप में वर्णित हैं, उनमें ये तंत्रयुक्तियाँ एक देश से अर्थात् संक्षेप रूप में ही कही गयी हैं—

१. अधिकरण, २. योग, ३. हेत्वर्थ, ४. पदार्थ, ५. प्रदेश, ६. उद्देश, ७. निर्देश, ८. वाक्यशेष, ९. प्रयोजन, १०. उपदेश, ११. अपदेश, १२. अतिदेश, १३. अर्थापत्ति, १४. निर्णय, १५. प्रसङ्ग, १६. एकान्त, १७. नैकान्त, १८. अपवर्ग, १९. विपर्यय, २०. पूर्वपक्ष, २१. विधान, २२. अनुमत, २३. व्याख्यान, २४. संशय, २५. अतीतावेक्षण, २६. अनागतावेक्षण, २७, स्वसंज्ञा, २८. ऊह्य, २९. समुच्चय, ३०. निदर्शन, ३१. निर्वचन, ३२. सन्नियोग, ३३. विकल्पन, ३४. प्रत्युत्सार, ३५. उद्धार एवं ३६. संभव।

इसके अतिरिक्त चरक-टीकाकार श्री भट्टारहरिचन्द्र ने चार और तंत्रयुक्तियाँ प्रतिपादित की हैं। वे हैं—१. परिप्रश्न, २. व्याकरण, ३. व्युत्क्रान्ताभिधान एवं ४. हेतु। इस प्रकार पूर्व की छत्तीस और ये चार सब मिलाकर कुल चालीस तन्त्र-युक्तियाँ होती हैं। इन चारों का अन्तर्भाव उक्त तन्त्रयुक्तियों में हो जाता है। जैसे—परिप्रश्न का उद्देश्य में, व्याकरण का व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का निर्देश में तथा हेतु से जो प्रत्यक्षादि प्रमाण कहे गये हैं, वे हेतु में अन्तर्भूत होते हैं। इनमें प्रयोजन, प्रत्युत्सार, उद्धार तथा सम्भव ये चार तन्त्रयुक्तियाँ ऋषिवर सुश्रुत ने प्रतिपादित नहीं की हैं। उक्त तंत्रयुक्तियों की परिभाषा इस प्रकार है—

१. अधिकरण-लक्षण—'तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। यथा—रसं दोषं वा'। (सु० उ० ६५।५)

जिस मुख्य विषय को लेकर दूसरे विषय कहे जाते हैं, वह अधिकरण है। जैसे—रस अथवा दोष। इनको मानकर इनके ही आधार पर चिकित्सा प्रतिपादित की जाती है।

२. योग-लक्षण—'येन वाक्यं युज्यते स योगः'। (सु० उ० ६५।६)

विपर्यय से कहे हुए सन्निकृष्ट एवं विप्रकृष्ट पदों का एकीकरण 'योग' है। जैसे प्रथम पद में कहे हुए वाक्य का दूसरे पद में कहे हुए वाक्य के साथ परस्पर योग करना।

'योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्'। (चक्रपाणि)

योग योजना है। व्यस्त अर्थात् पृथक्-पृथक् कथित पदों का एकीकरण एक साथ एकत्र किया जाना योग है। जैसे—प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय-निगमन।

३. पदार्थ-लक्षण—'योऽर्थोऽभिहितः सूत्रे पदे वा स पदार्थः, पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः, अपरिमिताश्च पदार्थाः'। (सु० उ० ६५।७)

किसी सूत्र अथवा पद में जो विषय कहा गया है, वह पदार्थ है, अथवा एक पद, दो पद तथा अनेक पदों का जो विषय है, वह पदार्थ है। पदार्थ अपरिमित हैं। पदार्थ के सम्बन्ध में प्रथम बहुत कुछ लिखा जा चुका है, क्योंकि यह पुस्तक ही पदार्थ विज्ञान की है। अतः इस सम्बन्ध में उस स्थल का परिशीलन करना चाहिए।

४. हेत्वर्थ-लक्षण—'यदन्यदुक्तमन्यार्थसाधकं भवति स हेत्वर्थः। यथा मृत्पिण्डोऽद्भिः प्रक्लिद्यते तथा माषदुग्धप्रभृतिभिर्व्रणः प्रक्लिद्यत इति'।

(सु० उ० ६५।८)

जो अन्यत्र कहा हुआ अन्य विषय का साधक होता है, वह हेत्वर्थ है। जैसे समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से धातुओं की वृद्धि होती है। यह वाताधिकार में महर्षि चरक ने कहा है। किन्तु यह वात के अतिरिक्त अन्य पित्त, कफ एवं रस आदि धातुओं पर भी व्यवहृत होता है। जैसे जल से मिट्टी का पिण्ड क्लेद युक्त हो जाता है, वैसे ही दुग्ध-सेवन से व्रण क्लेदयुक्त हो जाता है। यहाँ पर बाह्य के दृष्टान्त से आभ्यन्तर की सिद्धि की गयी है।

५. उद्देश्य-लणक्ष—'समासवचनमुद्देशः। यथा शल्यमिति'। (सु० उ० ६५।९)

संक्षेप में कहा हुआ उद्देश है। जैसे—सभी पीड़ा पहुँचाने वाले को शारीर अथवा आगन्तुक भेद से यह न कह कर कि पीड़ाकर शारीरिक दोष अथवा आगन्तुक कारण है, केवल 'शल्य' कह दिया जाय।

'उद्देशो नाम सङ्क्षेपाभिधानम्'। (चक्रपाणि)

संक्षेप से कहा जाना 'उद्देश' है।

६. निर्देश-लक्षण—'विस्तरवचनं निर्देशः। यथा—शारीरमागन्तुकञ्चेति'।

(सु० उ० ६५।१०)

'विस्तरेण भाषणं निर्देश इत्यर्थः'। (डल्हण)

विस्तारपूर्वक कहा जाना निर्देश है। जैसे—शारीर और आगन्तुक, अर्थात् शल्य दो प्रकार का है—प्रथम शारीर शल्य, द्वितीय आगन्तुक शल्य।

७. उपदेश-लक्षण—'एवमित्युपदेशः। यथा—तथा न जागृयाद् रात्रौ दिवा-स्वप्नञ्च वर्जयेदिति'। (सु० उ० ६५।११)

ऐसा करना चाहिए, यह उपदेश है। जैसे—रात्रि में जागना नहीं चाहिए और दिन में सोना नहीं चाहिए।

'उपदेशो नामाप्तानुशासनम्'। (चक्रपाणि)

आप्तपुरुषों के अनुशासन उपदेश हैं।

८. अपदेश-लक्षण—'अनेन कारणेनेत्यपदेशः। यथोपदिश्यते मधुरः श्लेष्मा-णमभिवर्द्धयतीति'। (सु० उ० ६५।१२)

'अनेन कारणेनेति कार्यं प्रति हेतुकथनमुपदेश इत्यर्थः'। (डल्हण)

कार्य के प्रति कारण का कहा जाना अपदेश कहा जाता है। जैसे—मधुर रस कफ को बढ़ाता है।

'यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनम्'। (चक्रपाणि)

प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए जो कारण रूप वचन कहा जाता है, वह अपदेश है।

९. प्रदेश-लक्षण—'प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधनं प्रदेशः। यथा—देवदत्तस्यानेन शल्यमुद्धृतं तस्माद् यज्ञदत्तस्याप्ययमेवोद्धरिष्यतीति'। (सु० उ० ६५।१३)

प्रकृत अर्थ का अतिक्रान्त अर्थात् अतीत अर्थ से साधन प्रदेश कहा जाता है। जैसे देवदत्त का शल्योद्धरण इसने किया है, अतः यज्ञदत्त का भी यही शल्योद्धरण करेगा। यहाँ प्रकृत विषय अर्थात् प्रस्तुत विषय यज्ञदत्त का शल्योद्धरण देवदत्त के अतिक्रान्त अतीत शल्योद्धरण से साधित किया जाता है।

१०. अतिदेश-लक्षण—'प्रकृतस्यानागतस्य साधनमतिदेशः। यथा—अनेनास्य वायुरूर्ध्वमुपतिष्ठते तेनोदावर्ती स्यादिति'। (सु० उ० ६५।१४)

प्रकृत विषय से उसके सदृश अनागत विषय का साधन अतिदेश कहा जाता है। जैसे यहाँ वायु का ऊपर उठना विकृत विषय है। इससे अनागत अर्थात् होने वाले उदावर्त की सम्भावना होती है।

११. अपवर्ग-लक्षण—'अभिव्याप्यापकर्षणमपवर्गः। यथा—अस्वेद्या विषोपसृष्टा अन्यत्र कीटविषादिति'। (सु० उ० ६५।१५)

सामान्य वचन के कथन से किसी का ग्रहण और पुनः विशेष वचन से उसका कुछ निराकरण अपवर्ग है। जैसे—विषयुक्त को स्वेदन नहीं कराना चाहिए। वह सामान्य वचन सभी विषोपसृष्ट को छोड़कर इस विशेष वचन के कथन पर पूर्ववचन से कीटादि विषान्वित प्रतिबन्धित नहीं रहे।

१२. वाक्यशेष-लक्षण—'येन पदेन अनुक्तेन वाक्यं समाप्यते स वाक्यशेषः। यथा—शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरसामित्युक्ते पुरुषग्रहणं विनापि गम्यते पुरुषस्येति'। (सु० उ० ६५।१६)

जिस पद के कहे बिना ही वाक्य समाप्त हो जाता है, वह वाक्यशेष कहा जाता है, पर यह वाक्यशेष वाक्यविषय का बोधक होता है। जैसे—शिर-पाणि-पाद-पार्श्व-पृष्ठ-उदर-उर कहने पर पुरुष ग्रहण बिना भी पुरुष का यह अवबोध होता है।

१३. अर्थापत्ति-लक्षण—'यदकीर्तितमर्थादापद्यते, सार्थापत्तिः। यथा—ओदनं भोक्ष्य इत्युक्तेऽर्थादापन्नं भवति नायं पिपासुर्यवागूमिति'। (सु० सू० ६५।१७)

एक विषय के प्रतिपादन से अन्य अप्रतिपादित विषय का स्वतः सिद्ध हो जाना अर्थात् ज्ञान हो जाना अर्थापत्ति है। जैसे—ओदन खाना चाहिए, यह कहने पर अर्थ से यह प्रतीति होती है कि यह यवागू पीने का इच्छुक नहीं है।

१४. विपर्यय-लक्षण—'यद् यत्राभिहितं तस्य प्रतिलोम्यं विपर्ययः। यथा—कृशाल्पप्राणभीरवो दुश्चिकित्स्या इत्युक्ते विपरीतं गृह्यते दृढादयः सुचिकित्स्या इति'। (सु० उ० ६५।१८)

जो कहा जाये, उससे प्रतिलोम्य अर्थात् विपरीत 'विपर्यय' कहा जाता है। जैसे—यह कहा जाये कि कृश, अल्प, प्राण तथा भीरु दुश्चिकित्स्य हैं। इस कथन पर इसके विपरीत यह स्वतः बोध हो जाता है कि दृढ़ादि सुचिकित्स्य हैं।

१५. प्रसङ्ग-लक्षण—'प्रकरणान्तरेण समापनं प्रसङ्गः। यद्वा प्रकरणान्तरितो योऽर्थोऽसकृदुक्तः समाप्यते स प्रसङ्गः। यथा पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषस्तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानमिति, वेदोत्पत्तावभिधाय भूतविद्यायां पुनरुक्तं यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति स खल्वेष कर्मपुरुषश्चिकित्सायामधिकृतः'। (सु० उ० ६५।१९)

दूसरे प्रकरण से विषय की समाप्ति अथवा प्रथम कथित विषय के प्रकरण में आ जाने से उसे पुनः कहना प्रसंग कहा जाता है। जैसे—'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवाय पुरुष' है उसी में क्रिया है और वही अधिष्ठान है। यह 'वेदोत्पत्ति' अध्याय में कहकर पुनः 'भूतविद्या' अध्याय में कहना कि यह कर्मपुरुष चिकित्सा में अधिकृत है।

१६. एकान्त-लक्षण—'सर्वत्र यदवधारणेनोच्यते स एकान्तः। यथा—त्रिवृद् विरेचयति, मदनफलं वामयति एव'। (सु० उ० ६५।२०)

सर्वत्र जो अवधारण अर्थात् निश्चयात्मक रूप से कहा जाता है, वह 'एकान्त' है। जैसे—त्रिवृत् विरेचन करती है और मदनफल वमन कराता है।

१७. अनेकान्त-लक्षण—'क्वचित् तथा क्वचिदन्यथेति यः सोऽनेकान्तः। यथा—केचिदाचार्या ब्रुवते द्रव्यं प्रधानं, केचिद् रसं, केचिद् वीर्यं, केचिद् विपाकमिति'। (सु० उ० ६५।२१)

कहीं किसी प्रकार तो कहीं किसी प्रकार कहा जाना अनेकान्त कहा जाता है। अर्थात् किसी विषय पर किसी आचार्य का कुछ और किसी का कुछ मत हो और कुछ भी निश्चित न हो सके। जैसे—कोई आचार्य कहते हैं द्रव्य प्रधान है, कोई रस, कोई वीर्य एवं कोई-कोई कहते हैं कि विपाक प्रधान है।

१८. पूर्वपक्ष-लक्षण—'आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः। यथा—कथं वातनिमित्ताश्चत्वारः प्रमेहा असाध्या भवन्तीति'। (सु० उ० ६५।२२)

आक्षेपपूर्वक प्रश्न करना पूर्वपक्ष है। जैसे—वातजनित चारों प्रमेह कैसे असाध्य होते हैं।

१९. निर्णय-लक्षण—'तस्योत्तरं निर्णयः। यथा—शरीरं प्रपीड्य पश्चादधो गत्वा वसामेदोमज्जानुविद्धं मूत्रं विसृजति वातः, एवमसाध्या वातजा इति'। तथा चोक्तम्—

'कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जावसायुतः।
अतः प्रकुप्यते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः' ॥ (सु० उ० ६५।२३)

पूर्वपक्ष का जो उत्तर होता है वही निर्णय है, इसलिए वातज असाध्य है। यथा—वातज प्रमेह असाध्य क्यों है, यह पूर्वपक्ष है। इसका विचारपूर्वक उत्तर है कि वायु समग्र शारीरिक धातुओं को प्रपीड़ित कर वसा, मेद और मज्जा को दूषित कर नीचे (वस्ति-प्रदेश) में प्राप्त होकर वसा, मेद और मज्जा युक्त मूत्र को बाहर निकालता है।

२०. अनुमत-लक्षण—'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। यथा—अन्यो ब्रूयात् सप्त-रसा इति तच्चाप्रतिषेधादनुमन्यते कथञ्चिदिति'। (सु० सू० ६५।२४)

दूसरे के मत का भिन्न होने पर प्रतिषेध न करना 'अनुमत' कहलाता है। जैसे कोई कहे सात रस होते हैं। इसका प्रतिषेध न करना अनुमत है।

२१. विधान-लक्षण—'प्रकरणानुपूर्व्याभिहितं विधानम्। यथा—'सक्थिमर्माण्ये-कादश प्रकरणानुपूर्व्याभिहितानि'। (सु० सू० ६५।२५)

प्रकरण के अनुपूर्वक्रम (यथाक्रम) से कहा गया विधान है। जैसे सक्थि-मर्म आदि का प्रकरणानुपूर्व्या कहा जाना।

२२. अनागतावेक्षण-लक्षण—'एवं वक्ष्यतीत्यनागतावेक्षणम्। यथा—श्लोक-स्थाने ब्रूयाच्चिकित्सितेषु वक्ष्यामीति'। (सु० सू० ६५।२६)

भविष्य में अर्थात् आगे कहा जाने वाला विषय 'अनागतावेक्षण' है। जैसे—श्लोकस्थान में बोलना कि चिकित्सास्थान में कहा जायेगा।

२३. अतिक्रान्तावेक्षण-लक्षण—'यत् पूर्वमुक्तं तदतिक्रान्तावेक्षणम्। यथा—चिकित्सितेषु ब्रूयात् श्लोकस्थाने यदीरितमिति'। (सु० सू० ६५।२७)

जो विषय प्रथम कहा गया हो, उस पर पुनः विचार करना अतिक्रान्तावेक्षण कहा जाता है। इसी को अतीतावेक्षण भी कहते हैं। जैसे—चिकित्सास्थान में कहा जाये कि श्लोकस्थान में यह कहा गया है।

२४. संशय-लक्षण—'उभयहेतुदर्शनं संशयः। यथा—तलहृदयाभिघातः प्राण-हरः, पाणिपादच्छेदनमप्राणहरमिति'। (सु० सू० ६५।२८)

दोनों प्रकार के हेतुओं का दिखलायी देना संशय कहा जाता है। जैसे—तलहृदय का अभिघात प्राणहर है, पर पाणिपाद छेदन प्राणहर नहीं है।

२५. व्याख्यान-लक्षण—'तन्त्रेऽतिशयोपवर्णनं व्याख्यानम्। यथा—इह पञ्च-विंशतिकः पुरुषो व्याख्यायते। अन्येष्वायुर्वेदतन्त्रेषु भूतादिप्रभृत्यारम्भ चिन्ता'। (सु० सू० ६५।२९)

शास्त्र में विषय का अतिशय रूप से सम्यक्तया समझाकर वर्णन करना व्याख्यान कहा जाता है। जैसे—पञ्चविंशतितत्त्वात्मकपुरुष कहा जाता है। एकधातुज, षड्-धातुज, राशिपुरुष या चतुर्विंशतितत्त्वात्मकपुरुष का वर्णन विस्तार से कहा जाता है।

२६. स्वसंज्ञा-लक्षण—'अन्यशास्त्रासामान्या स्वसंज्ञा। यथा—मिथुनमिति मधुसर्पिषोर्ग्रहणम्, लोके प्रसिद्धमुदाहरणं वा'। (सु० सू० ६५।३०-३१)

किसी की अन्य शास्त्रों से भिन्न जो अपनी संज्ञा दी जाती है, वह 'स्वसंज्ञा' कही जाती है। जैसे 'मिथुन' यह एक संज्ञा दी गयी, इससे मधु और घृत का ग्रहण होता है अथवा इसी प्रकार बहुत से प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

'स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञा क्रियते, यथा—जेन्ताकहोलाकादिका संज्ञा'। (चक्रपाणि)

तन्त्रकार व्यवहार के लिए जो कार्य 'संज्ञा' निर्धारित करता है। जैसे स्वेदाध्याय में जेन्ताक एवं होलाकादि स्वेद की संज्ञा है।

२७. निर्वचन-लक्षण—'निश्चितं वचनं निर्वचनम्। यथा—आयुर्विद्यतेऽस्मिन्नेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः'। (सु० सू० ६५।३२)

निश्चित वचन कहना निर्वचन कहा जाता है। जैसे—इसमें आयु है अथवा इससे आयु की प्राप्ति होती है। इसलिए यह आयुर्वेद कहा जाता है।

२८. निदर्शन-लक्षण—'दृष्टान्तव्यक्तिर्निदर्शनम्। यथा—अग्निर्वायुना सहितः कोष्ठे वृद्धिं गच्छति तथा वातपित्तकफदुष्टो व्रण इति'। (सु० सू० ६५।३२)

'दृष्टान्तेन व्यक्तिर्यस्मिन् वाक्ये तत्तथा'। (डल्हण)

जिस वाक्य में दृष्टान्त से विषय व्यक्त किया गया हो, वह निदर्शन है। जैसे—अग्नि वायु सहित कोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती है, उसी प्रकार वात, पित्त तथा कफ से दूषित व्रण वृद्धि को प्राप्त होता है।

२९. नियोग-लक्षण—'इदमेव कर्त्तव्यमिति नियोगः। यथा—पथ्यमेव भोक्तव्यमिति'। (सु० सू० ६५।३४)

यह ही करना चाहिए, यह नियोग है। जैसे—पथ्य ही भोजन करना चाहिए।

३०. समुच्चय-लक्षण—'इदञ्चेदञ्चेति समुच्चयः। यथा—मांसवर्गे एणहरिणादयो लावतित्तिरिसारङ्गाश्च प्रधानानीति'। (सु० सू० ६५।३५)

यह और यह इस प्रकार कहना समुच्चय है। जैसे—मांसवर्ग में एण, हरिणादि, लाव, तित्तिर तथा सारङ्ग प्रधान हैं।

३१. विकल्प-लक्षण—'इदं वेद वेति विकल्पः। यथा—रसौदनः सघृता यवागूर्वा'। (सु० सू० ६५।३६)

यह अथवा यह—इस प्रकार का वाक्य अथवा कहकर कहा जाना 'विकल्प' कहलाता है। जैसे—रसयुक्त भात खायें अथवा घृत सहित यवागू खायें।

३२. ऊह्य-लक्षण—'यदनिर्दिष्टं बुद्धचावगम्यते तदूह्यम्। यथा—अभिहितमन्नपानविधौ चतुर्विधञ्चान्नमुपदिश्यते—भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं पेयमिति, एवं चतुर्विधे वक्तव्ये द्विविधमभिहितम्'। (सु० सू० ६५।३७)

शास्त्र में अनिर्दिष्ट विषय को बुद्धि से तर्क कर जो जाना जाता है, उसे ऊह्य कहते हैं। जैसे—शास्त्र में चतुर्विध अन्नपान कहा गया है। इस प्रकार चतुर्विध वक्तव्य में द्विविध ही कहा जाए, परन्तु द्विविध से ही चतुर्विध को बुद्धि द्वारा तर्क कर समझ लेना ऊह्य है।

३३. प्रयोजन-लक्षण—'प्रयोजन नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्त्तते, यथा—धातुसाम्यक्रियाचोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्'। (चक्रपाणि)

जिस विषय की कामना करते हुए उसकी सम्पन्नता में कर्त्ता प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन है। जैसे—महर्षि चरक ने सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में कहा है कि इस तन्त्र का प्रयोजन 'धातुसाम्यक्रिया' कहा गया है।

३४. प्रत्युत्सार-लक्षण—'प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणं, यथा वार्योविदः प्राह—'रसजानि तु भूतानि रसजा व्याधयः स्मृताः। (चक्रपाणि)

प्रमाण एवं युक्ति द्वारा दूसरे के मत का निवारण करना 'प्रत्युत्सार' कहा जाता है। जैसे—वार्योविद् ने कहा है कि रस से ही प्राणियों की उत्पत्ति होती है और उनकी व्याधियाँ भी रस से ही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार चरक-सूत्रस्थान के पचीसवें अध्याय में विभिन्न महर्षियों ने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं।

३५. उद्धार-लक्षण—'उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणं,' यथा—

'येषामेव हि भावानां सम्पत् सञ्जनयेन्नरम्।
तेषामेव हि भावानां विपद्व्याधीनुदीरयेत्'॥ (च० सू० २५)
'इत्यादिना स्वपक्षोद्धरणम्'। (चक्रपाणि)

दूसरे के पक्ष को दूषित कर अर्थात् उसमें दोष दिखलाकर अपने पक्ष का समाधान करना उद्धार कहा जाता है। जैसे—जिन पदार्थों की प्रशस्त गुणता मनुष्य को उत्पन्न करती है, उन्हीं का वैगुण्य विविध व्याधियों को उत्पन्न करता है।

३६. सम्भव-लक्षण—'सम्भवो नाम यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य सम्भवः, यथा—मुखे पिप्लुव्यङ्गनीलिकादयः सम्भवन्तीत्यादि'। (चक्रपाणि)

जो जिसमें उपपद्यमान होता है, वह उसका 'सम्भव' है। जैसे—मुख में पिप्लु, व्यङ्ग तथा नीलिकादि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

अष्टादश अध्याय

चतुर्दश तन्त्रदोष, सप्तविध कल्पना, सप्तदश ताच्छील्य एवं एकविंशति अर्थाश्रय

विषय-प्रतिपादन, शास्त्रों की जानकारी एवं उनके गूढ़ार्थ ज्ञान के लिए इनके भी ज्ञान की आवश्यकता है। अष्टांगहृदय (उत्तरस्थान ४०।८०) के सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्याकार अरुणदत्त ने इन पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। आचार्य चक्रपाणि (च० सि० १२।४१-४४½) ने इनकी संख्याओं का केवल उल्लेख किया है। शंकर शर्मा, कोट्टयम् (केरल) द्वारा सम्पादित (१९४१ ई०) 'तन्त्रयुक्ति' नामक ग्रन्थ में इनके भेद, उदाहरण तथा कुछ की परिभाषाओं का संक्षेप में उल्लेख मिलता है। तन्त्रदोष तथा अर्थाश्रय के प्रकार (संख्या) में तथा सप्तविध कल्पनाओं के नाम-निर्धारण में आचार्यों में मत-भिन्नता है।

चतुर्दश तन्त्रदोष

शास्त्र का ही पर्यायवाचक एक शब्द तन्त्र है, जैसा कि प्रारम्भ में आयुर्वेद के पर्यायवाचक शब्दों का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है। इस प्रकार तन्त्रदोष अर्थात् शास्त्रदोष का ज्ञान परमावश्यक है। 'दूषयति तन्त्रमिति दोषः' अर्थात् जो तन्त्र (शास्त्र) को दूषित करे, वह तन्त्रदोष है।

'दुर्लक्षणविहीनत्वमङ्गानामपि भूषणम्।
इत्यलङ्कारसम्बन्धाद् दोषविज्ञानमीयते'॥ (तन्त्रयुक्ति)

अङ्गों का दुर्लक्षणविहीन (दोषाभाव) ही अलंकार (आभूषण) कहलाता है, इसलिए दोषों का अलंकार से सम्बन्ध होने के कारण दुर्लक्षणों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि दोषों के ज्ञान के बिना उनको शास्त्र से समाप्त करना असम्भव है।

साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने पददोष, पदांशदोष, वाक्यदोष, अर्थ-दोष तथा रसदोष इस प्रकार पाँच प्रकार के दोषों का वर्णन किया है। महर्षि चरक ने भी (च० वि० ८।५४) निम्नस्थ वाक्यदोष बतलाया है—१. न्यून, २. अधिक, ३. अनर्थक, ४. अपार्थक एवं ५. विरुद्ध।

आचार्य अरुणदत्त ने पन्द्रह तन्त्रदोष बतलाये हैं—

१. अप्रसिद्धम्, २. दुष्प्रणीतम्, ३. असङ्गतार्थम्, ४. असुखारोहि, ५. विरुद्धम्, ६. अतिविस्तृतम्, ७. अतिसंक्षिप्तम्, ८. अप्रयोजनम्, ९. भिन्नक्रमम्, १०. सन्दिग्धम्,

११. पुनरुक्तम्, १२. निष्प्रमाणकम्, १३. असमाप्तार्थम्, १४. अपा(न)र्थकम् एवं १५. व्याहतम् ।

'अप्रसिद्धं दुष्प्रणीतमसुखारोह्यसङ्गतम् ।
विरुद्धमतिविस्तारमतिसङ्क्षिप्तमेव च ॥
सन्दिग्धं पुनरुक्तं च निष्प्रमाणप्रयोजने ।
असमाप्ताक्षरं तद्वत् व्याहतं स्यादपार्थकम्' ॥ (तन्त्रयुक्ति)

इसमें अरुणदत्त द्वारा वर्णित भिन्नक्रमम् दोष को छोड़कर अन्य चौदह तन्त्र-दोष तन्त्रकार ने बतलाये हैं ।

१. अप्रसिद्धशब्दं नाम—'यल्लोके नातीव प्रसिद्धम्' । ऐसा शब्द अथवा उदाहरण आदि जो लोक में अधिक प्रसिद्ध न हो । यथा—उदक्या (रजस्वला स्त्री) से सम्बन्ध स्थापित करना असुख का लक्षण है । यहाँ उदक्या शब्द का प्रयोग सामान्यतः व्यवहार में प्रचलित नहीं है ।

२. दुष्प्रणीतं नाम—'सूत्रभाष्यप्रयोजनरहितम्' । जो तन्त्र सूत्र एवं भाष्य-प्रयोजन से रहित हो ।

३. असङ्गतार्थं नाम—'यत्सूत्रेणासम्बद्धम्' । जो मूल सूत्र से सम्बन्ध न रखता हो ।

४. असुखारोहिपदं नाम—'यत्पदसन्निवेशस्य विषमतया दुःखेनोच्चार्यते चर्करीतादिप्रायम्' । जो पद-सन्निवेश की विषमता से दुःखपूर्वक उच्चरित किया जाता हो । यथा—'धातर्यरिपदम्' इति ।

५. विरुद्धं नाम—'यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम्' । जो दृष्टान्त, सिद्धान्त तथा समय से विरुद्ध हो । दृष्टान्त-विरुद्ध यथा—पुरुष नित्य है, अकृतक होने से, जैसे घट । सिद्धान्त-विरुद्ध यथा—मधुर, अम्ल एवं लवण कफ को शान्त करते हैं । समय-विरुद्ध पूर्वाचार्यों की मान्यताओं का उल्लंघन यथा—नाखून से तिनका नहीं काटना चाहिए, इसके हेतु नहीं है, परन्तु परम्परा से चला आ रहा है ।

६. अतिविस्तृतं नाम—अनावश्यक रूप से तन्त्र का अधिक विस्तार किया जाना तन्त्रदोष है । यथा—मधुर स्कन्ध का वर्णन करते समय संसार में जितने पदार्थ मधुर, मधुरप्राय तथा मधुरप्रभव हैं, सबको कहा जाय, तो अति विस्तृत हो जायेगा ।

७. अतिसंक्षिप्तं नाम—अतिसंक्षिप्त रूप से किसी विषय के प्रतिपादन से उसका स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है, और न ही उस विषय का बोध होता है । फलतः विषय अस्पष्ट ही रह जाता है । जैसे 'हेतुलिङ्गौषध' इन पदों को ही कहा जाय, उनकी व्याख्या करने वाले वाक्यों को न कहा जाय ।

८. अप्रयोजनं नाम—प्रयोजन के बिना मन्दबुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है । अतः शास्त्र का प्रयोजन रहित होना 'अप्रयोजन' दोष है । जैसे यह

कहा जाय 'इत्याचारः समासेन' किन्तु यह न कहा जाय 'यं प्राप्नोति समाचरन्। आयुरारोग्यमैश्वर्यम्' तो कौन व्यक्ति सदाचार का पालन करेगा।

९ भिन्नक्रमं नाम—जिस तंत्र में किसी विषय का निरूपण एक क्रम से न हो कर भिन्न-भिन्न क्रम से किया गया हो अथवा एक क्रम से एक विषय का निरूपण पूरा न कर दूसरे विषय का आरम्भ कर दिया गया हो। जैसे—वात का वर्णन आरम्भ करने पर उसे पूरा न कर एक भिन्न विषय पित्त का विवेचन आरम्भ कर दिया गया हो।

१०. सन्दिग्धं नाम—किसी विषय का सन्दिग्धात्मक विवेचन। जैसे—क्या अकाल मृत्यु है अथवा नहीं ?

११. पुनरुक्तं नाम—एक ही प्रकार की बातों का बार-बार कहा जाना पुनरुक्त कहा जाता है।

१२. निष्प्रमाणकं नाम—वर्णनीय विषयों का प्रमाण रहित वर्णन निष्प्रमाणक नाम दोष है।

१३. असमाप्तार्थं नाम—किसी विषय का पूर्ण विवेचन न कर जिससे उसका अर्थावबोध हो, उसे आधे पर ही समाप्त कर देना असमाप्तार्थ नाम दोष है।

१४. अनर्थकं नाम—जिसमें दूसरे अर्थवाले पदों से मतलब निकल आता है, उसको 'अनर्थक दोष' कहा जाता है।

१५. व्याहतं नाम—पूर्व वाक्य की युक्ति से अपर अथवा अपर वाक्य की युक्ति से पूर्व वाक्य का व्याहत अर्थात् खण्डित होना 'व्याहतदोष' कहा जाता है। जैसे—मेही अनास्थाप्य (अ० हृ० सू० १९।४) होते हैं—यह कहकर मेहियों के लिए आस्थापन विधि का विधान (अ० हृ० क० ४।४०) किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त तन्त्रदोष हैं। तन्त्र-विरचन करते समय यह पूर्ण रूप से ध्यान रखना परमावश्यक है कि तन्त्र सभी प्रकार से उक्त दोष से मुक्त हो।

सप्तविध कल्पना

शास्त्र में वर्णन करने योग्य विषयों को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट करने हेतु अनेकों कल्पनाएँ की जाती हैं, जिससे विषय का ज्ञान सरलता से हो सके। अरुणदत्त ने निम्नस्थ सात कल्पनाएँ मानी हैं—

प्रधान कल्पना—यह दो प्रकार की होती है—१. प्रधानस्य कल्पना, २. प्रधानेन वा कल्पना प्रधानकल्पना, ३. गुणकल्पना नाम, ४. लेशकल्पना नाम, ५. विद्या-कल्पना नाम, ६. भक्ष्यकल्पना नाम एवं ७. आज्ञाकल्पना नाम।

१. प्रधानस्य कल्पना—किसी कार्य विशेष के लिए उस कार्य की सम्पन्नता हेतु जो प्रधान द्रव्य है, उस द्रव्य द्वारा जो कल्पना की जाती है, वह प्रधान कल्पना है। जैसे घृत स्नेहन तथा दुग्ध जीवन है। यहाँ स्नेहन तथा जीवन हेतु घृत एवं दुग्ध

द्वारा जो कल्पना होती है, वह प्रधान कल्पना है। स्नेहन तथा जीवन तैल एवं जल आदि में नहीं कहा जाता है।

२. प्रधानेन कल्पना—जैसे क्षीर, दधि, तक्र, मस्तु, नवनीत, घृत, पुराण घृत, किलाट, पीयूष एवं कूचीका मोरटादि वर्ग सब क्षीरवर्ग कहा गया है। यहाँ क्षीर की प्रधानता में प्रधान से कल्पना की गई है और सब क्षीरवर्ग कहा गया है।

३. गुणकल्पना नाम—जिस धर्म से युक्त होने पर समर्थ माना जाता है, उस धर्म से युक्त अगुण होते हुए भी गुण माना जाता है। जैसे चिकित्सा के चार पाद हैं, चिकित्सक में दक्षत्व आदि कल्पना गुण कल्पना है।

४. लेशकल्पना नाम—'अनुपदिष्टस्य विधेः कण्ठपाठेन यत्किञ्चित् सूत्रावयवान्तरमाश्रित्यार्थः कल्प्यते'। जिस विधि को स्पष्ट रूप से न कहा गया हो, परन्तु सूत्र के अन्तर्गत आने वाले पद से कल्पना की गई हो, वह लेश कल्पना है। जैसे—आयुर्वेद में कालाकाल मृत्यु का स्पष्ट लक्षण नहीं कहा गया है, परन्तु वाक्य के अन्तर्गत पदों से अर्थ निकाला जाता है।

५. विद्याकल्पना नाम—अन्य शास्त्रों में वर्णित विषय को अपने शास्त्र में हितकर सिद्ध करना विद्या कल्पना है। यथा—'अर्चयेद् देवगोविप्र' यह धर्मशास्त्र का उपदेश सद्वृत्त प्रकरण में अष्टांगहृदय ने स्वीकार कर लिया।

६. भक्ष्यकल्पना नाम—किसी भक्ष्य (आहार) के विषय में यह कहना कि 'एतत् तदमृतं साक्षात्' (अ० हृ० उ० ४०।७५) अर्थात् यह साक्षात् अमृत है, यह भक्ष्यकल्पना है।

७. आज्ञाकल्पना नाम—बिना किसी हेतु के आप्तों के वाक्यों के आधार पर जो विधि या निषेध किया जाता है, वह आज्ञा कल्पना है। जैसे पृथ्वी पर लिखना नहीं चाहिए तथा तिनकों को नाखून से नहीं काटना चाहिए इत्यादि।

तन्त्रयुक्तिकार ने इस ढंग से कल्पनाएँ बतलाई हैं—१. प्रधान कल्पना, २. गुण कल्पना, ३. लेश कल्पना, ४. इंगित कल्पना, ५. विभव कल्पना, ६. भक्ति कल्पना एवं ७. आज्ञा कल्पना। इस प्रकार इन्होंने तीन अन्य कल्पनाएँ बतलाई हैं, जिनके लक्षण निम्नस्थ हैं—

१. इंगित कल्पना—यह विद्या कल्पना है।

२. विभव कल्पना—पहले कहा जा चुका है, किन्तु यहाँ नहीं कहा गया है, तो उसको यहाँ भी मान लेना विभव कल्पना है।

३. भक्ति कल्पना—भक्ति उपचार लक्षणा है। अर्थात् इस पद का अन्य भी अर्थ निकलता है।

सप्तदश ताच्छील्य

तद् + शील = तच्छील । अर्थात् उसके जैसा स्वभाव तच्छील कहलाता है । भाव वाचक संज्ञा बनाने पर ताच्छील्य शब्द बनता है । लोहे में जलाने का धर्म नहीं है, अग्नि के सम्पर्क से उष्णता को ग्रहण करके ताच्छील्य धर्म को प्राप्त करके गर्म लोहा भी जला देता है । शरीर में बहुत से विकार टिशू के अपने न होते हुए भी अपने किसी दूसरे कारण को ग्रहण करके तदनुसार आचरण कर लेते हैं ।

किसी एक धर्म के सादृश्य से युक्त भाव का ज्ञान होना ताच्छील्य कहलाता है । जैसे किसी अंग में नख अथवा सुई आदि चुभोने से उस अंग के सुप्त होने का ज्ञान सुप्ति (निद्रा) सदृश होने के कारण करते हैं । सुप्ति वातप्रकोपक लक्षणों में से एक लक्षण है, अतएव वात प्रकुपित समझ लेते हैं । इस प्रकार का ज्ञान ताच्छील्य कहलाता है । ताच्छील्य सतरह होते हैं—

१. ताच्छील्य, २. अवयव, ३. विकार, ४. सामीप्य, ५. भूयस्त्वम्, ६. प्रकार, ७. गुणिगुणविभव, ८. संसक्तता, ९. तद्धर्मता, १०. स्थान, ११. साहचर्य, १२. तादर्थ्य, १३. कर्म, १४. गुणनिमित्तता, १५. चेष्टानिमित्तता, १६. मूल संज्ञा एवं १७. तात्स्थ्यम् ।

१. ताच्छील्य—सुप्त एवं सुप्ति दोनों समान हैं । जैसे पुरुष सोया हुआ कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं चेतता, वैसे अङ्ग भी नखादि से दबाने पर भी कुछ नहीं जानता, वह भी सुप्ति की भाँति सुप्त कहा जाता है ।

२. अवयव—जहाँ विषय का एक देश अर्थात् एकांश के साथ सम्बन्ध हो, समग्र विषय का उससे सामञ्जस्य न होता हो । जैसे लंघन से स्वास्थ्य और अलंघन से रोग होता है । इसे दूसरे रूप से भी कहते हैं—जहाँ एक देश का उदाहरण कहने पर अनुक्त दूसरे भी तज्जातीय विषय का ग्रहण होता है ।

३. विकार—विकार का शब्दार्थ विकृति है । विकार विपरीत क्रिया है । जैसे विकार संज्ञा से प्रकृति भी गृहीत होती है और प्रकृति से विकार । विकार संज्ञा से प्रकृति भी गृहीत होती है, वह ऐसा है कि पुष्प, पत्र, फल, नाल एवं कन्द में क्रम से गुरुता होती है । यहाँ पाठा-शूकादिकों के पत्रादि प्रकृति हैं । वही अपने पाक से विक्रियमाण हो दूसरी अवस्था को प्राप्त कर शाक संज्ञा प्राप्त कर लेता है, परन्तु शास्त्रकारों ने उनको विकार संज्ञा कही है ।

४. सामीप्य—जिसके समीप जो रहता है, उसका उसके साथ सामीप्य होता है । जैसे स्नेहवर्ग में कथित घृत-तैल के गुणों में सामीप्य होता है ।

५. भूयस्त्व—कोई विधान बनने पर उसमें जो वचन अपवाद स्वरूप होता है, वही भूयस्त्व कहा जाता है । जैसे—अम्ल रस सर्वप्रिय है, परन्तु कुछ लोगों को अथवा कभी-कभी वह रुचिकर नहीं होता है ।

६. प्रकार—जो भाव जिस भाव का समान धर्म वाला होता है, वह उसका प्रकार है। जैसे—एरण्ड-नाल के कण्ठ में स्पर्श से वमन होता है, इसी एरण्ड-नाल सदृश कमलनाल के स्पर्श से भी वमन होता है।

७. गुणिगुणविभव—गुणि में समान गुणों के सेवन से जो भाव उत्पन्न होता है, वह 'गुणिगुणविभव' कहा जाता है। जैसे—पाञ्चभौतिक आहार के सेवन से ही पाञ्चभौतिक शरीर में बल-वर्णादि गुणों का आधान होता है।

८. संसक्तता—एक का बहुत से सम्बन्ध संसक्तता है। जैसे—एक द्रव्य में अनेक रसों का संसर्ग होता है। भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भिन्न-भिन्न रस होने पर भी उसे द्रव्य में ही परिगणन किया जाता है। जैसे–मधुर स्कन्ध से मधु का परिगणन होता है। यद्यपि मधु कषाय तथा मधुर रस वाला होता है।

९. तद्धर्मता—जब किसी में अन्य धर्म पाया जाता है, तब उसमें उसकी तद्धर्मता अर्थात् उस धर्म होना कहा जाता है। जैसे—विष प्राणहर होता है और प्राणहरण का कार्य 'यम' करता है। अतः विष में यम की तद्धर्मता है।

१०. स्थान—जहाँ स्थानी से स्थान अथवा स्थान से स्थानी कहा जाता है। जैसे–स्थानी से स्थान कर्णनाद श्रोत्र रोग। यहाँ श्रोत्रेन्द्रिय का नाद नहीं है, किन्तु उसके स्थान पर कर्ण का नाद है। इसीलिए 'श्रोत्र' स्थानी 'कर्ण' स्थान कहा गया। स्थान से स्थानी जैसे जिह्वा रस का ग्रहण करती है। यहाँ जिह्वा रस को ग्रहण नहीं करती है, जिह्वा तो स्थान है। रस को ग्रहण करने वाली रसनेन्द्रिय है।

११. तादर्थ्य—जिस प्रयोजन के स्पष्टीकरण के लिए जो भाव कहा जाता है, वह 'तादर्थ्य' कहलाता है। जैसे—वमन कहकर वमनकारी द्रव्य मदनफल आदि का प्रयोग एवं उसके गुण, धर्म का विवेचन।

१२. साहचर्य—जिसके साथ जो सम्बन्ध नित्य बना रहता है, वह उस सम्बन्ध से सम्बन्ध को प्राप्त करता है। जैसे—धूम और अग्नि का सम्बन्ध। जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है। वह साहचर्य कहलाता है।

१३. कर्म—'कर्तव्यस्य क्रिया कर्म' (च० सू० १।५२)। कर्तव्य विषय हेतु जो क्रिया की जाती है, वह कर्म है। किसी भी अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए जो क्रिया सम्पादित की जाती है, वह कर्म है। महर्षियों को उनके कर्म से ही उसी अनुसार विषय-निवृत्ति एवं सुख-शान्ति प्राप्त होती है। सबका निमित्त कर्म ही है।

१४. गुणनिमित्तता—जिन गुणों के कारण गुणानुरूप लक्ष्य की प्राप्ति हो, उसे गुणनिमित्तता कहते हैं। जैसे—धार्मिक गुणों से दीर्घायु की प्राप्ति होती है।

१५. चेष्टानिमित्तता—चेष्टापूर्वक लक्ष्य-प्राप्ति की चेष्टानिमित्तता कही जाती है। जैसे—ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। कर्मेन्द्रियों की चेष्टाएँ वचन, आदान, विहरण एवं विसर्जन आदि हैं।

१६. मूलसंज्ञा—जो लोक में दूसरे अर्थ में और शास्त्र में दूसरे अर्थ में प्रसिद्ध हो। जैसे—रूप लोक में नील, पीत, लोहितादि प्रसिद्ध हैं, किन्तु आयुर्वेद तन्त्र में 'रूप' इस शब्द से लिङ्ग (लक्षण) समझा जाता है अथवा किसी विषय का मूलरूप में वर्णन करना मूलसंज्ञा है। जैसे मूलरूप में 'पञ्चनिदान' कहा गया है और पञ्च-निदान से निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति सभी गृहीत हैं।

१७. तात्स्थ्य—जो तात्स्थ्यत्व अर्थात् उसमें स्थित होने से अन्य ही अर्थ की अन्य ही कल्पना की जाती है। अर्थात् किसी का भाव कुछ है, उससे दूसरा भी भाव घटित होने के कारण जो दूसरे भाव की कल्पना की जाती है, वह तात्स्थ्य कहा जाता है। जैसे मूत्र का वेग धारण करने से वस्ति और मूत्रमार्ग में शूल होता है। यहाँ कारण वेग धारण है, पर वस्ति और मेहन में शूल न होते हुए भी उस प्रदेश में स्थित होने से वस्ति और मूत्रमार्ग की चिकित्सा होती है।

एकविंशति आश्रय

आश्रय द्वारा शास्त्रों के क्रमहीन, प्रसङ्ग-रहित एवं गूढ़ अर्थों का परिज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त शास्त्रकार ग्रन्थ लिखते समय अपने विचारानुसार कुछ विशिष्ट नियमों का अथवा शैली का आश्रय लेता है। अतः इसका ज्ञान भी शास्त्र ज्ञान के लिए आवश्यक है। अरुणदत्त ने बीस आश्रय माना है। तन्त्रयुक्तिकार ने उपधालोप नाम से एक और आश्रय का उल्लेख किया है। इस प्रकार आश्रय इक्कीस हैं—

१. आदिलोप, २. मध्यलोप, ३. अन्तलोप, ४. उभयपदलोप, ५. आदिमध्यान्त लोप, ६. उपधालोप, ७. वर्णोपजनन, ८. ऋषिक्लिष्ट, ९. तंत्रशैली (तंत्रशील), १०. तंत्रसंज्ञा, ११. प्रकृताख्य (प्राकृत), १२. समानतंत्रप्रत्यय, १३. परतंत्रप्रत्यय, १४. हेतुकधर्म, १५. कार्यकारणधर्म, १६. आद्यन्तविपर्यय, १७. शब्दान्यत्व, १८. प्रत्ययाख्यधर्म, १९. उपनय, २०. संभव एवं २१. विभव।

१. आदिलोप—सूत्र अथवा पद के आदि अथवा पूर्ववर्ति शब्द का लोप होना 'आदिलोप' कहा जाता है। जैसे—धारण अथवा उदीरण कहने पर यहाँ पूर्ववर्ती 'वेग' शब्द लुप्त है। पूरा वाक्य है—'वेगोदीरण' अथवा 'वेगधारण'। लुप्त शब्द के ज्ञान होने पर ही पूरे वाक्यार्थ का ज्ञान होगा।

२. मध्यलोप—मध्यवर्ति शब्द का लोप रहना मध्यलोप कहा जाता है। जैसे—अन्न अथवा द्रव विज्ञानीय में मध्यवर्ति स्वरूप अथवा द्रव्य शब्द लुप्त है। पूर्णपद 'अन्न स्वरूप विज्ञानीय' अथवा 'द्रवद्रव्य विज्ञानीय' है।

३. अन्तलोप—अन्त में रहने वाले शब्द का लोप रहने पर अन्त लोप कहा जाता है। जैसे—मधुरादि रस विशिष्ट द्रव्यों का सेवन; यह कहने पर 'कफकारकभाव' यहाँ जो लुप्त होता है, उसका ज्ञान होता है।

४. उभयलोप—यह तीन प्रकार का होता है—१. आदिमध्यलोप, २. आद्यन्त-लोप एवं ३. मध्यान्तलोप।

५. आदिमध्यान्तलोप—(सर्वलोप)—इसी प्रकार जब आदि, मध्य एवं अन्त सब का लोप हो, तो उस दशा में 'सर्वलोप' कहा जाता है। जैसे—अन्नकाल में सेवन करें। इस प्रकार का वाक्य कहने पर इससे सम्बन्धित सभी भावों को समझना चाहिए।

६ उपधालोप--उपधा संज्ञा व्याकरणशास्त्र में वर्णित है। उसके आधार पर उपधालोप का वर्णन आचार्य ने किया है। इसको अरुणदत्त ने नहीं माना है। 'अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा' सूत्र से अन्त्य अल् के पहले वर्ण को उपधा संज्ञा होती है। जैसे गर्दभ शब्द में (भ्+अ=भ) भ् की उपधा संज्ञा होगी। यदि 'भ्' न लिखा हो, केवल 'गर्द अ' हो, तो यह उपधालोप कहलायेगा।

७. वर्णोपजनन—किसी एक वर्ण से उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुएँ जो नहीं कही गयी हैं, ग्रहण करना वर्णोपजनन है। जैसे पार्थिव शब्द से गन्ध, घ्राण तथा अस्थि का ग्रहण होता है।

८. ऋषिक्लिष्ट—जो कोई पद ऋषि अथवा ऋषिपुत्र द्वारा असावधान चित्त अथवा असमर्थतावश भ्रष्ट रूप से अर्थात् अशुद्ध रूप से उच्चरित हो और वैसा ही प्रयुक्त होने लगे। जैसे—रोम-लोम इत्यादि।

९. तन्त्रशैली (तन्त्रशील)—तन्त्रकार की तन्त्र-लेखन की जो शैली होती है, वह तंत्रशैली है। जैसे—तीन सौ साठ अस्थियाँ होती हैं। इस विस्तृत विषय को संक्षिप्त रूप में कह देना, पुनः उसका सविस्तर वर्णन करना, पुनः उसका संक्षिप्त रूप में सारांश कहना।

१०. तन्त्रसंज्ञा—किसी विषय की व्याख्या करते हुए उसके प्रमाण के लिए अपने तंत्र का कोई सिद्ध उदाहरण कहना 'तंत्रसंज्ञा' है। जैसे—'तिक्तः पित्ते विशेषेण प्रयोज्यः, कटुकः कफे' इत्यादि इस प्रकार स्वकीय तंत्र संज्ञा से तिक्त, कटु, कषाय पञ्चविध स्वरसादि कल्पना से निषिद्ध है।

११. प्राकृताख्य (प्राकृत)—प्राकृत प्रसङ्ग के अनुसार शब्दार्थ का ज्ञान करना। जैसे—औषध प्रसङ्ग में उक्त 'सैन्धव' शब्द से सैन्धव लवण समझना, न कि अश्व (घोड़ा)।

१२. समानतन्त्रप्रत्यय—किसी साध्य विषय का साधन न रहने पर अपने तंत्र के समान किसी अन्य तंत्र में कथित विषय को उपस्थित करना। जैसे—क्षार-पाणि-संहिता के सद्वृत्त-विधान में प्रतिपादित किया गया है कि केश, नख तथा दाढ़ी आदि का कर्त्तन दश दिन पर होना चाहिए।

१३. परतन्त्र प्रत्यय—जो विषय अन्य तंत्रों में भी समान रूप से वर्णित हो। जैसे—काल शीत, उष्ण एवं वर्षा के लक्षणों वाला हैं।

१४. हेतुहेतुकधर्म—किसी विकृति का हेतु उससे सम्बद्ध किसी दूसरी विकृति का हेतु बने, वह हेतुहेतुकधर्म है। जैसे—पित्तातिसारी का पित्त और अधिक कुपित होकर रक्तातिसार का कारण बन जाता है।

१५. कार्य-कारण धर्म—कारण से कार्य अथवा कार्य से कारण उत्पन्न होता है, ऐसा निर्देश किया जाय, वहाँ कार्य-कारण धर्म है। जैसे—दोष-वैषम्य से रोग होता है, अथवा रोगोत्पत्ति से दोष-वैषम्य का ज्ञान होता है।

१६. आद्यन्तविपर्यय—किसी प्रतिज्ञा में जिसकी प्रतिज्ञा पहले की गई है, वर्णन के अवसर पर उसको पहले न कहकर बाद में कहना और जिसकी प्रतिज्ञा बाद में की गई है, उसको पहले कह देना आद्यन्तविपर्यय है। इस प्रकार के कथन को 'सूचीकटाहन्याय' से शास्त्रानुमोदित माना जाता है। जैसे—'अन्नपानविधि व्याख्यास्यामः' इनमें पहले पान का वर्णन करके अन्न का वर्णन किया गया है।

१७. शब्दान्यत्व—शास्त्रकार ने जहाँ पर्यायवाचक शब्दों का वर्णन किया हो। जैसे—ज्वर, रोग, व्याधि, आतंक, क्षय, पाप्मा, दुःख तथा आमय आदि सभी पर्याय-वाचक शब्द (अ० हृ० नि० १।१) रोग के लिए वर्णित हैं।

१८. प्रत्ययाख्यधर्म—किसी विषय का हेतु सहित वर्णन किया जाना प्रत्ययाख्य धर्म है। जैसे—(अ० हृ० उ० ४।३ में) भूतों की अनुषक्ति (आवेश) का कारण इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में किया गया प्रज्ञापराध बतलाया गया है।

१९. उपनय—प्रस्तावित सूत्रानुसार प्रकरण प्रस्तुत करना उपनय है। जैसे—विसूचिका की चिकित्सा का वर्णन करेंगे।

२०. सम्भव—प्रसङ्गातिरिक्त भी विषय प्रतिपादन संभव कहा जाता है। जैसे—भोजन बेला में आचमन करना चाहिए, इस विधान का वर्णन करना।

२१. विभव – जिस सूत्र का व्यापक विषय हो, अर्थात् सम्पूर्ण ग्रन्थ उससे व्याप्त हो, वह विभव है। जैसे—काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वाङ्ग, शल्य, अगद, रसायन तथा वाजीकरण अष्टाङ्ग आयुर्वेद के विषय से समग्र अष्टांगसंग्रह व्याप्त है।

तन्त्रयुक्ति-ताच्छील्य आदि के अध्ययन का व्यावहारिक उपयोग

प्राचीन शैली में रचे गये आयुर्वेद के ग्रन्थों को पढ़ने के लिए इनके अध्ययन की आवश्यकता है।

एकोनविंश अध्याय

विविध विषय

पदार्थ-विज्ञान के लिए आवश्यक विविध विषय जो पूर्वाध्यायों में प्रतिपादित नहीं हो पाये हैं, वे यहाँ निरूपित किये जाते हैं।

आयुर्वेद में परमेश्वर-स्मरण का विधान

आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। यह शास्त्र ही आस्तिक है। इसके प्रकाशक महर्षियों के वचन ईश्वर-सिद्धि के प्रतिपादक हैं। वे सभी महर्षि ईश्वरवादी थे। अतः उन्होंने पग-पग पर भगवत् स्मरण का विधान किया है। सर्वप्रथम आयुर्वेद में गर्भस्थापन काल में ही परमेश्वर के स्मरण का विधान है। माता-पिता के लिए महर्षियों का उपदेश है कि वे प्रथम मन्त्र पाठ द्वारा भगवान की प्रार्थना करें, तत्पश्चात् गर्भस्थापन कार्य में प्रवृत्त हों। इस सम्बन्ध में महर्षि चरक के निम्न वचन हैं—

'तत्र मन्त्रं प्रयुञ्जीत—अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठाऽसि धाता त्वा दधातु विधाता त्वा दधातु ब्रह्मवर्चसा भव इति'।

'ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीर[1] ददतु मे सुतम्॥
इत्युक्त्वा संवसेयाताम्। (च० शा० ८।८)

माता-पिता प्रथम अहिरसि से लेकर 'वीरं ददतु मे सुतम्' यहाँ तक के कहे मंत्र का पाठ कर पश्चात् स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में प्रवृत्त हों। इसी प्रकार प्रसव-बेला में भी किसी अनुकूल स्त्री द्वारा संतानोत्पति करने वाली स्त्री के कान में निम्नलिखित मन्त्र का जप किये जाने का विधान महर्षि चरक ने निर्दिष्ट किया है। इससे प्रसव काल में स्त्री को कष्ट नहीं होता है—

'क्षितर्जलं वियत् तेजो वायुर्विष्णुः[2] प्रजापतिः।
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते॥
प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने।
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम्'॥
(च० शा० ८।३९)

---

१. 'पुत्रं वीरदधातु मे' इति पाठा०। २. 'इन्द्र' इति पाठा०।

सामान्य रूप से सबके लिए सद्वृत्त का उपदेश करते हुए महर्षि चरक ने अग्नि-होम आदि द्वारा ईश्वरोपासना का विधान किया है। उन्होंने कहा है—

'नाशुचिरुत्तमाज्याक्षततिलकुशसर्षपैरग्निं जुहुयादात्मनमाशीर्भिराशासानः, अग्निर्मे नापगच्छेच्छरीराद्वायुर्मे प्राणानादधातु विष्णुर्मे बलमादधातु इन्द्रो मे वीर्यं शिवा मां प्रविशन्त्वाप आपोहिष्ठेत्यपः स्पृशेतः, द्विः परिमृज्यौष्ठौ पादौ चाभुक्ष्य मूर्धनि खानि चोपस्पृशेदङ्गिरात्मानं हृदयं शिरश्च'। (च० सू० ८।२८)

पवित्र होकर गोघृत, अक्षत, तिल, कुश तथा सर्षप द्वारा अग्नि में होम करें। कभी भी अपवित्र रहते हुए हवन न करें। आशीर्मय मन्त्रों द्वारा अपना शुभ कहें। ये मन्त्र 'अग्निर्मे नापगच्छेत्' से लेकर 'प्रविशन्त्वाप' तक हैं, इसे कहें। जिसका अर्थ है—अग्नि मेरे शरीर से न जाये। वायु मेरे प्राणों को धारण करें। विष्णु मेरे बल और इन्द्र मेरे वीर्य को धारण करें। 'शिवाः आपः मां प्रविशन्तु आपो मे शिवं दिशन्तु इत्यर्थः' (चरकोपस्कार) अर्थात् जल मेरा कल्याण करें। आपोहिष्ठेति वेद मंत्र द्वारा जल से शरीर का परिमार्जन करें। ओठ को दो बार परिमार्जित करें, पुनः पाद का परिमार्जन कर मूर्धा (शिर) 'खानि' सात छिद्र अर्थात् मुख, दो नासापुट, दो चक्षु, दो कर्ण, आत्मा, हृदय और सिर का जल से स्पर्श करें। यह तो सामान्य परमेश्वर से सबके लिए प्रार्थना है। शरीर के रुग्ण हो जाने पर चिकित्सा-व्यवस्था के संदर्भ में महर्षि चरक ने त्रिविध औषध-विधान करते हुए उसमें 'दैवव्यपाश्रय' चिकित्सा का निम्नलिखित क्षेत्र बतलाया है—

'तत्र दैवव्यपाश्रयं—मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवास-स्वस्त्ययनप्रणिपातगमनादि'। (च० सू० ११।५४)

मन्त्र, जप, औषध, मणि, मङ्गल, बल्युपहार, पूजोपहार, होम-नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, स्वस्त्ययन, प्रणिपात, 'देवादीनां शारीरो नमस्कारः' अर्थात् देवनमस्कार, 'गमनादि गमनं विदूरदेवादिगमनम्' अर्थात् दूरस्थ तीर्थादि स्थान में परिभ्रमण करने से रोग दूर होते हैं। अतः चिकित्सा के अवसर पर इन उपायों का भी आश्रयण करना चाहिए। अन्यत्र भी कहा गया है—

'अच्युतानन्दगोविन्दं नामस्मरणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं न संशयः'॥

अच्युतानन्दगोविन्द नाम-स्मरण रूप औषध से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। मुख्य-मुख्य रोगों में भी स्मरण करने का पूरा विधान है।

'युक्तोऽतिसारी स्मरतु प्रसह्य गोविन्ददामोदरमाधवेति'। (वैद्यजीवन)

अतिसार का रोगी भगवान् के गोविन्द, दामोदर एवं माधव इन नामों का स्मरण करे।

'सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।।
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ।।
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ।
गङ्गा मरुद्गणांश्चेष्ट्या[1] पूजयञ्जयति ज्वरान्' ।।

(च० चि० ३।३१०-३१३)

'सह उमयेति सोमः, तम् । सानुचरमिति नन्द्यादिगणयुक्तम् समातृगणमिति समातृसमूहम् । प्रयतः पवित्रः । सहस्रमूर्धानमिति 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि वेदप्रतिपादितम् । नामसहस्रेणेत्यादि महाभारतोक्तनामसहस्रेण' । (चक्रपाणि)

उमा, नन्द्यादि गण, मातृ समूह देव की पवित्र होकर पूजा करता हुआ विषम ज्वर से मुक्त हो जाता है । सहस्रशीर्षा, चराचरपति, सर्वव्यापक, भगवान् विष्णु नाम का सहस्र पाठ सब ज्वरों को नष्ट करता है । ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र, हुतभक्ष, हिमाचल, गंगा तथा मरुद्गण की पूजा करता हुआ ज्वर को जीत लेता है ।

वामक औषधि लेने से पूर्व निम्नस्थ मन्त्र से अभिमन्त्रित करने का विधान है—

'ब्रह्मादक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः ।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्चा पान्तु वः' ।।

(अ० सं० सू० २७।१२)

अर्थात् ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार-द्वय, रुद्र, इन्द्र, भूमि (पृथ्वी), चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, ये सब ऋषि तथा सम्पूर्ण ओषधियाँ और समस्त प्राणी तुम्हारी रक्षा करें ।

इस प्रकार पदे-पदे भगवत् स्मरण का आयुर्वेद में विधान है । भगवत् स्मरण के बिना आयुर्वेद का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता है । रसादि-निर्माण, औषधादि संग्रह तथा रोगियों को औषधि प्रदान आदि सभी अवसरों पर शास्त्रकारों ने आयुर्वेद में भगवत् स्मरण का विधान किया है । आयुर्वेद के जो ग्रंथ रचे गये हैं, उनमें भी सर्वप्रथम भगवत् स्मरण के रूप में मंगलाचरण किया गया है । महर्षि चरक ने चरकसंहिता के प्रारम्भ में 'अथ' शब्द से ग्रंथ का समारम्भ किया है । 'अथ' मंगलवाचक शब्द है । इतना ही नहीं, अपितु आयुर्वेद-प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि का नाम ही ऐसा मंगलवाचक है कि आयुर्वेद में जिसके प्रति स्मरण का विधान है, जो समस्त रोगों को अविलम्ब दूर करता है । कहा गया है—

'धन्वन्तरिः स भगवान् स्वयमेव कीर्तिः, नाम्ना नृणां पुररुजां रुजमाशु हन्ति ।
यज्ञे च भागमनृतायुमवाप रुद्ध आयोश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके' ।।

---

१. 'मरुद्गंणांश्चेष्टान्' इति पाठा० ।

अर्थात् वह भगवान् धन्वन्तरि जो स्वयं ही कीर्ति स्वरूप हैं, संसार में अवतरित होकर जिन्होंने आयुर्वेद का उपदेश किया, वह नाम मात्र से ही पीड़ित मानवों के समस्त रोगों को नष्ट करते हैं।

त्रिगुण (सत्त्व, रज एवं तम) का निरूपण

'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत'॥

(गीता १४।५-९)

'गुण' यह एक पारिभाषिक शब्द है। सत्त्व, रज और तम इस नाम के तीन गुण हैं। ये तीनों गुण शरीर में अविनाशी देहधारी पुरुष को बाँध लेते हैं। इनमें सत्त्व गुण निर्मल स्वरूप होने से प्रकाशक रोग रहित है, तथापि सुख-सङ्ग और ज्ञान-सङ्ग से आत्मा को बाँध लेता है। आत्मा सुखसम्बन्ध से रहित है, परन्तु उसे यह सुखी सा कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान आदि का सङ्ग बन्धन करने वाला होता है। अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा तृष्णा है। तृष्णा सङ्ग से उत्पन्न रजोगुण रागात्मक है। यही देह को कर्मशक्ति से बाँधता है। समस्त देहधारियों को मोहित करने वाला अर्थात् उनके अन्तःकरण में मोह अविवेक को उत्पन्न करने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। वह तमोगुण सब जीवों को प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा बाँधता है। तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्मों में और तमोगुण सत्त्वजनित ज्ञान को अपने आवरण से आच्छादित कर प्रमाद में नियुक्त करता है।

त्रिगुणों का अन्योन्याश्रयित्व

'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः'॥

(सांख्यकारिका १२)

इनमें सत्त्वगुण प्रकाशक तथा सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक तथा प्रवर्त्तक और तमोगुण नियामक एवं मोहात्मक है। इनमें प्रत्येक गुण दूसरे दो गुणों को दबाकर अपना कार्य करते हैं। इसलिए परस्पर अभिभव वृत्ति वाले होते हैं। अर्थात् गुण अपने

कार्य के लिए दूसरे दो गुणों का आश्रय लेकर कार्य करते हैं। अतः अन्योऽन्याश्रय वृत्ति है। ये तीनों गुण संसार के सभी कार्यों के जनक हैं और स्त्री-पुरुष के समान आपस में मिलकर कार्य करने वाले हैं। इसलिए इन्हें अन्योऽन्यमिथुनवृत्ति कहा गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है। (सांख्यकारिका हिन्दी टीका)

'सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः'॥

(सांख्यकारिका १३)

इनमें सत्त्व गुण लघु और प्रकाशक, रजोगुण उपष्टम्भक (प्रवर्तक) और चञ्चल तथा तमोगुण गुरु और आवरणक (प्रतिबन्धक) है। यह तीनों एक-दूसरे के विरोधी हैं, तथापि जैसे तेल, बत्ती और अग्नि परस्पर विरुद्ध होते हुए भी अन्धकार नष्ट करने के लिए परस्पर विरोध छोड़कर प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार ये भी परस्पर विरुद्ध होते हुए भी भोगोपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए एक साथ मिलकर कार्य करते हैं।

'सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः, संयोगविभागवत्वात्, लघुत्वगुरुत्वचलत्वादिधर्मकत्वाच्च। तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्पादौ च गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात्'।

(विज्ञानभिक्षु)

विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि सत्त्वादि द्रव्य है, न कि वैशेषिक मत के गुण, क्योंकि ये संयोग-विभाग युक्त हैं। गुण संयोग विभाग से रहित होते हैं। लघुत्व, गुरुत्व, चलत्वादि धर्म होने से भी सत्त्वादि द्रव्य हैं। इन्हें सांख्यशास्त्र एवं श्रुति आदि ने गुण इसलिए कहा है कि ये पुरुष के उपकरण (बन्धन) के साधन हैं।

'लघुत्वादिगुणयोगात्, सत्त्वादित्रयं द्रव्यं तत्र गुण शब्दस्तु पुरुषोपकरणत्वात्'।

(महादेव वेदान्ति कृत वृत्ति)

इनका मत है कि लघुत्वादि गुणवान् होने से सत्त्वादि तीनो द्रव्य हैं। पुरुष का उपकरण होने से उनमें गुण शब्द का प्रयोग हुआ है।

'सत्त्वरजस्तमांसि द्रव्याणि। न तु गुणाः। संयोगविभागलघुत्वचलत्वगुरुत्वादिधर्मकत्वात्। गुणशब्दप्रयोगस्तु रज्जुसाम्यात् पुरुषबन्धहेतुतयौपचारिकः'।

(स्वामी हरिप्रसाद जी कृत वैदिक वृत्ति)

इनका भी पूर्ववत् मत है कि सत्त्वादि द्रव्य है, न कि गुण। संयोग-विभागादि धर्म होने से गुण शब्द का प्रयोग औपचारिक है, क्योंकि पुरुष को बाँधने की रस्सी के समान प्रकृति रूपी रस्सी सत्त्वादिगुण की लड़ी है।

आयुर्वेद में रज और तम को मानस दोष माना गया है, क्योंकि मानसिक रोगों की उत्पत्ति उन्हीं दोषों से होती है, कहा गया है—

'वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः ।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च' ॥ (च० सू० १।५७)

वायु, पित्त तथा कफ शारीरिक दोष कहे गये हैं। मानस दोष रज और तम ही कहा गया है। एव शब्द पर 'चक्रपाणि' ने कहा है—

'एव शब्देन सत्त्वाख्यगुणस्यादोषत्वमवधारयति, सत्त्वं ह्यविकारि'।

अर्थात् एव शब्द के लिखने से 'सत्त्व' का अदोषत्व सिद्ध होता है। अतः सत्त्व गुण सर्वथा शुद्ध एवं विकार रहित है।

'रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं, ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं, मनः सदोषं बलवच्च कर्म' ॥
(च० शा० २।३८)

रज और तम के कारण मन सभी भूतों से बँधा है। तत्त्वज्ञान के बिना मन सभी दोषों से युक्त होता है। गति अर्थात् देहान्तर गमन प्रवृत्ति अर्थात् धर्माधर्म क्रिया में प्रवृत्ति का कारण दोषयुक्त मन और बलवान् कर्म ही है। तात्पर्य यह है कि संसार में गमनागमन का कारण दोषयुक्त मन का ही होता है। चरक-विमानस्थान में भी कहा गया है—'रजस्तमश्च मनसो दोषौ'।

रज तम का पारस्परिक सम्बन्ध—

'नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परं, न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते'।
(च० वि० ६।९)

रज और तम का परस्पर अनुबन्ध निश्चित है। रज रहित तम प्रवृत्त नहीं होता है।

आयुर्वेद में कारणान्तर सुश्रुतोक्त कारण षट्क

'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा ।
परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः' ॥ (सु० शा० १।१२)

पृथुदर्शी आचार्य सब का कारण भिन्न-भिन्न मानते हैं—१. स्वभाववादी लोग सबका कारण स्वभाव मानते हैं। उसका कथन है—'कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, चित्रं विचित्रं मृगपक्षिणाञ्च। माधुर्यमिक्षौ कटुतां मरीचे; स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥' काँटों की तीक्ष्णता, मृग पक्षियों की चित्र-विचित्रता, ईख में मधुरता तथा मरीच में कटुता कौन करता है ? अर्थात् ये सभी स्वभाव से होते हैं। २. ईश्वरवादी लोग ईश्वर को सबका कारण मानते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर ही पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, प्राणी, स्वर्ग और नरक सब का कारण है। ३. कालवादी काल को संसार की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण मानते हैं, तभी कोई वस्तु ग्रीष्म में होती है, कोई वर्षा में, कोई शरद में। ४. यदृच्छावादी यदृच्छा को सब का कारण मानते हैं।

बुद्धियुक्त कर्तृत्व के बिना मेघ का बरसना, भूकम्प होना इत्यादि घटना को अचानक उत्पन्न करने वाली शक्ति यदृच्छा है। वे कहते हैं—'यो यतो भवति तत्तन्निमित्तमिति यादृच्छिकाः' अर्थात् जो जिससे होते हैं, वही उसका कारण है। जैसे–तृणारणिनिमित्तो वह्निरिति अर्थात् तृण और अरणि अग्नि का कारण है। ५. नियतिवादी नियति (भाग्य) ही सब का कारण मानते हैं। जैसे—पूर्वजन्मार्जित धर्म अधर्म है। ६. परिणामवादी सब का कारण परिणाम (फल या अन्तिम परिवर्तन) ही बतलाते हैं, जैसे—महद् अहङ्कारादि रूप में परिणत् 'प्रधान' ही इन सब का कारण है।

'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः'॥
(श्वेताश्वतरोपनिषत् १।२)

यहाँ पर भी यह विचार किया गया है कि सृष्टि का कारण क्या है? क्या काल कारण है? यदि काल कारण नहीं है तो क्या स्वभाव कारण है? यदि स्वभाव भी कारण नहीं है तो क्या नियतिं कारण है? यदि नियति नहीं तो क्या यदृच्छा कारण है? यदि वे भी नहीं तो क्या पञ्चमहाभूत कारण हैं? पञ्चमहाभूत नहीं तो क्या योनि कारण कारण है? अर्थात् माता-पिता ही कारण हैं? ये भी नहीं तो क्या 'पुरुष' अर्थात् यह आत्मा कारण है? ये सब अलग-अलग नहीं तो क्या इन सबका संयोग कारण है?

सुश्रुताचार्य ने भी स्वभाव आदि भेद से उक्त षट् प्रकार के कारणों का उदाहरण दिखलाया है। जैसे अंग-प्रत्यङ्ग निवृत्ति, दाँतों का उत्पन्न होना या गिरना, तलुओं में रोम न होना एवं धातुओं के क्षीयमाण होते हुए भी नख-केश की वृद्धि आदि अर्थात् यह सभी स्वभाव से होते हैं। ईश्वर भी वह्निरूप में जीवित का कारण है, जैसे—अन्न को पचाने वाली जठराग्नि। भगवान् ईश्वर है, अग्निमूलक ही पुरुष का बल है और बल ही जीवन है। इसी प्रकार शीत-उष्ण लक्षण वाला काल ही है। आकस्मिक पदार्थों का आविर्भाव यदृच्छा है। कहा गया है कि यदृच्छा से प्राप्त 'पाक' द्वारा पाकक्रम से चिकित्सा करनी चाहिए। नियति धर्म-अधर्म है। जैसे—कुष्ठ रोग का कारण पापकर्म है। कर्मज व्याधियाँ भी धर्माधर्म निमित्त शुभाशुभ कर्म से ही होती हैं। इसी प्रकार परिणाम भी कारण है, जिसका उदाहरण स्पष्ट है। जैसे—काल के परिणाम से औषधियाँ परिणत वीर्यवाली तथा बलवती होती हैं। सम्यक् परिणत आहार का सार रस है। इसी प्रकार बच्चों की अवस्था परिणाम से शुक्र का प्रादुर्भाव होता है। इन सब उदाहरणों से परिणाम भी कारण है।

इस प्रकार आयुर्वेद में विपुलदर्शी सभी जो षट् स्वभावादि हैं, उन्हें कारण प्रतिपादित किया है, क्योंकि वे सभी स्वभावादि जगद् उत्पत्ति में कारणभूत हैं।

इन कारणों में परिणाम उपादान कारण और स्वभावादि पाँचों निमित्त कारण हैं। कहा भी है—

'तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत' ॥ (सु०शा० १।१२)

समस्त आकाशादि पञ्चमहाभूत प्रकृतिमय एवं प्रकृति गुण युक्त ही हैं और इन्हीं से इन्हीं के लक्षण युक्त समग्र स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई है।

आस्तिकता एवं नास्तिकता विचार

आस्तिक का भाव आस्तिकता और नास्तिक का भाव नास्तिकता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है—

'नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिः स्थिरा।
नास्तिकास्ते, तथास्तीति मतिर्येषां त आस्तिकाः' ॥

वेद प्रतिपादित परलोक को न मानने वाले नास्तिक और मानने वाले आस्तिक कहे जाते हैं—

'वेदप्रमाणकानीह प्रोचुर्ये दर्शनानि षट्।
न्यायवैशेषिकादीनि स्मृतास्ते आस्तिकाभिधाः' ॥

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त ये जो षट् वेदप्रमाणक दर्शन कहे गये हैं, ये आस्तिक दर्शन हैं। इनके मानने वाले आस्तिक दार्शनिक कहे जाते हैं।

'अवैदिकप्रमाणानां सिद्धान्तानां प्रदर्शकाः।
चार्वाकाद्याः षड् विधास्ते ख्याता लोकेषु नास्तिकाः' ॥

जो अवैदिक प्रमाण एवं सिद्धान्तों के प्रदर्शक चार्वाकादि हुए हैं, वे नास्तिक दर्शनकार कहे गये हैं। नास्तिक दर्शन चार्वाक, माध्यमिक, यागाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और आर्हत हैं। सारांश यह है कि आस्तिक परलोकवादी ईश्वर एवं वेद को मानने वाले कहे जाते हैं। इससे भिन्न नास्तिक हैं। यही आस्तिक होने से 'आस्तिकता' एवं नास्तिक होने से 'नास्तिकता' कही जाती है।

स्वप्नविवेक

'पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थाञ्शुभाशुभान् ॥
करणानां तु वैकल्ये तमसाभिप्रवर्द्धिते।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते' ॥ (सु० शा० ४।३५)

स्वपतः अर्थात् स्वापयुक्त शरीर का प्रभु 'क्षेत्रज' इन्द्रियों के निद्रालु होने पर भी रजोयुक्त मन द्वारा पूर्वदेहानुभूत एवं वर्तमान देहानुभूत शुभाशुभ विषयों को ग्रहण करता है। सारांश यह है कि स्वप्न मन का विषय है, जो सदा अपना कार्य करता

रहता है। मन जब रजोगुण युक्त होता है, तभी स्वप्न दिखलाई पड़ता है और जब इन्द्रियाँ आवरण स्वरूप तम से आवृत्त रहती हैं, उस समय सोया हुआ व्यक्ति कुछ भी नहीं देखता है। निर्विकार आत्मा भी तमोगुण द्वारा इन्द्रियों के आवृत्त होने पर न सोता हुआ भी प्रसुप्त कहा जाता है।

निद्रा-निरूपण

'यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः [1]क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः'॥

(च० सू० २१।३७)

जब मन थक कर और कर्मेन्द्रियाँ थक कर विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, तब मनुष्य सोता है। इस सम्बन्ध में महर्षि सुश्रुत ने कहा है--

'निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति।
सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति'॥

(सु० शा० ४।३३)

निद्रा तो 'विष्णोरियं वैष्णवी मायैव' भगवान् विष्णु की माया ही है। इसमें समग्र शुभ कर्मों के अवरुद्ध हो जाने से यह पापस्वरूप है। यह स्वभाव से ही सभी प्राणियों को अभिस्पर्श करती है। वह तामसी, स्वाभाविकी तथा वैकारिक भेद से तीन प्रकार की होती है।

१. तामसी—यद्यपि तम तो सभी प्रकार की निद्रा का कारण है, किन्तु तामसी निद्रा में तम बहुत अधिक मात्रा में होता है। जब संज्ञावह स्रोत में तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा प्राप्त होता है, उस समय तामसी निद्रा होती है। यह प्रलय काल में होती है।

२. स्वाभाविकी—इसका कोई समय नियत नहीं है। तमोगुण की अधिकता में दिन और रात्रि में, रजोगुण की अधिकता में कभी दिन कभी रात्रि में, सत्त्वगुण की अधिकता में अर्धरात्रि में निद्रा होती है। उस समय सत्त्व कुछ कम हो जाता और तम की वृद्धि हो जाती है, इसलिए अर्द्धरात्रि में सात्त्विक पुरुष सोते हैं।

३. वैकारिकी—जिनका कफ क्षीण हो जाता है, वात वृद्ध हो जाता है एवं जिनका मन और शरीर अभिताप युक्त होता है, उन्हें निद्रा नहीं ही होती है। यदि होती है, तो वह वैकारिकी नामक निद्रा होती है। पुनः कहा है—

'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत! देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥

---

१. [illegible] पाठः।

निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते ।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते ॥
(सु० शा० ४।३५)

प्राणियों का चेतनास्थान हृदय कहा गया है। उसके तमोऽभिभूत होने पर प्राणियों में निद्रा प्रविष्ट होती है, अर्थात् आती है। निद्रा का कारण तम और जागरण का कारण सत्त्व गुण कहा गया है अथवा स्वभाव ही श्रेष्ठ हेतु कहा गया है।

तन्द्रा-विचार

'इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।
निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्' ॥
(सु० शा० ४।४४)

इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का ग्रहण न होना, शरीर का भारीपन, जँभाई तथा थकावट प्रतीत होना तथा निद्रा से पीड़ित की भाँति जिसकी चेष्टा हो, उसको तन्द्रा कहना चाहिए। अर्थात् इस समय इसे तन्द्रा आ गई है।

मोह-मूर्च्छा विचार

महर्षि सुश्रुत के कथनानुसार मोह और मूर्च्छा एक ही है। अर्थात् जिसे मोह कहते हैं, उसे ही मूर्च्छा भी कहते हैं। कहा है—

'क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥
करणायतनेष्वग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥
वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च ।
षट्स्वप्येतासु पित्तं हि प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥'
(सु० उ० ४६।२)

क्षीण, बहुदोषयुक्त, विरुद्धाहारसेवी अथवा अल्पसत्त्व वाले पुरुष के वेगाघात अभिघात आदि से बढ़े हुए दोष बाह्य तथा आभ्यन्तरिक करणायतन अर्थात् बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार स्थान में अवस्थित होते हैं, तभी मनुष्य मूर्च्छित होते हैं। इसकी प्रक्रिया यह है कि वातादि दोषों द्वारा संज्ञावहन करने वाली नाड़ियों के ढँक जाने अर्थात् अवरुद्ध हो जाने पर मनुष्य सहसा सुख-दुःख नाश

करने वाले अंधकार को प्राप्त हो जाता है और सुख-दुःख के नष्ट हो जाने से काष्ठ अर्थात् लकड़ी की भाँति वह गिर जाता है। इसी को मोह और मूर्च्छा कहते हैं। वह मूर्च्छा वातादि तीन दोषों द्वारा तथा शोणित, मद्य एवं विष से इस प्रकार षट् प्रकार की होती है। सभी प्रकार की मूर्च्छा में पित्त अधिक रूप से अवस्थित रहता है।

'यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः॥
मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः।
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा॥
मदमूर्च्छाय संन्यासस्तेषां विद्याद् विचक्षणः।
यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु'॥

(च० सू० २४।२५-२७)

जब पृथक्-पृथक् तथा समस्त कुपित वातादि दोष मलिन आहारशील अर्थात् अपथ्य भोजी रजोगुण तथा मोह से आवृत्त पुरुष के रस, रक्त और संज्ञावाही स्रोतसों को अवरुद्ध कर स्थित होते हैं, तब मद, मूर्च्छा तथा संन्यास रोग उत्पन्न होते हैं।

विद्वान् वैद्य उनके हेतु, लक्षण और शान्ति में बलाधिक्य जानें। अर्थात् ये तीनों रोग यथोत्तर बलाधिक हैं। जैसे—मद से मूर्च्छा बलवान् और मूर्च्छा से संन्यास बलवान् होता है। मद और मूर्च्छा में पृथक्-पृथक् अथवा समस्त किन्तु संन्यास में समस्त दोष होते हैं। कहा गया है—

'मूर्च्छा पित्ततमः प्राया रजः पित्तानिलाद् भ्रमः।
तमोवातकफाद् तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमो भवाः'॥ (सु०शा० ४।५१)

मूर्च्छा पित्त और तम प्रायः होती है। भ्रम रजोगुण, पित्त तथा वायु में होता है। तन्द्रा तमोगुण, वायु तथा कफ प्रायः होती है एवं निद्रा कफ तथा तमोगुण से होती है।

संज्ञानाश सम्मोहक संकेत

यह मोह अथवा मूर्च्छा का पूर्वरूप है। संज्ञानाश का अर्थ ज्ञान का नाश है। मूर्च्छा की सम्प्राप्ति निर्दिष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वातादि दोषों द्वारा संज्ञावहन करने वाले स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने पर मनुष्य सहसा अंधकार को प्राप्त हो जाता है, उसे सुख तथा दुःख का ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा वह काष्ठवत् भूमि पर गिर पड़ता है। उसी को मोह तथा मूर्च्छा कहते हैं।

यहाँ जो संज्ञावहन करने वाले स्रोतसों का अवरुद्ध होना कहा गया है, उसी समय संज्ञानाश होता है। महर्षि सुश्रुत मूर्च्छा का पूर्वरूप बतलाते हैं—

'हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञानाशो बलक्षयः ।
सर्वासां पूर्वरूपाणि यथास्वमुपलक्षयेत् ॥
अपस्मारोक्तलिङ्गानि तासामुक्तानि तत्त्वतः' ।
(सु० उ० ४६।२-३)

हृदय-पीड़ा, जँभाई, ग्लानि, संज्ञानाश तथा बलक्षय ये लक्षण सभी प्रकार की मूर्च्छा में रोग होने के पूर्व होते हैं। तात्त्विक रूप से अपस्मारोक्त लक्षण होते हैं। संज्ञानाश होते ही मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है और मूर्च्छा के लक्षण अपने-अपने दोषों के अनुसार होते हैं। योगी महर्षिगण भी अपनी सारी क्रियाएँ जाग्रद् अवस्था में सम्पन करते हैं। जब सभी लोग सो जाते हैं, तब वे जागते हैं और जब सभी लोग जागते हैं, तब वे सोते हैं।

उद्बोधन

अनुभूत विषयों के अनुभवजन्य संस्कारों को जाग्रत् करना 'उद्बोधन' कहा जाता है। अर्थात् स्मृति को जगाना ही उद्बोधन का उद्देश्य होता है। स्मृति के जो कारण बतलाये गये हैं, वही उद्बोधन के भी कारण हैं।

जाग्रत् स्वरूप

सुप्तावस्था की भाँति जाग्रत् भी एक अवस्था है। 'बोधाभावः स्वापः स्वापाभावः बोध' (डल्हण)। बोध अर्थात् ज्ञान का अभाव सुप्तावस्था और सुप्तावस्था का अभाव जाग्रद् अवस्था है। तात्पर्य यह है कि जागने के ठीक विपरीत सोना और सोने के ठीक विपरीत जागना है। एक अज्ञान की अवस्था और दूसरी ज्ञान की अवस्था है। सोना अज्ञान की और जागना ज्ञान की अवस्था है। तमोगुण की वृद्धि में अज्ञान तथा सत्त्वगुण की वृद्धि से ज्ञान होता है। इस प्रकार सोना और जागना दोनों परस्पर विरोधी अवस्थाएँ हैं। जाग्रद् अवस्था ही जाग्रत् स्वरूप है। जाग्रद् अवस्था में ही मनुष्य अपने सारे कृत्यों का सम्पादन करता है और जब उसे करते-करते थक जाता है, अर्थात् मन और कर्मेन्दियाँ थकावट युक्त हो जाती हैं, तब वह सो जाता है। महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

'तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्, अतस्तस्मिन् तमसावृत्ते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति'।
(सु० शा० ४।३१)

'चेतना सहचरितं मनोऽपि विशेषेण हृदयाधिष्ठानं मतम्। अतस्तस्मिन् हृदये तमसावृत्ते तमसा तमोगुणेनोच्छ्रितेन आवृत्ते निरुद्धे सति, सर्वप्राणिनः स्वपन्ति'।
(डल्हण)

सारांश यह है कि हृदय, चेतना तथा उसके सहचारी मन का विशेष रूप से स्थान है। अधिक तमोगुण की वृद्धि होने पर उससे हृदय के आवृत हो जाने पर सब

प्राणी सोते हैं। ठीक इसके विपरीत अर्थात् सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाने पर जाग जाते हैं।

'निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं बोधने हेतुरुच्यते'।

(सु० शा० ४।३५)

अर्थात् तम निद्रा का कारण है और सत्त्व जाग्रत् का कारण कहा गया है। सुप्ति (सुप्तावस्था) अर्थात् निद्रा की अवस्था और जाग्रति (जाग्रद् अवस्था) अर्थात् जागने की अवस्था दोनों अवस्थाओं के मध्य में सत्त्व गुण ही है, जो सोते को जगा देता है। इस प्रकार सोते हुए को उठाने, जगाने अर्थात् उद्बोधन और जाग्रद् अवस्था का कारण सत्त्वगुण है। जाग्रद् अवस्था में हृदय का भी विश्राम होता है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

'जाग्रतस्तद् विकसति'। (सु० शा० ४।३२)

वह हृदय जाग्रत् अवस्था में विकसित होता है। सारांश यह है कि जाग्रत् स्वरूप मनुष्य के जागरण की अवस्था है, जिससे वह अपने समस्त आध्यात्मिक एवं सांसारिक कार्यों को सम्पन्न करता है।

ज्ञानवर्द्धक प्रकरण

'इमानि खलु तावादिह कानिचित् प्रकरणानि भिषजां ज्ञानार्थमुपदेक्ष्यामः। ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः। ज्ञात्वा हि कारणकरणकार्ययोनिकार्यकार्यफलानुबन्धदेशकालप्रवृत्त्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता यत्नेन कर्त्ता'। (च० वि० ८।६८)

महर्षि चरक ने कहा है कि वैद्यों के ज्ञान के लिए कुछ प्रकरण कह रहा हूँ, क्योंकि विद्वान् लोग ज्ञानपूर्वक आरम्भ किये हुए कर्म की प्रशंसा करते हैं। ज्ञानार्थ कहे हुए विषयों को जान कर उनके अनुसार कार्य करता हुआ अल्प प्रयत्न से ही आरम्भ किये हुए कर्म की सम्पन्नता में यथेष्ट सफलता प्राप्त करता है। वे प्रकरण निम्नलिखित हैं—

१. कारण, २. करण, ३. कार्ययोनि, ४. कार्य, ५. कार्यफल, ६. अनुबन्ध, ७. देश, ८. काल, ९. प्रवृत्ति एवं १०. उपाय।

१. कारण—'तत्र कारण नाम तद्यत्करोति, स एव हेतुः, सः कर्ता'।

(च० वि० ८।६९)

कारण वह है, जो कर्ता है वही कारण, हेतु और वही कारण ही कर्ता है।

२. करण—'करणं पुनस्तद्यदुपकरणायोपकल्पते कर्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य'।

(च० वि० ८।७०)

कार्य की सम्पन्नता में प्रयत्नमान कर्ता उपकरण रूप में जिनकी उपकल्पना करता है, वह करण कहा जाता है।

३. कार्ययोनि—'कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियामाणा कार्यत्वमापद्यते'। (च० वि० ८।७१)

कार्ययोनि वह है, जो कारण होते हुए भी विक्रियमाण होती हुई अर्थात् रूपान्तर को प्राप्त हुई है, कार्यत्व को प्राप्त हो जाती है, अर्थात् कार्यरूप हो जाती है। कार्य की योनि समवायिकारण है।

४. कार्य – 'कार्यं तु तद्यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय कर्ता प्रवर्तते'। (च० वि० ८।७२)

कार्य वह है, जिसकी सम्पन्नता हेतु कर्त्तव्यताबुद्धि को स्थिर कर कर्त्ता प्रवृत्त होता है।

५. कार्यफल—'कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते'। (च० वि० ८।७३)

कार्यफल वह है, जिस प्रयोजन हेतु कार्यनिष्पत्ति की जाती है। जैसे कुम्हार घट निर्माण रूप कार्य को सम्पन्न कर उसका फल घट के मूल्य रूप में प्राप्त करता है।

६. अनुबन्ध—'अनुबन्धः खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो भावः'। (च० वि० ८।७४)

अनुबन्ध वह है जो शुभ अथवा अशुभ भाव कर्त्ता को कार्य के उत्तर काल में अवश्य अनुबन्धित करता है। अनुबन्ध उत्तरकालीन फल है। अर्थात् कर्ता अपने किये हुए शुभ कार्य का शुभ और अशुभ कार्य का अशुभ फल अवश्य प्राप्त करता है।

७. देश—'देशस्त्वधिष्ठानम्'। (च० वि० ८।७५)

'देशास्त्वधिष्ठानमिति कार्यानुगुणोऽननुगुणो वा आधाररूपो देशः'। (चक्रपाणि)

देश अर्थात् आधार रूप अधिष्ठान देश है।

८. काल—'कालः पुनः परिणामः'। (च० वि० ८।७६)

परिणाम अर्थात्-परिणामी ऋत्वादि रूप काल है।

९. प्रवृत्ति—'प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया, कर्म यत्नः, कार्यसमारम्भश्च'। (च० वि० ८।७७)

किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए जो चेष्टा की जाती है, वही प्रवृत्ति कही जाती है। वही क्रिया, कर्म, यत्न तथा कार्य का समारम्भ भी है।

१०. उपाय—'उपायः पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक् कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां, कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्तूपायः, कृते नोपायार्थोऽस्ति, न च विद्यते तदात्वे, कृताच्चोत्तरकालं फलम्, फलाच्चानुबन्ध इति'। (च०वि० ८।७८)

उपाय कार्योत्पादक है। उपाय से ही कार्य उत्पन्न होता है। कारणादि (कारण, करण तथा कार्ययोनि) जो तीनों हैं, उनका सम्यक्तया सुष्ठुता के साथ अभिविधान कार्य उत्पादक है, अतः यह उपाय है। कार्य हो जाने पर उपाय का

कोई अर्थ नहीं रहता है। कार्योत्पत्ति के पूर्व कार्य ही नहीं है, इससे उस समय भी कार्य का उपाय नहीं है। कार्य और कार्य के उत्तर काल में उसका फल और फल से अनुबन्ध होता है, उनके लिए भी कोई उपाय नहीं है।

सारांश यह है कि किसी कार्य को करने के पूर्व उक्त दशविध द्वारा उसकी परीक्षा कर पुनः कार्य करने में प्रवृत्त हो। फलतः वैद्य को भी अपना कार्य आरम्भ करने के पूर्व उसकी पूर्णतः परीक्षा कर लेने के पश्चात् ही कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए।

त्रयोदश करण

'करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च'। (च० शा० १।५६)

मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों बुद्धीन्द्रिय तथा पाँचों कर्मेन्द्रिय ये तेरह करण हैं।

'करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यञ्च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च'॥
(सांख्यकारिका ३२)

चक्षुरादि दश बाह्येन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकार ये तेरह सांख्यशास्त्र में करण कहे जाते हैं। इनमें पाँचों कर्मेन्द्रियों का अपने-अपने विषय को आहरण (ग्रहण) करना, मन, बुद्धि तथा अहंकार (अन्तःकरण) का प्राणादि पञ्चवायुवों के द्वारा शरीर को धारण तथा ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को प्रकाशित करना कर्म (व्यापार) है।

अन्तःकरणचतुष्टयम्

'अन्तरभ्यन्तरस्थं करणं अन्तःकरणम्'।

अभ्यन्तर में स्थित ज्ञान का साधन अन्तःकरण है।

'मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरं।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी'॥ (वेदान्त)

मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त, ये चार अन्तःकरण हैं। मन का संशय, बुद्धि का निश्चय, अहंकार का गर्व तथा चित्त[1] का स्मरण विषय है। चित्त शरीर का वह अंश है, जहाँ वाह्य प्रतिक्रियाओं का जन्म-जन्मान्तर से संग्रह वासना अथवा भावना (संस्कार) के रूप में रहता है, जो कि भावों, विचारों एवं आचारों के बीज होते हैं, जिनके आधार पर स्मृति एवं विवेक क्रिया सम्पन्न होती है।

---

१. अनुभव किये विषय का जिसके द्वारा स्मरण हो, उसे चित् कहते हैं—'चिद् इव चित्तम्'। चित् (चिति) अथवा पुरुष की तरह जो प्रतीत होता है, उसे चित् कहते हैं। शुद्ध चित् में पुरुष का चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है।

'यदा तु सङ्कल्पविकल्पकृत्यं तदा भवेत्तन्मन इत्यभिख्यम्। स्याद् बुद्धिसंज्ञञ्च यदा तु वेत्ति सुनिश्चितं संशयरूपदीनम्। अनुसन्धानरूपं तच्चित्तञ्च परिकीर्तितम्। अहङ्कृत्यात्मवृत्या तु तदहङ्कारतां गतमिति'। (वाचस्पत्यम्)

जब संकल्प-विकल्प रूप कार्य करता है, तब उसकी संज्ञा मन; जब संशय से रहित निश्चित ज्ञान करता है, तो उसे बुद्धि; जब अनुसन्धान रूप कार्य करता है, तब उसे चित्त तथा जब अहंकृत या गर्व करता है, तो उसे अहंकार कहते हैं।

'अन्तःकरणं त्रिविध·····'। (सांख्यकारिका ३३)

सांख्यदर्शन मन, बुद्धि तथा अहंकार तीन अन्तःकरण मानता है। चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव कर लिया गया है।

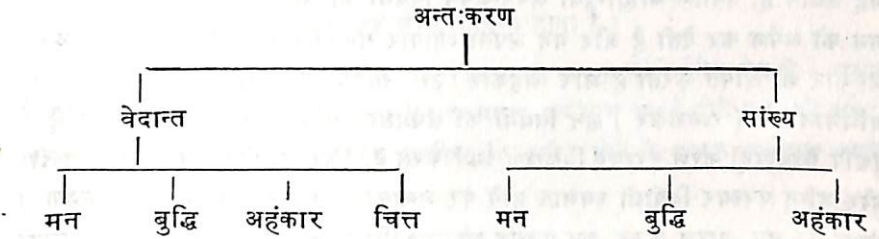

अन्तःकरणों की वृत्तियाँ

'स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्यवायवा पञ्च'॥

(सा० का० २९)

मन, बुद्धि और अहंकार ये तीनों अन्तःकरण कहलाते हैं और इनके अपने-अपने लक्षण ही इनकी वृत्तियाँ (व्यापार) हैं। जैसे बुद्धि का निश्चय करना, अहंकार का अभिमान करना और मन का संकल्प-विकल्प करना। यही इनकी असाधारण वृत्तियाँ हैं तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नामक आभ्यन्तर पञ्च वायु साधारण वृत्ति है, क्योंकि ये पाँचों वायु जीवनादि द्वारा अन्तःकरण त्रय के व्यापार बीज हैं। इस प्रकार इन तीनों मन, बुद्धि, अहंकार के दो व्यापार हैं—एक साधारण और दूसरा असाधारण। जैसे बुद्धि का असाधारण व्यापार अध्यवसाय एवं जीवन साधारण व्यापार, अहंकार का अभिमान असाधारण व्यापार एवं जीवन साधारण व्यापार तथा मन का संकल्प असाधारण एवं जीवन साधारण व्यापार है।

करणों में अन्तःकरण की प्रधानता

'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणाः गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्' ॥

(सां० का० ३५-३७)

मन और अहंकार सहित बुद्धि बाह्येन्द्रियों द्वारा अर्पित समस्त विषय (पदार्थ) का निश्चय करती है, इसलिए तीनों प्रकार के अन्तःकरण प्रधान हैं और शेष बाह्य दशविध करण अप्रधान हैं ।

बुद्धि बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा तो प्रधान है ही, किन्तु मन और अहंकार से भी वह प्रधान है, क्योंकि बाह्येन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का आलोचन करके अपने प्रधान मन को अर्पण कर देती है और मन अपना व्यापार संकल्प करके उन्हें अपने से श्रेष्ठ अहंकार को अर्पित करता है और अहंकार उस विषय को 'यह मेरे लिये है' ऐसा अभिमान कर (समझकर) उन विषयों को सर्वप्रधान बुद्धि को समर्पित कर देता है। यद्यपि ये बारहों करण परस्पर विलक्षण कार्य करते हैं, फिर भी जिस प्रकार तैल, बत्ती और अग्नि परस्पर विरोधी स्वभाव होने पर अन्धकार दूर करने में परस्पर मिलकर दीपक का रूप धारण करके घट-पटादि को प्रकाशित करते हैं, ठीक उसी तरह परस्पर विरुद्ध स्वतंत्र कार्य करने वाले उपर्युक्त द्वादश करण पुरुष को समस्त विषय (पदार्थ) प्रदर्शित करने के लिए बुद्धि को अर्पण कर देते हैं ।

अतएव इनमें सर्वप्रधान बुद्धि है, क्योंकि पुरुष के सभी विषयों के उपभोग की साधिका बुद्धि है और वही फिर प्रधान और पुरुष के सूक्ष्म (दुर्लक्ष्य) भेद को प्रकाशित करती है । अतः बुद्धि ही प्रधान है ।

अहंकार

अहं उपसर्ग कृ धातु में घञ् प्रत्यय लगने से अहंकार शब्द बनता है ।

'अहमिति ज्ञानं क्रियतेऽनेन' ।

अहं ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा होता है, वह अहंकार है । अहंकार, गर्व तथा अभिमान पर्याय है ।

'अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकारिकादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम्' ॥

(सांख्यकारिका २४-२५)

अभिमान को अहंकार कहते हैं । इससे अनेकत्व या पृथक्त्व का भान होता है ।

इसी अहंकार के कारण पानी, पत्थर, प्राणी तथा वनस्पति इत्यादि स्थावर-जङ्गमात्मक तथा मनुष्यों में अभिमान उत्पन्न हुआ। चक्षुरादि इन्द्रियों से किसी वस्तु को देखकर मन में विचार करके कि मैं इस कार्य को करने में समर्थ हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई अधिकारी नहीं है, मैं ही इसका कर्त्ता तथा भोक्ता हूँ; इस प्रकार प्राणीमात्र को अभिमान होता है।

'अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते'। (गीता ३।२७)

देहाभिमानी पुरुष अविद्यावश प्रकृति के कर्मों को अपने में मानता हुआ उन-उन कर्मों का 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मान बैठता है।

इसी अहङ्कार के सात्त्विक अंश से ग्यारह इन्द्रियाँ और तामस अंश से पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। अर्थात् एक वनस्पति, प्राणी, मनुष्य इत्यादि इन्द्रिय युक्त सेन्द्रिय तथा दूसरा निरीन्द्रिय जड़ सृष्टि उत्पन्न होता है।

यद्यपि अहंकार एक है; सात्त्विक, राजस तथा तामस उसके तीन भेद हैं। राजस अहंकार का कोई स्वतंत्र कार्य नहीं है। सत्त्वगुण, तमोगुण समर्थ होने पर भी अपनी क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। इसलिए क्रियाशील होने के कारण रजोगुण अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है।

तुलायन्त्रादि की सहायता से अनुमान विचार

तुलायन्त्रादि की सहायता से वस्तु का जो माप करते हैं, वह अनुमान के रूप होता है। ये वस्तुएँ उस अनुमान ज्ञान की सहायक होती हैं।

'तण्डुलस्य प्रस्थं, गुञ्जाद्वयं मात्रा प्रवालस्य, सार्धहस्तत्रयं वपुः' आदि व्यवहारों में प्रस्थ, गुञ्जा तथा हस्त आदि शब्दों से जो बतलाया जाता है, उसे मान कहते हैं। चक्रदत्त ने प्रस्थ, आढक तथा तुला आदि से मान करने योग्य को मान कहते हैं। तर्कसंग्रह में मान व्यवहार के कारण को परिमाण कहा गया है। अमरकोषकार ने तुला, अंगुल तथा प्रस्थ से मान कहा है।

मान के भेद तुला, अंगुल तथा प्रस्थ अर्थात् तुलामान, अंगुलमान तथा प्रस्थमान होते हैं। साधन भेद से यह मान तीन प्रकार का होता है—१. उन्मान, २. परिमाण एवं ३. प्रमाण।

१. उन्मान—तुलायन्त्र के द्वारा जो नाप-तौल की जाती है, उसे उन्मान या तुलामान कहा जाता है।

२. परिमाण—कुडव आदि परिमाण के बराबर बने हुए पात्रों से जो तौल आदि की जाती है, उसे परिमाण कहते हैं।

३. प्रमाण—अँगुली, हस्त आदि के द्वारा शरीर की लम्बाई, योजन तथा दूरी की जो माप की जाती है, उसे प्रमाण कहते हैं।

मन का अन्नमयत्व

'तस्य विकारः' पाणिनि के सूत्र के अनुसार विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है। 'अन्नस्य विकारः अन्नमयम्'। अर्थात् अन्न से निर्मित या अन्न विकार। मनसः अन्नमयत्व शब्द का अर्थ अन्न में निर्मित मन ही है। उपनिषद् में मन को अन्नमय कहा गया है—

'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसयोऽधिष्ठस्तन्मन.'। (छान्दोग्यपनिषत् ६।५।१)

'अन्नमयं हि सौम्यमन·····'। (छान्दो० ६।५।४)

जो अन्न भक्षण किया जाता है, वह भक्षण पश्चात् में तीन प्रकार से विभाजित हो जाता है। स्थूलतम अंश विष्ठा (मल), मध्यम अंश मांस तथा अतिसूक्ष्म अंश मन बन जाता है। जब दही मथा जाता है, तब उसका जो अंश ऊपर को उठ जाता है, वह मक्खन बनता है। उसी प्रकार जब अन्न को खाया जाता है, तब उसका जो सूक्ष्म अंश ऊपर को उठ आता है, वह 'मन' बनता है।

'तत् सत्त्वमूर्जयति·····'। (च० सू० २७।३)

'सत्त्वमूर्जयतीति मनोबलं करोति।' (चक्रपाणि)

अन्नपान मन को बल प्रदान करता है। इस प्रकार मन की उत्पत्ति तथा पोषण अन्न से सिद्ध होता है।

तर्क

'अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।'

(न्यायसूत्र १।१।४०)

यथार्थरूप में न जानी हुई किसी वस्तु के तत्त्व को ठीक-ठीक जानने के लिए कारण और उपपत्तिपूर्वक ऊहापोह (विचार-विमर्श) करना तर्क कहलाता है। जैसे यदि यहाँ घट होता, तो भूतल की भाँति दिखलाई देता।

अध्यायगत प्रश्नावली

अध्याय १

१. आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति लिखकर ऐतिहासिक परम्परा का दिग्दर्शन कराते हुए अष्टांग आयुर्वेद के विकास-क्रम की सप्रमाण विवेचना कीजिए।

२. जैनाचार्यों, पुराणों एवं काश्यपसंहिता के अनुसार आयुर्वेद-अवतरण का क्रम लिखिए।

३. आयुर्वेद की निरुक्ति, पर्याय तथा लक्षण लिखकर आयु का स्वरूप युक्तिपूर्वक प्रतिपादित कीजिए।

४. "आयुर्वेद एक नित्य विज्ञान है।" इस कथन को सोदाहरण सिद्ध कीजिए।

५. आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों की सोदाहरण विवेचना करते हुए उनकी अधिकाधिक अनुसन्धानपरक एवं चिकित्सकीय उपादेयता सिद्ध करें।

६. आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त 'वैज्ञानिक' हैं। इसको सिद्ध कीजिए।

७. विश्व में आयुर्वेद के प्रति जागरूकता औषधि द्रव्यों के कारण है या सिद्धान्तों के कारण। सोदाहरण विवेचना प्रस्तुत करें।

८. विश्व की अन्य चिकित्सा-पद्धति को आयुर्वेद का क्या योगदान है? सोदाहरण विवेचना कीजिए।

अध्याय २

१. अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषों का निरूपण कीजिए।

२. पदार्थ विज्ञान का प्रयोजन लिखकर उसकी चिकित्सकीय उपादेयता बतलाइए।

३. पदार्थ की निरुक्ति एवं लक्षण लिखकर पदार्थों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मतों का प्रतिपादन कीजिए।

४. पद एवं अर्थ का लक्षण लिखकर पदार्थ की परिभाषा विस्तार से लिखिए।

५. पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य लिखकर अभाव का लक्षण तथा भेद लिखिए।

६. दर्शन शब्द का अर्थ लिखकर दर्शन की संख्या एवं उनका श्रेणी विभाजन कीजिए।

७. आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन दार्शनिक पृष्ठभूमि पर हुआ है। इसको सिद्ध कीजिए।

८. आयुर्वेद के ऊपर अन्य दर्शनों का कितना प्रभाव पड़ा है, इस पर अपने विचार संक्षेप में बतलाइए।

९. टिप्पणी लिखिए—

(क) अर्थ, (ख) प्रमेय स्वरूप, (ग) प्रमाण-प्रमेय रूप पदार्थ वैशिष्ट्य तथा (घ) दर्शन का उद्भव ।

१०. 'आयुर्वेद स्वतंत्र मौलिक दर्शन है' इस कथन को सिद्ध कीजिए ।

११. आयुर्वेदीय दर्शन की मौलिक विशेषता के रूप में 'पुनर्जन्म सिद्धान्त' की विवेचना कीजिए ।

१२. षड् दर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन कीजिए ।

११. प्रमुख दर्शनों का विवेचन करते हुए इस कथन के पक्ष-विपक्ष में सन्दर्भ सहित अपना मत व्यक्त करें कि क्या आयुर्वेदीय दर्शन समस्त दर्शनों का एक व्यावहारिक समन्वित स्वरूप है ।

अध्याय ३

१. द्रव्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं लक्षण लिखकर उनका वर्गीकरण कीजिए ।

२. चेतन-अचेतन भेद से द्रव्यों का वर्गीकरण कर उनका लक्षण सोदाहरण लिखें ।

३. कारण द्रव्यों का नाम लिखकर तम का दशम द्रव्यत्व रूप में खण्डन कीजिए ।

४. आयुर्वेद की दृष्टि से द्रव्यों के व्यावहारिक अध्ययन का वर्णन कीजिए ।

अध्याय ४

१. पंचमहाभूतों का विवेचन करते हुए उनके भौतिक तथा नैसर्गिक गुणों को लिखिए ।

२. आकाश महाभूत का उत्पत्ति क्रम तथा उसका लक्षण लिखकर चरकोक्त शारीरिक आकाशात्मक भावों का उल्लेख कीजिए ।

३. वायु महाभूत की निरुक्ति, उत्पत्तिक्रम तथा लक्षण लिखकर वाय्वात्मक शारीरिक अंगों का उल्लेख कीजिए ।

४. वायु का सामान्य गुण-कर्म लिखकर इसके भेद तथा उनका स्थान एवं कार्य लिखें ।

५. तेज महाभूत का उत्पति-क्रम तथा लक्षण लिखकर शारीरिक तैजस भावों का उल्लेख कीजिए ।

६. यास्क के मतानुसार विद्युत् का निरूपण कीजिए ।

७. जल महाभूत का उत्पत्ति-क्रम तथा लक्षण लिखकर शारीरिक जलीय भावों का उल्लेख कीजिए ।

८ पृथिवी महाभूत का उत्पत्ति-क्रम तथा लक्षण लिखकर पृथिव्यात्मक शारीरिक भावों का उल्लेख कीजिए ।

९. त्रिगुण, पञ्चमहाभूत और त्रिदोष का परस्पर समन्वय लिखकर 'सर्वद्रव्यं पाञ्चभौतिकम्' इस कथन को सिद्ध कीजिए।

१०. महाभूतों का परस्परानुप्रवेश लिखकर इनके अध्ययन का आयुर्वेद में महत्त्व लिखें।

अध्याय ५

१. आत्मा का लक्षण लिखकर जीवात्मा एवं परमात्मा में अन्तर लिखिए।

२. निर्विकारः परस्वात्मा में आत्मा की निर्विकारिता से आप क्या समझते हैं? सुख, दुःख का ज्ञान किसे होता है?

३. आत्मा का देहान्तरगमन कैसे होता है? शरीर में आत्मा की स्थिति लिखिए।

४. परमात्मा का स्वरूप प्रतिपादित कीजिए।

५. लिङ्ग शरीर का निरूपण करें।

६. धातु भेद से पुरुष का प्रतिपादन करें।

७. आत्मा के लक्षण एवं उसके गुण लिखें।

८. टिप्पणी लिखें—

(क) चिकित्स्य पुरुष, (ख) आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति, (ग) शरीर से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व।

९. टिप्पणी लिखें—

(क) मन चेतन है अथवा अचेतन।

(ख) मन क्रियावान् होने पर कर्त्ता क्यों नहीं कहा जाता?

(ग) आत्मा ज्ञ है तो उसे सर्वदा ज्ञान क्यों नहीं होता?

(घ) आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है, तो उसमें क्रिया कैसे होती है?

अध्याय ६

१. मन की निरुक्ति एवं पर्याय लिखकर उसका लक्षण लिखिए।

२. मन का गुण एवं विषय लिखकर उसका कर्म लिखें।

३. मन को व्याधि का अधिष्ठान क्यों कहा गया है? इस पर अपने विचार लिखें।

४. टिप्पणी लिखें—

(क) शरीर में मन का स्थान।

(ख) मानसिक दोष।

(ग) मन को अतीन्द्रिय क्यों कहा गया है?

(घ) दोष दूषित शरीर रहने में मन कैसे कारण है?

अध्याय ७

१. काल शब्द का निरुक्ति तथा लक्षण लिखकर इसके अध्ययन की उपयोगिता लिखें।

२. आयुर्वेदानुसार काल एवं दिक् का लक्षण एवं अवान्तर भेदों को लिखकर इसका व्यावहारिक महत्त्व बतलाइए।

३. दिशा का निरूपण करते हुए उसकी उपयोगिता लिखें।

अध्याय ८

१. गुण का लक्षण लिखकर चरक एवं वैशेषिक के अनुसार गुणों की परिगणना कीजिए।

२. शब्दादि पञ्चगुणों की विशद व्याख्या कीजिए।

३. गुर्वादि गुणों का नाम-निर्देश कर इनका लक्षण एवं चिकित्सा में इनकी उपयोगिता बतलाइए।

४. आत्मगुणों का लक्षण लिखिए।

५. परादि गुणों का लक्षण लिखकर चिकित्सा में इनकी उपयोगिता बतलाइए।

६. टिप्पणी लिखें—

(क) द्वन्द्वगुण (ख) महागुण (ग) अदृष्ट (घ) पृथक्त्व एवं विभाग में भेद (च) आध्यात्मिक गुण।

७. टिप्पणी लिखें—

(क) संस्कार (ख) युक्ति (ग) स्थिर एवं कठिन में भेद (घ) स्नेह।

८. आयुर्वेद के आचार्यो ने औषधियों के गुण-धर्म का निर्धारण किस आधार पर किया था ? वर्तमान युग में उनका उपयोग आयुर्वेदज्ञ क्यों नहीं कर पा रहे हैं ?

अध्याय ९

१. कर्म का लक्षण लिखकर कर्म के दार्शनिक एवं आयुर्वेदीय भेदों की विवेचना कीजिए।

२. कर्म से आप क्या समझते हैं। चरकोक्त कर्म के लक्षण लिखकर गुण एवं कर्म में भेद लिखिए।

३. सामान्य एवं विशेष के सिद्धान्त का चिकित्सा में क्या प्रयोजन है ? सोदाहरण लिखें।

४. समवाय पदार्थ का क्या लक्षण है। संयोग से इसमें क्या भिन्नता है। सोदाहरण समझाइए।

५. सामान्य एवं विशेष की आयुर्वेदोक्त सोदाहरण परिभाषा लिखकर चिकित्सा में उनकी उपयोगिता बतलाइए।

६. सामान्य का लक्षण लिखकर इसके भेद सोदाहरण बतलाइए।

७. विशेष का लक्षण लिखकर इसके भेद सोदाहरण बतलाइए।

अध्याय १०

१. बुद्धि का लक्षण तथा भेद विस्तारपूर्वक लिखकर स्मृति का कारण लिखें।

२. प्रमाण के सन्दर्भ में परीक्षा शब्द का व्यवहार आयुर्वेद में कतिपय स्थलों पर किया गया है, इसे सोदाहरण स्पष्ट करें।

३. प्रमा, प्रमेय तथा प्रमाण का निरूपण करें।

४. चरक एवं सुश्रुत के अनुसार प्रमाणों की संख्या लिखकर विभिन्न दार्शनिकों के मतानुसार इनकी संख्या का प्रतिपादन करते हुए इनका एक दूसरे में अन्तर्भाव कीजिए।

५. टिप्पणी लिखें—

(क) भ्रान्ति (ख) स्मृति (ग) अनुभव (घ) अप्रमा।

६. प्रमाण विज्ञान के अज्ञान अथवा अल्पज्ञान के कारण जीवन के व्यावहारिक पक्ष में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं? इस पर अपने तर्क-पूर्ण विचार लिखें।

७. प्रमाण ज्ञान का महत्त्व लिखकर त्रिविध प्रमाणों में अष्टविध प्रमाणों का समावेश कीजिए।

अध्याय ११

१. आप्त पुरुष का लक्षण लिखकर आप्तोपदेश प्रमाण की विशद विवेचना कीजिए।

२. शब्द का चरकोक्त लक्षण एवं भेद लिखकर वाक्यार्थ बोधक वृत्तियाँ लिखिए।

३. आप्तोपदेश प्रमाण के सम्बन्ध में विपक्षमतावलम्बियों का विचार लिखकर आयुर्वेद में इस प्रमाण की उपयोगिता लिखिए।

४. टिप्पणी लिखिए—

(क) वाक्यार्थ ज्ञान हेतु (ख) आप्तोपदेश प्रकार (ग) आप्तोपदेश के पर्याय।

५. शब्द प्रमाण से आप क्या समझते हैं? शब्द के भेदों की उदाहरण सहित व्याख्या करें।

६. टिप्पणी लिखें—

(क) ऐतिह्य प्रमाण (ख) वाक्य का स्वरूप (ग) निघण्टु।

७. शास्त्र का गुण लिखें।

८. शक्तिग्रह का कारण लिखें।

९. अनेकार्थक पदों का अर्थावबोध कैसे होता है? सोदाहरण समझाइए।

अध्याय १२

१. प्रत्यक्ष प्रमाण के चरकोक्त लक्षणों को लिखकर इसके दर्शनाभिमत लक्षण भी लिखिए।

२. प्रत्यक्ष का अर्थ लिखकर इसके प्रमुख भेदों का वर्णन कीजिए।

३. इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष स्वरूप लिखकर इसके भेद सोदाहरण लिखें।

४. चाक्षुष प्रत्यक्षोत्पति क्रम लिखकर प्रत्यक्ष ज्ञान के बाधक कारण लिखें।

५. 'प्रत्यक्षं ह्यल्पम्' इसकी व्याख्या करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण के सहायक प्रमाण अथवा उसके होते हुए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता लिखिए।

६. प्रत्यक्ष प्रमाण की आयुर्वेद में उपयोगिता लिखें।

७. अलौकिक प्रत्यक्ष से आप क्या समझते हैं? उसे अलौकिक कहने का क्या औचित्य है। अलौकिक प्रत्यक्ष के भेदों को सोदाहरण समझाइए।

८. प्रत्यक्ष की सीमा से क्या तात्पर्य है। आधुनिक युग में यन्त्रों की सहायता से इन सीमाओं का विस्तार करने में आज का मानव कहाँ तक समर्थ हो सका है?

अध्याय १३

१. अनुमान का अर्थ लिखकर इसके चरकोक्त सभी लक्षणों को सोदाहरण लिखें।

२. न्यायोक्त अनुमान का लक्षण लिखकर इसके भेद सोदाहरण लिखें।

३. परार्थानुमान की सिद्धि पञ्चावयव वाक्य द्वारा सोदाहरण कीजिए।

४. लिङ्ग परामर्श लक्षण तथा भेद सोदाहरण लिखिए।

५. हेत्वाभास का लक्षण लिखकर इसके भेदों को संक्षिप्त रूप में लिखिए।

६. निग्रह स्थान के विषय में संक्षेप में लिखिए।

७. अनुमान का लक्षण लिखकर आयुर्वेद में इसकी उपयोगिता लिखें।

८. टिप्पणी लिखें—

(क) सद्हेतु (ख) तद्विद्यसम्भाषा परिषद् (ग) वाद-जल्प-वितण्डा।

९. टिप्पणी लिखें—

(क) अनुमिति (ख) परामर्श (ग) पक्ष (घ) विपक्ष (ङ) सपक्ष (च) व्याप्ति एवं व्याप्य।

अध्याय १४

१. उपमान का अर्थ लिखकर इसके लक्षण सोदाहरण लिखें। क्या उपमान को सादृश्यानुमान के समकक्ष माना जा सकता है?

२. उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानने और न मानने वाले आचार्यों के विचार लिखकर आयुर्वेद में इसकी उपयोगिता लिखें।

३. युक्ति प्रमाण का लक्षण लिखकर इनको सोदाहरण समझाइए। युक्ति प्रमाण के समर्थन में युक्ति दीजिए।

४. टिप्पणी लिखें—

(क) अर्थप्राप्ति, (ख) अनुपलब्धि या अभाव, (ग) इतिहास, (घ) स्वतःप्रामाण्यम् एवं परतःप्रामाण्यम्।

५. चेष्टा, सम्भव, इतिहास तथा परिशेष प्रमाण को सोदाहरण समझाइए।

६. युक्ति किसे कहते हैं? युक्ति का अनुमान में क्या स्थान है। क्या चरक ने युक्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण माना है। यदि नहीं तो क्यों नहीं माना है?

अध्याय १५

१. पञ्चमहाभूत और पञ्चतन्मात्राओं में अन्तर लिखकर सांख्यसम्मत सृष्टि-विकासक्रम बतलाइए।

२. इन्द्रिय का लक्षण क्या है? इन्द्रियाँ प्रत्यक्षगम्य क्यों नहीं? अनुमेय है तो अनुमान की आधारशिला क्या है? आयुर्वेद ने इनको भौतिक क्यों कहा?

३. चरक एकत्मवादी हैं या अनेकात्मवादी, इसकी सप्रमाण विवेचना कीजिए। चिकित्साशास्त्र में आत्मवाद का विचार क्यों अपेक्षित है?

४. चरक एवं सुश्रुत द्वारा अभिमत चतुर्विंशति एवं पञ्चविंशति तत्त्वों में पार्थक्य एवं समन्वय को स्पष्ट कीजिए।

५. चरकानुमत सर्गोत्पत्ति एवं प्रलय लिखकर पुरुष का निरूपण कीजिए।

६. सुश्रुतानुमत पुरुष का निरूपण कीजिए।

७. पुरुष ही सबका कारण क्यों कहा गया है? स्पष्ट करें।

८. अचेतन प्रकृति होते हुए भी प्रकृति के साथ पुरुष संयोग का हेतु लिखकर प्रकृति पुरुष साधर्म्य तथा वैधर्म्य लिखिए।

९. जीवात्मा परमात्मा भेद से पुरुषपञ्चक लिखकर मोक्ष का कारण लिखें।

१०. अव्यक्त एवं व्यक्त का निरूपण कीजिए।

११. इन्द्रिय का लक्षण लिखकर ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के विषय में लिखें।

१२. टिप्पणी लिखें—

(क) महाप्रलय एवं उदयप्रलय (ख) इन्द्रियों का विषय (ग) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ।

१३. टिप्पणी लिखें—

(क) वेदनाधिष्ठान (ख) राशिपुरुष (ग) पञ्चपञ्चक।

१४. आत्मा के विभु (व्यापक) होने पर पर्वतादि से छिपी वस्तुओं के न देखने का कारण स्पष्ट करें।

१५. चतुविध प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि करें।

अध्याय १६

१. कारण का लक्षण लिखकर इसके भेदों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

२. सत्कार्यवाद से आप क्या समझते हैं, स्पष्ट करें ? आयुर्वेद में इस सिद्धान्त के उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।

२. 'आरम्भवाद' तथा 'असत्कार्यवाद' के विषय में अपने विचार लिखकर 'विवर्त्तवाद' तथा 'परिणामवाद' में भेद लिखें।

३. साम्य-वैषम्य का सिद्धान्त किस दर्शन की देन है ? आयुर्वेद में साम्य-वैषम्य सिद्धान्त को सोदाहरण समझाइए।

४. स्वभावोपरमवाद से आप क्या समझते हैं ? सोदाहरण समझाइए।

५. पीलुपाक तथा पिठरपाक का क्या अर्थ है ? सोदाहरण समझाइए।

६. दर्शनाभिमत परमाणु का लक्षण लिखकर भागवतीय परमाणु लक्षण तथा परमाणु नित्यता पर विचार स्पष्ट करें।

७. टिप्पणी लिखें—

(क) अवयव-अवयवी विचार, (ख) विवर्तवाद, (ग) क्षणभंगुरवाद, (घ) कार्य।

८. टिप्पणी लिखें—

(क) आयुर्वेद में अनेकान्तवाद, (ख) अद्वैतवाद, (ग) परिणामवाद, (घ) करण।

९. सत्कार्यवाद किसे कहते हैं। सांख्यदर्शन ने सत्कार्यवाद के समर्थन में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, उन्हें सोदाहरण समझाइए।

१०. असत्कार्यवाद किसे कहते हैं। न्याय-वैशेषिक ने सत्कार्यवाद के विरुद्ध कौन से तर्क प्रस्तुत किये हैं, उन्हें स्पष्ट करें।

११. जब धातुओं का नाश स्वभाव से होता है, तब ऐसी परिस्थिति में चिकित्सक किसकी चिकित्सा करता है।

अध्याय १७

१. तन्त्रयुक्ति से आप क्या समझते हैं ? चरक, सुश्रुत तथा भट्टारहरचिन्द्र के अनुसार तन्त्रयुक्तियों का नाम-निर्देश एवं संख्या लिखकर इनका प्रयोजन लिखें।

२. किन्हीं पाँच तन्त्रयुक्तियों के लक्षण सोदाहरण लिखें।

३. टिप्पणी लिखें—

(क) अधिकरण, (ख) ऊह्य, (ग) विकल्प, (घ) उद्देय, (ङ) उद्धार, (च) संशय।

अध्याय १८

१. सप्तविधि कल्पना कौन-कौन सी हैं ? सोदाहरण समझाइए।

२. सप्तदश ताच्छील्य से आप क्या समझते हैं ? सोदाहरण लिखें।

३. एकविंशति अर्थाश्रय से आप क्या समझते हैं ? सोदाहरण समझाइए।

४. चतुर्दश तन्त्रदोष कौन-कौन से हैं ? संक्षेप में लिखें।

५. ताच्छील्य तथा तन्त्रदोष का लक्षण लिखकर चरकोक्त वाक्यदोष सोदाहरण लिखें।

६. तन्त्रयुक्ति, सप्तविधि कल्पना, अर्थाश्रय, ताच्छील्य एवं तन्त्रदोष के अध्ययन से क्या लाभ है ? समझाइए।

अध्याय १९

१. आयुर्वेद में परमेश्वर-स्मरण का विधान सोदाहरण समझाइए।

२. सत्त्व, रज एवं तम का निरूपण करें।

३. सत्त्व, रज एवं तम द्रव्य है अथवा गुण ? इस पर अपने विचार लिखें।

४. 'स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा।
परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः'॥
उपर्युक्त श्लोक की सोदाहरण व्याख्या करें।

५. निद्रा निरूपण करें।

६. आयुर्वेद में कारणान्तर सुश्रुतोक्त कारण षट्क सोदाहरण समझाइए।

७. ज्ञानवर्धक प्रकरण कौन-कौन हैं ? संक्षेप में लिखें।

८. टिप्पणी लिखें—

(क) अन्तःकरण वृत्तियाँ, (ख) आस्तिकता एवं नास्तिकता विचार, (ग) जाग्रत् स्वरूप।

९. टिप्पणी लिखें—

(क) तन्द्रा, (ख) मोह एवं मूर्च्छा, (ग) संज्ञानाश।

१०. टिप्पणी लिखें—

(क) त्रयोदशकरण (ख) अन्तःकरण चतुष्टय (ग) अहंकार।

११. टिप्पणी लिखें—

(क) करणों में अन्तःकरण की प्रधानता, (ख) मन का अन्नमयत्व, (ग) तुलायन्त्रादि के द्वारा अनुमान ज्ञान, (घ) तर्क।

आयुर्वेदाचार्य (बी० ए० एम० एस०) पाठ्य विषय

पदार्थविज्ञान

(इस विषय में दो लिखित प्रश्नपत्र १००-१०० अङ्क के तथा मौखिक परीक्षा ५० अंक की होगी ।)

प्रथम प्रश्नपत्र — १०० अंक

(भाग-क : ५० अंक)

(१) दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं पदार्थ विज्ञान—दर्शन शब्द का अर्थ तथा उसकी व्यापकता, दर्शन का उद्भव, दर्शनों की संख्या एवं उनका श्रेणी-विभजन, षड्दर्शन, अन्य भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों का परिचय, आयुर्वेद के ऊपर दर्शनों का प्रभाव, आयुर्वेद से सम्बन्धित दर्शन, आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन । आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान की उपयोगिता, पदार्थ लक्षण, पदार्थों का विभाजन एवं संख्या, भाव पदार्थ तथा अभाव पदार्थ ।

(२) द्रव्यविज्ञानीयम्—द्रव्य का लक्षण, द्रव्य की संख्या, द्रव्यों का अन्य भेद, पृथिवी के लक्षण एवं भेद, जल का लक्षण एवं भेद, तेज का लक्षण एवं भेद, वायु का लक्षण एवं भेद, आकाश का लक्षण एवं भेद, वायु एवं आकाश की सिद्धि, पञ्चमहाभूत, पञ्चमहाभूतों के लक्षण एवं गुण, महाभूतों का सत्त्वादि गुण, पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति एवं उनका परस्परानुप्रवेश । काल-निरूपण—काल शब्द की उत्पत्ति, काल शब्द की परिभाषा एवं लक्षण, काल के औपाधिक भेद, आयुर्वेद में काल का महत्त्व, दिशा निरूपण, आत्म का लक्षण, आयुर्वेद-सम्मत आत्मा के भेद—परम आत्मा अथवा परम पुरुष, अतिवाहिक पुरुष या सूक्ष्म शरीर युक्त आत्मा, राशिपुरुष, स्थूल चेतन या चेतन शरीर, चिकित्स्य पुरुष, कर्म पुरुष या संयोग पुरुष, षड्धात्वात्मक पुरुष या देहातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व, आत्मा का लक्षण, आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति, आत्मा की उत्पत्ति । मनोनिरूपण—मन का लक्षण, मन का गुण, मन का विषय एवं कर्म, मन का स्थान । तम के द्रव्यत्व का खण्डन । आयुर्वेद की दृष्टि से द्रव्यों का व्यावहारिक अध्ययन ।

(भाग-ख : ५० अंक)

(३) गुणविज्ञानीयम्—गुणों का लक्षण, गुणों की संख्या, वैशेषिक गुण, गुर्वादि सामान्य गुण, आध्यात्मिक गुण, परादि सामान्य गुण, गुणों का परिचय, वैशेषिक गुण का निरूपण, शब्द की उत्पत्ति और भेद, स्पर्श-रूप-रस-गन्ध । सामान्य गुणों के

कर्म—गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-पिच्छिल-विशद-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-द्रव-सान्द्र । आध्यात्मिक गुण—बुद्धि-इच्छा-द्वेष-सुख-दुःख-प्रयत्न । परादि सामान्य गुण—परत्वापरत्व-युक्ति-संख्या-संयोग-विभाग-पृथक्त्व-परिमाण-संस्कार एवं अभ्यास । न्यायोक्त चतुर्विंशति गुण, गुणों का साधर्म्य-वैधर्म्य, द्रव्यों में आश्रित गुण, गुण प्राधान्य निरूपण । चरकोक्त एकतालीस एवं न्यायोक्त चौबीस गुणों का समन्वय ।

(४) कर्मविज्ञानीयम्—कर्म लक्षण और भेद, लौकिक कर्म के प्रकार, न्यायोक्त कर्मभेद, आयुर्वेद की दृष्टि से कर्म का व्यावहारिक अध्ययन ।

(५) सामान्यविज्ञानीयम्—सामान्य निरूपण, सामान्य का लक्षण, आश्रय एवं भेद । आयुर्वेद की दृष्टि से सामान्य का व्यावहारिक अध्ययन ।

(६) विशेषविज्ञानीयम्—विशेष निरूपण, विशेष का लक्षण एवं भेद, प्रवृत्ति-रुभयस्य तु (सामान्य एवं विशेष दोनों की प्रवृत्ति का) विवेचन । आयुर्वेदीय दृष्टि से विशेष का व्यावहारिक अध्ययन ।

(७) समवायविज्ञानीयम्—समवाय का लक्षण, आयुर्वेदीय दृष्टि से समवाय का व्यावहारिक अध्ययन ।

(८) अभावविज्ञानीयम्—अभाव का लक्षण एवं भेद, प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव एवं अन्योन्याभाव का वर्णन ।

द्वितीय प्रश्नपत्र अंक १००

(भाग-क : ५० अंक)

(१) प्रमाण-निरूपण—प्रमाण का लक्षण, प्रमा-प्रमेय प्रमाता-प्रमाण-अप्रमा-स्मृति-भ्रान्ति का वर्णन, प्रमाण का महत्त्व, प्रमाण की संख्या, तद्विषयक मतमतान्तर, त्रिविध प्रमाणों में अष्टविध प्रमाणों का समावेश, आयुर्वेद-सम्मत् प्रमाण, आयुर्वेद शास्त्र में प्रमाण के सन्दर्भ में परीक्षा शब्द का व्यवहार ।

(२) प्रत्यक्षप्रमाण-निरूपण—प्रत्यक्ष का लक्षण, ज्ञानोत्पत्ति-प्रकार, इन्द्रियों का स्वरूप, लक्षण एवं उनका श्रेणी-विभाजन तथा संख्या का वर्णन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, उभयेन्द्रिय वर्णन, इन्द्रियों के विषय का वर्णन, इन्द्रिय का भौतिकत्व, पञ्च-पञ्चक वर्णन, इन्द्रियों की वृत्तियाँ, त्रयोदशकरण वर्णन, करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य, अन्तःकरण की वृत्तियों का वर्णन, प्रत्यक्ष के भेद, निर्विकल्प और सविकल्प वर्णन, सन्निकर्ष का स्वरूप एवं भेद, सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति, ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति एवं योगज वर्णन, आयुर्वेद में इन्द्रिय सन्निकर्ष का स्वरूप, वेदना-अधिष्ठान, वेदनानाश का हेतु, इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व पर विचार, विविध यन्त्रादि द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का विस्तार, प्रत्यक्ष होने पर अन्य प्रमाणों की आवश्यकता का वर्णन, प्रत्यक्ष ज्ञान का बाधक कारण, आयुर्वेद में प्रत्यक्षप्रमाण की उपयोगिता ।

(३) अनुमान-निरूपण—अनुमान का स्वरूप एवं लक्षण, चरकोक्त अनुमान का लक्षण एवं भेद, अनुमान के अन्य भेद एवं वर्णन, पञ्चावयव का वर्णन, लिङ्ग-परामर्श, अन्वयव्यतिरेकि एवं केवलान्वयी का वर्णन, न्यायोक्त अनुमान का भेद, हेतु का स्वरूप एवं भेद, अहेतु, सद्हेतु, हेत्वाभास, व्याप्ति-विमर्श, दृष्टान्त-स्वरूप, तर्क-स्वरूप एवं तर्क का महत्त्व, आयुर्वेद में अनुमानप्रमाण की उपयोगिता ।

(४) आप्तोपदेशप्रमाण-निरूपण—आयुर्वेद में आप्तोपदेश का प्राधान्य, उसका लक्षण एवं स्वरूप, आगम प्रमाण, शास्त्र का लक्षण, ऐतिह्य प्रमाण, निघण्टु, शब्द प्रमाण, तर्कसंग्रहानुसार शब्द का लक्षण एवं भेद, चरकोक्त शब्द का लक्षण एवं भेदों का वर्णन, शब्दार्थ बोधक वृत्तियों का वर्णन, वाक्य का स्वरूप एवं वाक्यार्थ ज्ञान में हेतु, आकांक्षा-योग्यता-सन्निधि, शक्तिग्रह एवं शक्तिग्राहक वर्णन ।

(५) युक्तिप्रमाण-निरूपण—युक्ति प्रमाण का अर्थ, स्वरूप और लक्षण, युक्ति प्रमाण का विचार, युक्ति प्रमाण का वैशिष्ट्य ।

(६) उपमान प्रमाण-निरूपण—उपमान प्रमाण निरूपण, आयुर्वेद-सम्मत उपमान का लक्षण तथा आयुर्वेद में इसकी उपयोगिता ।

(७) अन्य प्रमाण-निरूपण—अर्थापत्ति निरूपण, अनुपलब्धि या अभाव प्रमाण, सम्भव प्रमाण, चेष्टा प्रमाण, परिशेष प्रमाण एवं इतिहास प्रमाण ।

(भाग-ख : ५० अंक)

(८) कार्य-कारण एवं विविधवाद वर्णन—कारण का स्वरूप एवं भेद, समवायि कारण, असमवायि कारण तथा निमित्त कारण का वर्णन, आयुर्वेद में कार्य-कारण भाव का महत्त्व, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, परमाणुवाद, विवर्तवाद, क्षण-भंगुरवाद, पीलुपाक, पिठरपाक, अनेकान्तवाद ।

(९) सृष्टि-उत्पत्तिक्रम—सृष्टि अथवा सर्ग-निरूपण, प्रकृति, अव्यक्त, महत् तत्त्व एवं अहंकार की उत्पत्ति का वर्णन, इन्द्रियों, पञ्चतन्मात्राओं एवं पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन, तत्त्व-निरूपण एवं तत्त्व-वर्गीकरण, आयुर्वेदीय सृष्टिक्रम का वर्णन, चरकोक्त चतुर्विंशति तत्त्व वर्णन, आठ प्रकृतियाँ, षोडश विकार, क्षेत्र-भेद से साम्यता एवं अन्तर का वर्णन, प्रकृति और पुरुष में साधर्म्य-वैधर्म्य का वर्णन, प्रकृति एवं पुरुष के संयोग में कारण, त्रिगुण निरूपण, सत्त्व-रज-तम का लक्षण, त्रिगुणों का अन्योन्याश्रयित्व, पुनर्जन्म, चार प्रकार के प्रमाणों से पुनर्जन्म की सिद्धि, मोक्ष, अपुनर्भव तथा सर्ग-लय का आधुनिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन ।

(१०) तन्त्रयुक्तिविज्ञानीयम्—तन्त्रयुक्ति की परिभाषा, उपयोगिता, प्रयोजन, संख्या, तन्त्रयुक्तियों की व्याख्या, सात कल्पनाएँ, सतरह ताच्छील्य, इक्कीस अर्थाश्रय, तन्त्रगुण, चौदह तन्त्रदोष, आयुर्वेदीय दृष्टि से इन सभी का व्यावहारिक अध्ययन ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१. महर्षि चरक : चरकसंहिता, चक्रपाणि कृत 'आयुर्वेददीपिका' व्याख्या सहित ।

२. तदेव : चरकसंहिता, गंगाधर कृत 'जल्पकल्पतरु' व्याख्या सहित ।

३. तदेव : चरकसंहिता, योगीन्द्रनाथ सेन कृत 'चरकोपस्कार' व्याख्या सहित ।

४. तदेव : चरकसंहिता, काशीनाथ पाण्डेय, गोरखनाथ चतुर्वेदी कृत 'विद्योतनी' व्याख्या सहित ।

५. महर्षि सुश्रुत : सुश्रुतसंहिता, डल्हण कृत 'निबन्धसंग्रह' व्याख्या सहित ।

६. तदेव : सुश्रुतसंहिता, हाराणचन्द्र कृत 'सुश्रुतार्थसंदीपन' व्याख्या सहित ।

७. तदेव : सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, भास्कर गोविन्द घाणेकर कृत 'आयुर्वेदरहस्य-दीपिका' व्याख्या सहित ।

८. आचार्य वाग्भट : अष्टांगसंग्रह, रविदत्त त्रिपाठी कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

९. तदेव : अष्टांगहृदय, अरुणदत्त कृत 'सर्वाङ्गसुन्दरी' व्याख्या सहित ।

१०. तदेव : अष्टांगहृदय, लालचन्द्र वैद्य कृत सर्वाङ्गसुन्दरी व्याख्या सहित ।

११. सदानन्द : वेदान्तसार, श्री रामशरण त्रिपाठी कृत 'भावबोधिनी' व्याख्या सहित ।

१२. केशव मिश्र : तर्कभाषा, आचार्य विश्वेश्वर कृत 'तर्करहस्यदीपिका' व्याख्या सहित ।

१३. तदेव तर्कभाषा, आचार्य गंगाधर शास्त्री मुसलगांवकर कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

१४. अन्नम्भट्ट : तर्कसंग्रह, पदकृत्य सहित, श्री रामचन्द्र झा कृत संस्कृत व्याख्या तथा राजनारायण शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

१५. ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका, श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी कृत संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ।

१६. महर्षि वेदव्यास : श्रीमद्भागवत, श्रीधर कृत श्रीधरी व्याख्या सहित ।
१७. तदेव : श्रीमद्भागवत, हिन्दी व्याख्या, गीता प्रेस गोरखपुर ।
१८. तदेव : श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्य तथा हिन्दी व्याख्या सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर ।
१९. तदेव : श्रीमद्भगवद्गीता, बालगंगाधर तिलक कृत गीता-रहस्य व्याख्या सहित ।
२०. अमरसिंह : अमरकोश, रामाश्रमी टीका सहित ।
२१. महर्षि कश्यप : काश्यपसंहिता ।
२२. विश्वनाथ : कारिकावली ।
२३. तारानाथ : वाचस्पत्यम् ।
२४. राधाकान्त देव : शब्दकल्पद्रुप ।
२५. यास्क : निरुक्त ।
२६. वेदव्यास : ब्रह्मवैवर्त पुराण ।
२७. पतञ्जलि : योगदर्शन ।
२८. व्यास : वेदान्तदर्शन ।
२९ कणाद : वैशेषिक दर्शन ।
३०. गौतम : न्याय दर्शन ।
३१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन ।
३२. सत्यनारायण शास्त्री : पदार्थ विज्ञान ।
३३. रामरक्ष पाठक : पदार्थ विज्ञान ।
३४. रणजीतराय देसाई: आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान ।
३५. रामकृष्णशर्मा ढण्ढ: आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान ।
३६. चिंतामणि गणेश काशीकर : आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान ।
३७. बलवन्त शर्मा : आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञानम् ।
३८. सतीशचन्द चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त : भारतीय दर्शन ।
३९. निरजंन देव : आयुर्वेदोपयोगी पदार्थ विज्ञान ।
४०. वागीश्वर शुक्ल : पदार्थ विज्ञान ।
४१. श्रीनारायण विद्यार्थी : पदार्थ विज्ञान समीक्षा ।
४२. विद्याधर शुक्ल : पदार्थ विज्ञान दर्पण ।

४३. — : एकादशोपनिषत्, प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

४४. — : १०६ उपनिषदें, ज्ञानखण्ड, श्रीराम शर्मा कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

४५. — : तन्त्रयुक्ति ।

४६. विद्याधर शुक्ल एवं रविदत्तत्रिपाठी : आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय ।

४७. अयोध्या प्रसाद अचल : आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान ।

४८. शिवसागर शुक्ल : आयुर्वेदीय दर्शन व्याख्या एवं व्यवहार ।

४९. ज्योतिर्मित्र : चरक एवं सुश्रुत के दार्शनिक विषय का अध्ययन ।

५०. वाचस्पति मित्र : सांख्यतत्त्वकौमुदी, गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर कृत हिन्दी व्याख्या सहित ।

— — —

आयुर्वेद के महत्वपूर्ण प्रकाशन :

* **अष्टाङ्गहृदयम्** । हिन्दी व्याख्या विशेष वक्तव्यादि संवलित ।
  व्याख्याकार—ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
* **अष्टाङ्गसग्रह** (सूत्रस्थान) । रविदत्त त्रिपाठी
* **आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय** । विद्याधर शुक्ल एवं रविदत्त त्रिपाठी
* **चरकसंहिता** । 'चरक-चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्यादि संवलित ।
  व्याख्याकार—ब्रह्मानन्द त्रिपाठी । (1-2 भाग सम्पूर्ण)
* **चरकसंहिता** । 'वैद्यमनोरमा' हिन्दी व्याख्या विशेष वक्तव्यादि संवलित ।
  व्याख्याकार—विद्याधर शुक्ल एवं डॉ॰ रविदत्त त्रिपाठी । (1-2 भाग सम्पूर्ण)
* **चक्रदत्त** । पदार्थबोधिनी भाषा टीका । रविदत्त शास्त्री
* **(सरस) दोषधातुमल विज्ञान** । बसन्तकुमार श्रीमाल
* **पदार्थ विज्ञान-सरल अध्यन** । हीरालाल आर 'शिवहरे'
* **पदार्थ विज्ञान** । रविदत्त त्रिपाठी
* **(आयुर्वेदीय) पदार्थ विज्ञान** । विद्याधर शुक्ल
* **माधवनिदानम्** । 'मधुकोश' संस्कृत टीका । विमला-मधुधारा हिन्दी टीका सहित
  व्याख्याकार—ब्रह्मानन्द त्रिपाठी । (1-2 भाग सम्पूर्ण)
* **(सचित्र) शरीर-क्रिया विज्ञान** । पी. सी. जैन । (1-2 भाग सम्पूर्ण)
* **शार्ङ्गधरसंहिता** । हिन्दी टीका सहित । टीकाकार—ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
* **सुश्रुतसंहिता** । 'सुश्रुतविमर्शिनी' हिन्दी व्याख्या, विशेष वक्तव्यादिसंवलित ।
  व्याख्याकार—अनन्तराम शर्मा । प्राक्थन—आचार्य प्रियवर्त शर्मा (1-3 भाग सम्पूर्ण)

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली-110007

पदार्थ-विज्ञान